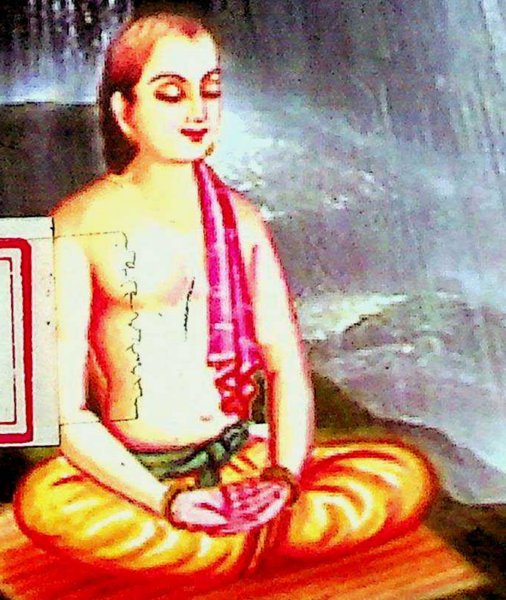
॥ओ३म्॥

वैदिक मधुवृष्टि



दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

ओ३म्

सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

ओ३म् ओ३म् ओ३म्



ओ३म् ओ३म् ओ३म्

ओ३म्

वैदिक मधुवृष्टि

[जीवनोपयोगी गवेषणापूर्ण हृदयस्पर्शी लेख]

लेखक

डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

पूर्व आचार्य, उपकुलपति एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आ

हिण्डौन सिटी (राज०)-३

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९-२३४६२४, चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती एवं प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
अमृत-महोत्सव, सन् २००६

मूल्य : ६०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **टंकारा साहित्य सदन**
आर्यसमाज,हिण्डौन सिटी, (राज०)
दूरभाष : ०७४६९-२३४९००
२. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस,
दिल्ली-११० ००६, दूरभाष : २३९५८८६४
३. **श्रेष्ठ साहित्य सदन, सैंती, चित्तौड़गढ़ (राज०)**
शाखा-पहुँना, जिला-चित्तौड़गढ (राज०)
दूरभाष : ०१४७१-२२२०६४
४. **डा० अशोक आर्य**
११६, मित्र विहार, मण्डी डबवाली, (हरियाणा)
५. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल**
२७०४, प्रेम-मणि निवास, नया बाजार,
दिल्ली-११००६, दूरभाष : ०११-५५३७९०७०
६. **श्री दयाराम पोद्दार,**
झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा,
आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ,
राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१
७. **श्री राजेन्द्र कुमार**
१८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कालोनी,
बरेली (उ०प्र०) दूरभाष : ०५८१-२५४३९४४

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर,** कैलाशनगर, दिल्ली
चलभाष : ०९२५५१-६६०२३, ०१७४५-२७४५६८ (नि०)

मुद्रक : **अजय प्रिन्टर्स,** शहादरा, दिल्ली-११००३४

ओ३म्

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमादितव्यम्।
स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करें।
—तैत्तिरीयोपनिषद् १।११

❀ प्रेमोपहार ❀

श्री...
....
.... की सेवा में

सश्रद्ध
सप्रेम भेंट

विनीत—
....
....
....

स्वस्ति

चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में परमात्मा, जीवात्मा, मन, प्राण आदि के रहस्यों का भी वर्णन है। परमात्मा और जीवात्मा को एक वृक्ष पर बैठे दो सखा पक्षियों के रूप में चित्रित किया गया है। कतिपय संवाद-सूक्त भी पाए जाते हैं, यथा अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (१.१७९), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३.३३), यम-यमी-संवाद (१०.१०), पुरुरवा-उर्वशी-संवाद (१०.९५), सरमा-पणि-संवाद (१०.१०८)। ये संवाद-सूक्त संवादात्मक शैली द्वारा विविध शिक्षाओं को देते हैं। कुछ दान-स्तुतियाँ भी मिलती हैं, जो दान के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं।

यजुर्वेद (वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेसंहिता) में ४० अध्याय तथा कुल १९७५ मन्त्र हैं। इन्हें कर्मकाण्ड में कण्डिका कहा जाता है। कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार यजुर्वेद में दर्शपौर्णमास, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणि, अश्वमेध, पितृमेध आदि यज्ञों का वर्णन है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने कर्मकाण्ड का अनुसरण न करते हुए स्वतन्त्र भाष्य किया है, जिसके अनुसार इस वेद में ईश्वर, जीव, योग, मोक्ष, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक, गृहस्थाश्रम, भौतिक विज्ञान, शिल्पविद्या, कृषि, पशुपालन, सैन्य-व्यवस्था, युद्ध, यज्ञ, शिवसंकल्प आदि विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। कर्मकाण्ड के विनियोगों को भी स्वामी दयानन्द स्वीकार करते हैं, उन्हें छोड़कर जो युक्ति-प्रमाणविरुद्ध एवं मन्त्रार्थविरुद्ध हैं। इस वेद में रुद्राध्याय (अ० १६), पुरुषमेधाध्याय (अ० ३१) एवं ईशावास्याध्याय (अ० ४०) ने अत्यन्त प्रसिद्धि पाई है। 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (२२.२२) आदि राष्ट्रीय प्रार्थना इसी वेद की देन है।

सामवेद (कौथुमसंहिता) प्रमुखतः पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक में विभक्त है। मध्य में दस मन्त्रों का एक महानाम्नी आर्चिक भी है। पूर्वार्चिक में आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान तथा आरण्य काण्ड या पर्व हैं, जिनमें क्रमशः ११४, ३५२, ११९ एवं ५५ मन्त्र हैं। सामवेद की कुल मन्त्रसंख्या १८७५ है। इस वेद में ज्ञान, कर्म और भक्ति का सुन्दर समन्वय है। पावमान काण्ड सम्पूर्ण भगवद्भक्ति द्वारा आनन्द-प्राप्ति का वर्णन करता है। सामवेद की ऋचाओं पर अनेक गान बने हैं।

अथर्ववेद में २० काण्ड तथा कुल ५९८७ मन्त्र हैं। इसमें विषयों का वैविध्य पाया जाता है। कुछ सूक्त ब्रह्मविद्याविषयक हैं, जिनमें केनसूक्त (१०.२), स्कम्भसूक्त (१०.७), ज्येष्ठब्रह्मसूक्त (१०.८), उच्छिष्टसूक्त (११.७) प्रमुख हैं। अत्यन्त चारुता के साथ ब्रह्मविद्या के रहस्यों का वर्णन करने के कारण इस वेद का दूसरा नाम ब्रह्मवेद भी है। अध्यात्म-विषयक प्राणसूक्त (११.४) एवं यन्मन्युसूक्त (११.८) भी प्रसिद्ध हैं। कुछ सूक्त ब्रह्मचर्याश्रम-विषयक हैं, जिनमें ब्रह्मचर्यसूक्त (११.५), मेखलासूक्त (६.३३), मेधासूक्त (६.१०८), श्रद्धा-मेधा-सूक्त (१९.६४) उल्लेखनीय हैं। गृहस्थ के विषय में कुलपाकन्या-सूक्त (१.१४), पतिवेदन-सूक्त (२.३६), शाला-सूक्त (३.१२) एवं चतुर्दश काण्ड के विवाह-सम्बन्धी दोनों सूक्त द्रष्टव्य हैं। १५वें काण्ड के व्रात्य-सूक्तों में वानप्रस्थ एवं संन्यास का दिग्दर्शन मिलता है। अथर्ववेद में आयुर्वेद का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, जिसमें अपामार्ग, पिप्पली, रोहिणी, पृश्निपर्णी आदि ओषधियों

का वर्णन, उन्मत्तता, कास, कुष्ठ, ज्वर, क्लीबत्व, गण्डमाला, हृद्रोग, कामला आदि रोगों की चिकित्सा, सर्पविष आदि विषों का दूरीकरण, आयुष्यवर्धन आदि आ जाते हैं। रोगकृमि-विनाश के भी कई सूक्त हैं। राजा के निर्वाचन, राज्याभिषेक, राजनीति, राष्ट्रसमृद्धि, शत्रुविजय आदि का भी विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अभय, अभ्युदय, सांमनस्य, यश, वर्चस्व, स्वस्ति, पापनाशन आदि की सजीव प्रार्थनाएँ भी हैं। मणिधारण, पशुपालन, ब्रह्मक्षत्र, कृषि, वाणिज्य आदि के विषय भी वर्णित हुए हैं।

इस प्रकार चारों वेदों के कुल २०३८९ मन्त्रों में अनन्त ज्ञानराशि का भण्डार भरा हुआ है। वेदों का स्वाध्याय एवं अध्यापन करते हुए समय-समय पर मेरा ध्यान कुछ विषयों की ओर आकृष्ट होता रहा तथा उनसे स्वयं चमत्कृत होकर यह इच्छा होती रही कि इन वैदिक विचारों को लेखों के माध्यम से वेद-प्रेमी जनता तक भी पहुँचाऊँ। इस विचार से प्रेरित होकर मैं आर्य पत्र-पत्रिकाओं में वैदिक विषयों पर कभी-कभी लेख लिखता रहा, जो आर्य जनता द्वारा चाव से पढ़े जाते रहे। इधर मेरी कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं, जिन्हें विद्वद्वर्ग एवं आर्य-जनों का प्रचुर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। मेरे वेदप्रेमी पाठकों की ओर से यह माँग प्राय: आती रही कि मैं समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं के छपे अपने लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करा दूँ। मुझे भी उनका यह विचार रुचिकर प्रतीत हुआ। वैदिक-साहित्य-सम्बन्धी मेरे प्रकाशित लेख कई प्रकार के हैं। कुछ मन्त्रव्याख्यात्मक हैं, कुछ किन्हीं वैदिक विषयों पर विचारात्मक हैं, कुछ सूक्तिसंकलनात्मक हैं, कुछ तरंगात्मक हैं, कुछ उपनिषदों की कथाओं पर हैं। मेरे १५ वैदिक लेखों का एक छोटा-सा संकलन सन् १९८० में 'दयानन्द संस्थान' से महात्मा श्री वेदभिक्षुजी ने 'प्रार्थनापुष्पाञ्जलि' नाम से 'जनज्ञान' के विशेषांक रूप में प्रकाशित किया था, जो यद्यपि कम पाठकों तक पहुँच पाया, तो भी विशेष प्रेरणादायी सिद्ध हुआ।

अब मैंने अपने विचारात्मक एवं तरंगात्मक वैदिक लेखों का संग्रह किया तो देखा कि उनसे दो ग्रन्थ तैयार हो गए। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं में से एक है। इसके कुछ लेख पहले गुरुकुल-पत्रिका, वेदवाणी, आर्यमित्र, आर्यमर्यादा, परोपकारी, जनज्ञान, वेदसविता, आर्यजगत्, आर्यसन्देश, वैदिक विज्ञान, वैश्वानर आदि के अंकों में छप चुके हैं। दयानन्द-संस्थान द्वारा प्रकाशित 'प्रार्थनापुष्पाञ्जलि' के लेख भी ले लिये गए हैं। कुछ लेख सर्वथा नवीन हैं। दूसरे ग्रन्थ 'आर्ष ज्योति' में अपेक्षाकृत बड़े निबन्ध रखे गए हैं, जिनमें कुछ महर्षि दयानन्द की वेदव्याख्या-विषयक हैं और कुछ 'वेद के अनेक देवों में एक ईश्वर की झाँकी', 'वेदार्थ के ऐतिहासिक पक्ष पर चर्चा', 'वेदों में पुनरुक्ति की समस्या', 'मांसभक्षण के पक्ष में दिये जानेवाले कतिपय वेदमन्त्रों पर विचार' आदि विषयों पर हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'वैदिक मधुवृष्टि' रखा गया है। वेद में अध्यात्म-चिन्तन, कर्तव्योपदेश, प्रकृतिविषयक ज्ञान आदि विभिन्न विषयों का मधु भरा हुआ है। उसी मधु को वेद-पिपासु पाठकों के लिए बरसाने का इस ग्रन्थ में प्रयास है। पाठक प्रत्येक निबन्ध में वेद के किसी विशिष्ट मधु का आस्वादन कर सकेंगे।

इस पुस्तक में छोटे-बड़े ३२ निबन्ध हैं, जिनमें लगभग ३५० वेदमन्त्र तथा बहुत-से मन्त्र-खण्ड आ गए हैं। प्रवाह को बनाए रखने की दृष्टि से, साथ-साथ मन्त्रों के पदार्थ प्रायः नहीं दिए गए हैं, परन्तु प्रत्येक निबन्ध के अन्त में पदार्थ दर्शा दिए गए हैं, जिससे जो पाठक पदार्थ-बोध करना चाहें कर सकें। निबन्ध परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव, उपासना, आशावादिता, माधुर्य, पापमोचन, मानव-शरीर के महत्त्व, आचार्य-शिष्य, आश्रम-व्यवस्था, विश्वबन्धुत्व, राष्ट्रोन्नति में राजा-प्रजा के उत्तरदायित्व, शिक्षाशास्त्र, भक्ति एवं कर्म, यज्ञचिकित्सा, योगसिद्धि, वैदिक काव्यालंकार, अर्थव्यवस्था, मानवता, प्राणदायिनी वर्षा आदि कई विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। उन-उन विषयों से सम्बद्ध भावनाएँ उनमें पूर्णतः व्यक्त हो सकें, इसका प्रयास किया गया है। निबन्धों में जो उदात्त भावनाएँ, जो आदर्श, जो प्रेरणाएँ, जो मर्यादाएँ, जो जीवन-सूत्र प्रदर्शित हैं उनका आकलन पढ़कर ही किया जा सकता है। पुस्तक के अन्त में अकारादि के अनुक्रम से मन्त्रानुक्रमणिका दे दी गई है।

विविध पत्र-पत्रिकाओं से मेरे लेखों का संग्रह करने में मेरे पुत्र डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार ने विशेष श्रम किया है। आयुष्मती किरणमयी ने कई लेखों की प्रतिलिपि करके सहयोग दिया है। इन्हें वेदमाता का आशीर्वाद प्राप्त हो।

प्रथम संस्करण का प्रकाशन 'गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली' के अध्यक्ष श्री विजयकुमारजी ने सन् १९९१ में किया था। उसके लिए उक्त प्रकाशन का आभारी हूँ। अब द्वितीय संस्करण का प्रकाशन श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धमार्थ न्याय, हिण्डौन सिटी (राजस्थान) के मन्त्री श्री प्रभाकरदेव आर्य ने ध्यानपूर्वक किया है, तदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

—रामनाथ वेदालङ्कार

गायत्री-गान

वैसे तो सभी वेदमन्त्र अनूठी भावगरिमा से भरे हुए हैं, परन्तु गायत्री मन्त्र भारतीय जनमानस में महामन्त्र के रूप में आदृत हुआ है। मनु ने इसकी महिमा के विषय में लिखा है कि परमेष्ठी प्रजापति ने तीनों वेदों से इसके एक-एक पाद को दुहा है। उन्होंने इसका जप ओंकारपूर्वक तथा भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों-सहित करने का विधान किया है और यह लिखा है कि जो वेदज्ञ विप्र दोनों संध्याकालों में इस मन्त्र का जप करता है उसे वेद पढ़ने का पुण्य प्राप्त हो जाता है।[१] यह भी कहा है कि जो द्विज उक्त विधि से एक हजार बार जप करता है, वह महीने-भर में बड़े-से-बड़े पाप से छूट जाता है जैसे, साँप केंचुली से।[२] मनु यह भी लिखते हैं वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[३]

ओ३म् तथा व्याहृतियों-सहित लिखने पर प्रचलित गायत्री मन्त्र का यह रूप होता है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः।
तत् सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥[४]

—ऋ० ३.६२.१०; यजु० ३.३५, २२.९, ३०.२, ३६.३;
साम० १४६२

इस गायत्री के तीन नाम प्रसिद्ध हैं—गायत्री ऋचा, सावित्री ऋचा और गुरु मन्त्र। गायत्री नाम का प्रथम कारण इसका गायत्री छन्द में निबद्ध होना है। जिस छन्द में तीन पाद होते हैं तथा प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं उसे गायत्री छन्द कहते हैं। यदि किसी पाद में एक अक्षर कम हो अर्थात् ८ अक्षरों के स्थान पर ७ अक्षर हों तो वह छन्द निचृद्गायत्री कहलाता है। प्रस्तुत गायत्री भी निचृद्गायत्री है, यतः इसके प्रथम पाद में ७ ही अक्षर हैं। गायत्री छन्द वाले यद्यपि अन्य भी अनेक मन्त्र हैं तथापि गायत्री छन्द वाले मन्त्रों में अपनी विशेष अर्थगर्भता के कारण प्रस्तुत मन्त्र गायत्री कहा जाने लगा। गायत्री नाम का दूसरा कारण इसका गानार्थक 'गै' धातु से निष्पन्न होना है। इसके द्वारा भक्त भगवान् के तेज की प्राप्ति का गान करता है, अतः इसका नाम गायत्री है। उक्त ऋचा का नाम सावित्री इस कारण है, क्योंकि इसका देवता सविता है, अर्थात् ऋचा सविता-विषयक है या सविता के तेज की इसमें प्रार्थना है। इसे गुरुमन्त्र इस कारण कहते हैं, क्योंकि वेदारम्भ संस्कार में गुरु इस मन्त्र के द्वारा ही ज्ञान की प्रथम दीक्षा देता है।

अब विचारणीय यह है कि यदि, जैसा मनु ने कहा है, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इन तीनों वेदों से इस गायत्री ऋचा का एक-एक पाद दुहा गया है, तो

ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक पाद स्वयं में पूर्ण अर्थवाला हो। ऐसा नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक पाद को अलग-अलग पूर्ण अर्थवाला न मानकर दूसरे पादों से शब्दों को लेकर अन्वय करें। प्रचलित अर्थ-प्रक्रिया यह है—**(वयम्) सवितुः देवस्य तत् वरेण्यं भर्गः धीमहि, यः नः धियः प्रचोदयात्।** परन्तु इसमें प्रत्येक पाद का स्वतन्त्र अर्थ नहीं रहता, अतः आगे हम इस मन्त्र की ऐसी व्याख्या उपस्थित कर रहे हैं, जिसमें प्रत्येक पाद स्वतन्त्र रहता है।

मन्त्र का देवता 'सविता' है। सविता प्रकृति में सूर्य का नाम है। सूर्य के समान जो परम प्रकाशमान तथा प्रकाश का स्रोत है, वह परमेश्वर सविता है। सविता प्रभु स्वयं ही प्रकाशमान नहीं है, किन्तु सूर्यसम प्रकाशक होकर वह हम मानवों के हृदय में भी अपने उस प्रकाश को प्रेरित करनेवाला है। सविता का अर्थ प्रेरक होता है, प्रेरणार्थक 'षू' धातु से यह शब्द बना है।

अब हम मन्त्र के भाव पर आते हैं।[४] मन्त्र के तीन भाग किए जा सकते हैं। तीन ही उसके चरण हैं, एक-एक चरण में एक-एक भाग आ जाता है। पहला भाग है—"**तत् सवितुर्वरेण्यम्।**" भक्त अपने भगवान् सविता के तेज और प्रकाश पर मुग्ध होकर कहता है—अहा! देखो, सविता प्रभु की ज्योति कैसी वरणीय है! जो एक बार इसकी झाँकी पा ले, वह इसपर लट्टू होकर आनन्द से नाचने लगे। जो एक बार इसके दर्शन कर ले, फिर वह इसे पाने के लिए लालायित हो उठे। सचमुच सविता की ज्योति ऐसी ही उज्ज्वल है। उपनिषत्कार उसकी महिमा का गान करते हुए कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—कठ उप० ५.१५

अर्थात् ऐसी दिव्य उसकी ज्योति है कि उसके आगे सूर्य-चाँद-तारे सब फीके पड़ जाते हैं। बिजली की चमक उसके आगे कुछ नहीं, अग्नि की तो बात ही क्या! उसी ज्योति के पुञ्ज में से थोड़ी-सी ज्योति लेकर ये सब चमक रहे हैं।

तो उस ज्योति के लिए इस गायत्री मन्त्र में भक्त कह रहा है कि उस सविता की ज्योति बड़ी स्पृहणीय है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि जब कोई व्यक्ति कोई अद्भुत वस्तु देखता है या उसके विषय में सुनता है, तब एकदम उसके मुख से उस वस्तु की स्तुति निकल पड़ती है। वैसे ही उपासक भगवान् की दिव्य ज्योति को देखकर उसकी स्तुति कर रहा है कि उस सविता की ज्योति वरणीय है अर्थात् ऐसी है कि उसे देखकर हर कोई चाहेगा कि यह ज्योति मुझे भी मिल जाए।

स्तुति के बाद प्रार्थना की बारी आती है। मनुष्य जिसकी स्तुति करता है

उसे फिर अपने लिए माँगता है। इसलिए सविता के प्रकाश की स्तुति के उपरान्त भक्त कह उठता है—'**भर्गो देवस्य धीमहि**'। सविता के जिस प्रकाश की ऐसी स्तुति है हम चाहते हैं कि वह स्पृहणीय प्रकाश हमारे अन्दर भी स्थित हो जाए; उसके दिव्य आलोक से हमारा हृदय भी जगमगा उठे।

मन्त्र का तीसरा भाग है—'**धियो यो नः प्रचोदयात्**'। सविता के प्रकाश को हम अपने अन्दर क्यों धारण करना चाहते हैं? इसलिए कि यह आकर हमारी बुद्धि को प्रेरित कर देवे। मानो हमारी बुद्धि प्रसुप्त पड़ी है, सविता प्रभु का प्रकाश उसे आकर जगा देगा और क्रिया में प्रेरित कर देगा, जैसे कि सविता सूर्य का प्रकाश प्रात:काल आकर सोये हुए प्राणियों को जगा देता है और कर्मों में प्रवृत्त कर देता है। हमारे हृदयों में प्रकाशक व प्रेरक सविता का उदय हो जाने पर हमारी बुद्धि के आगे एक उजाला खिल उठेगा, जिस उजाले में वह गहन-से-गहन विषयों का विवेचन कर सकेगी। हमारे आगे से अज्ञान का अँधेरा मिट जाएगा और ज्ञान-प्रकाश से हमारा अन्त:करण आलोकित हो उठेगा। जैसे निष्क्रिय पड़ी किसी मशीन को कारीगर आकर प्रेरणा दे देता है, फिर वह चल पड़ती है और नयी-नयी वस्तुएँ उस मशीन से बनकर निकलने लगती हैं, वैसे ही निष्क्रिय-सी बनी हुई हमारी बुद्धि नवीन-नवीन कल्पनाओं और नवीन-नवीन विज्ञानों की सृष्टि करने में समर्थ हो सकेगी। सविता के प्रकाश की किरण को पाकर हमारी बुद्धि कुण्ठित व किंकर्तव्य-विमूढ़ नहीं रहेगी, अपितु कुशाग्र तथा विवेक की ज्योति से आभासित व स्फुरित हो उठेगी। वैदिक कोष निघण्टु के अनुसार धी शब्द प्रज्ञा और कर्म[१] दोनों का वाची है। सविता प्रभु के द्वारा प्रदत्त अन्त:प्रकाश से हमारी बुद्धियाँ और क्रियाएँ दोनों ही लक्ष्य की ओर प्रेरित हो सकेंगी।

यह इस गायत्री मन्त्र का भाव है। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि इस मन्त्र को इतना अधिक गौरवास्पद स्थान क्यों प्राप्त हुआ है और क्यों यह समस्त आर्य जाति का मूलमन्त्र बना हुआ है। 'यह है बुद्धि और ऊर्ध्वगति की स्फुरणा का गीत'। हमने अपने मूल मन्त्र में बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट भोजन नहीं माँगे, असीम धन-दौलत नहीं माँगी, स्त्री-पुत्र-परिजन नहीं माँगे, माँगी है 'दिव्य प्रकाश से जगमगाती हुई बुद्धि और दिव्यक्रिया'। नि:संदेह वेदमन्त्रों में ऐसी प्रार्थनाएँ हैं कि हमें उत्तमोत्तम भोजन मिलें, भरपूर ऐश्वर्य मिलें, सौ वर्ष की आयु मिले, स्त्री-पुत्र-परिजन मिलें, परन्तु अपने मूलमन्त्र में हमने इन्हें नहीं माँगा है। हमारी मूल माँग है बुद्धि और क्रियाशीलता की। बुद्धि का झरना हमारे अन्दर झर पड़े तो बुद्धि के बल से तथा क्रियाशीलता से अन्य सब ऐश्वर्यों को हम सहज में ही उपलब्ध कर सकते हैं। बुद्धि स्फूर्त हो गई, सक्रियता, ऊर्ध्वगति एवं लक्ष्य की ओर प्रसरण आ गया तो मानो सब-कुछ मिल गया।

निरुक्त में एक प्रसंग आता है कि जब ऋषि पैदा होने बन्द हो गए तब मनुष्य देवों से बोले—अब कौन हमारा ऋषि होगा, जो हमें मार्ग दर्शाएगा? तब देवों ने उन्हें कहा कि 'तर्क' को ही तुम अपना ऋषि समझो। अर्थात् जिस विषय में तुम्हें संशय उपस्थित हो उसे बुद्धि की कसौटी पर कसकर देख लो। बुद्धि तुम्हारे लिए ऋषि का काम करेगी, किन्तु यदि बुद्धि कुण्ठित हो या अर्ध-

निद्रित-सी पड़ी रहने-वाली हो, तब वह ऋषि का काम नहीं कर सकती। इसीलिए इस गायत्री मन्त्र में मनुष्य प्रार्थना कर रहा है कि सविता अपने प्रकाश से हमारी बुद्धियों को प्रकाशित, तीक्ष्ण, सजग व क्रिया में प्रवृत्त कर देवे, जिससे हम पुरुषार्थी होकर सन्मार्ग पर अग्रसर हो जाएँ।

अब इस गायत्री ऋचा के आरम्भ में जो '**ओ३म् भूर्भुवः स्वः**' लगाया गया है, उसका आशय भी देख लेना चाहिए। ओ३म् परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है जो 'अ, उ, म्' के योग से बना है। 'अ' से सृष्टि की उत्पत्ति, 'उ' से उत्पन्न सृष्टि का धारण तथा 'म्' से उत्पादित तथा धारित सृष्टि का अन्त में समय आने पर संहार सूचित होता है, अतः सृष्टि का उत्पादक, धारक एवं संहारक प्रभु 'ओ३म्' है। 'अ, उ, म्' के सम्बन्ध में भी मनु का कथन है कि ये वेदत्रयी से दुहे गए हैं[६], अतः ओ३म् तीनों वेदों का सार है। भूः, भुवः, स्वः से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ लोक सूचित होते हैं। जैसे सविता सूर्य अपनी किरणों से तीनों लोकों में पहुँचा हुआ है, वैसे ही ओंकारपदवाच्य परमेश्वर भी तीनों लोकों में व्यापक है। इस प्रकार प्रथम परमेश्वर के सृष्ट्युत्पति-स्थिति-संहारकर्ता के रूप को तथा उसके पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ लोक में व्यापक होने के रूप को साक्षात्कार करने के उपरान्त ही भक्त गायत्री ऋचा के गान में प्रवृत्त होता है। भूः, भुवः, स्वः से परमेश्वर की सच्चिदानन्दस्वरूपता भी हृदयंगम होती है। उपासक प्रभु के दिव्य तेज को तीनों लोकों में सर्वत्र फैला हुआ देखकर कहता है कि यह तो सबके लिए बड़ा ही वरणीय है, ग्राह्य है। फिर दूसरे चरण में कहता है कि मैं चाहता हूँ यह तेज मुझे भी मिल जाए, मेरे अन्दर स्थित हो जाए। फिर तीसरे चरण में कहता है कि वह सविता प्रभु अपने तेज से मेरी बुद्धि एवं मेरे कर्म को आलोकित कर दे, दिव्यता की ओर प्रेरित कर दे।

पाद टिप्पणियाँ—

१. एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ —मनु० २.७७

२. सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ —वही, श्लोक ७८

३. योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ —वही, श्लोक ८२

४. (सवितुः) सविता देव का (तत्) वह प्रकाश (वरेण्यम्) वरणीय है, चाहने योग्य है। (देवस्य) सविता देव के (भर्गः) उस प्रकाश को (धीमहि) हम धारण कर लेवें। (यः) जो सविता देव अपने प्रकाश से (नः धियः) हमारी बुद्धियों व कर्मों को (प्रचोदयात्) प्रेरित कर देवे, स्फुरित कर देवे।

५. धीः=कर्म (निघं० २.१), प्रज्ञा (निघं० ३.९)।

६. अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ मनु० २.७६

उपासना का आनन्द

[1]उप त्वाग्ने दिवे दिवे, दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ —ऋ० १.१.७

ऋग्वेद के इस मन्त्र में भक्तजन भगवान् के प्रति हृदयोद्‌गार प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि हे प्रभो, हम प्रतिदिन सायं-प्रातः आपकी उपासना करते हैं। 'उपासना' का अर्थ है समीप बैठना (उप—समीप, आसना—बैठना)। एवं प्रभु की उपासना का अर्थ हुआ प्रभु के समीप बैठना। हम सभी मनुष्य कभी न कभी प्रभु के समीप बैठने की स्थिति में होते हैं। प्रयत्न से ऐसी स्थिति भी लायी जा सकती है कि हम जब चाहें तब प्रभु सदा ही हमारे समीप बैठ जाएँ। मैं यहाँ दार्शनिक भाषा नहीं बोल रहा। दार्शनिक दृष्टि से तो प्रभु सदा ही हमारे समीप है और हम उसके समीप हैं, क्योंकि वह सर्वव्यापक है। परन्तु यदि हम उसके सान्निध्य का अनुभव नहीं करते तो समीप होता हुआ भी हमसे दूर है। इसीलिए तो उपनिषद् के ऋषि ने गाया है—'तद् दूरे तदु अन्तिके', वह दूर भी है और समीप भी है।

विद्वान् लोग कहा करते हैं कि उपासना योग की समाधि-अवस्था में होती है, और वे ठीक ही कहते हैं, परन्तु मैं उनकी बात का खण्डन न करता हुआ भी सर्व-साधारण ये यह कहना चाहता हूँ कि उपासना को योगियों के लिए ही सीमित न समझिए। आप और मैं सभी उपासना का आनन्द ले सकते हैं, भले ही हम योग-समाधि की उच्च स्थिति तक न पहुँचे हों।

हम सब प्रतिदिन प्रातः-सायं सन्ध्योपासना करते हैं, प्रभु के साथ मिलने का प्रयत्न करते हैं। सर्वप्रथम गायत्री मन्त्र द्वारा शिखा बाँधते हुए प्रभु से मिलने की भावना को अपने अन्दर दृढ़ करते हैं। फिर आचमन द्वारा हृदय को पवित्र करते हैं। फिर जल से अंगस्पर्श करते हुए एक-एक इन्द्रिय को निमन्त्रण देते हैं कि प्रभु-मिलन में तुम सहायक होना, बाधक नहीं। फिर मार्जन-मन्त्र से सिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय आदि सब अवयवों के दोषों को बुहारकर साफ कर देते हैं। फिर प्राणायाम द्वारा बुहारे हुए दोषों को जलाकर पवित्रता सम्पादन करते हैं। फिर अघमर्षण-मन्त्रों से यह भावना जागृत करते हैं कि प्रभु के पदार्पण के लिए स्वच्छ किए हुए हमारे इस देव-मन्दिर में यदि कोई पाप डेरा डालने आएगा तो उसका हम डटकर मुकाबला करेंगे। फिर मनसा-परिक्रमा द्वारा सब दिशाओं की परिक्रमा कर हम देखते हैं कि कहीं कोई शत्रु हमें अपवित्र करने के लिए तथा प्रभु मिलन में बाधक होने के लिए घात लगाए तो नहीं बैठा है। यदि कोई ऐसा पाप-शत्रु दीखता है तो उसे हम उस दिशा के अधिपतियों, रक्षकों और इषुओं के शिकंजे में कसकर चकनाचूर कर देते हैं। इस प्रकार सर्वात्मना अपने-आपको प्रभु-मिलन के लिए तैयार कर उपस्थान-मन्त्रों से हम प्रभु के सान्निध्य

का अनुभव करते हैं। आनन्द-विभोर हो हम पुकार उठते हैं—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ —यजु० ३६.२४

अहा! यह सूर्यसम प्रकाशक प्रभु मेरे अन्दर उदित हो गया है। मैं वैसे ही उसकी समीपता का अनुभव कर रहा हूँ जैसे कोई सामने-स्थित वस्तु की समीपता का अनुभव करता है। इस ज्योति के प्रति मैं मुग्ध हूँ। इसके प्रकाश में मैं सौ वर्षों तक देखता रहूँ, सौ वर्षों तक जीवित रहूँ, सौ वर्षों तक सुनता रहूँ, सौ वर्षों तक प्रवचन करता रहूँ, सौ वर्षों तक अदीन बना रहूँ। सौ ही क्यों, सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवन की सब क्रियाएँ करता रहूँ। केवल मैं अकेला नहीं, हम सभी सौ और सौ से भी अधिक वर्षों तक इन कार्यों को करते रहें।

फिर हम गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उपासना की इस वेला में हमने प्रभु के जिस अद्‌भुत तेज की झाँकी पाई है वह तेज हमारी बुद्धियों को नया मोड़ देवे, नई दिशा में प्रेरित कर देवे। फिर हम आनन्द-विह्वल हो प्रभु के चरणों से लिपट जाते हैं—

नमः शंभवाय च, मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च, मयस्कराय च॥
नमः शिवाय च, शिवतराय च॥ —यजु० १६.४१

यह है हमारी दैनिक उपासना का ब्यौरा, परन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम प्रभु की उपासना क्यों करें?

वह माता-पिता है

बालक स्वभावतः अपने माता-पिता के पास बैठने में सुख मानता है। बालक पढ़ रहा है, भोजन कर रहा है, परन्तु वह माँ को अपने पास से हिलने देना नहीं चाहता। माँ कहती है तू तो कहानी पढ़ रहा है, मैं यहाँ बैठी क्या करूँगी, कुछ और काम कर लेती हूँ, परन्तु बालक उसे पकड़कर बैठा लेता है, नहीं तुम यहीं बैठी रहो। बड़ा सुहावना दिन है, बादल छाये हुए हैं, कहीं घूमने जाने की योजना बनती है, परन्तु जब बालक को पता चलता है कि पिताजी नहीं चल रहे तो वह कहता है मैं तो पिताजी के बिना नहीं जाता। बात क्या है? माता-पिता का सान्निध्य बालक को क्या देता है? आखिर कुछ तो बालक को मिलता ही है, तभी तो वह उनके बिना व्याकुल होता है। इसी प्रकार भक्तों को भी भगवान् के सान्निध्य से कुछ मिलता है। भगवान् भक्तों की माता है, भक्तों का पिता है—

[२]त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ —ऋ० ८.३८.११

"हे शतक्रतो इन्द्र, हे सैकड़ों कर्म करनेवाले प्रभो, हे निवासक, तू ही हमारा पिता है, तू ही माता है। इसलिए हम तुझसे सुख की याचना करते हैं।"

अद्‌भुत सोमरस

भक्त को भगवान् से क्या मिलता है यह वेद के शब्दों में सुनिए। भक्त को भगवान् से मिलता है सोम-रस, जिसके लिए वेद गाते हैं—

[३]स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं,
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं,
न कश्चन सहत आहवेषु॥

—ऋ० ६.४७.१

जिसने प्रभु से मिलनेवाले आनन्द-रस को पा लिया है उसके मुख से सहसा उद्‌गार निकल पड़ते हैं—"आहा, यह कैसा स्वादु है! कैसा मधुर है! कैसा तीव्र है! कैसा रसीला है! जिसने इसे पी लिया उसे देवासुर-संग्रामों में कोई असुर परास्त नहीं कर सकता।"

सोम का झरना

इसी रस का एक बार स्वाद लेकर भक्तजन आतुरता के साथ पुकार उठते हैं—

[४]स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः॥ —साम० ४६८

"हे प्रभु से झरनेवाले आनन्द-रस, तुम अपनी स्वादुतम धारा के साथ मेरे अन्दर झरो, तुम अपनी अतिशय मस्ती लानेवाली धारा के साथ मेरे अन्दर झरो। तुम मुझ-आत्मा के पान करने के लिए प्रस्तुत होते रहो।"

तरंगों का झूला

उपासना करने पर प्रभु भक्त को अपने साथ आनन्द-सागर की तरंगों में झुलाता है—

[५]परि प्रासिष्यदत् कविः, सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम्॥ —साम० ४८६

कवि प्रभु स्वयं आनन्द-सागर की लहरों पर उतरा रहा है। जब भक्त उपासना करता हुआ उसके समीप पहुँचता है तब वह उस अतिशय प्यारे अपने उपासक को (कारु को) अंगुलि पकड़कर अपने साथ तैराने लगता है और लहरों में झुला-झुलाकर कृत-कृत्य कर देता है।

तेरी उपासना करें

अतः, आइए, हम भी उस प्रभु की उपासना करें—

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्॥

उरुः पृथुः सुभूः भुव इति त्वोपास्महे वयम्॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्॥

—अथर्व० १३.४.५०—५३

हे प्रभो, आप (अम्भः) रसमय हैं, आनन्दस्वरूप हैं, (अमः) बली हैं, (महः) महिमाशाली हैं, (सहः) साहसी हैं (इति त्वा उपास्महे वयम्) इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (अम्भः) हम प्यासों के पानी हैं, (अरुणं) प्रकाशमय हैं, (रजतं) हम गरीबों की चाँदी हैं, (रजः) हम निर्बलों का रक्त हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (उरुः) सर्वशक्तिमान् हैं, (पृथुः) सर्वव्यापक हैं, (सुभूः) सत्स्वरूप हैं, (भुवः) चित्स्वरूप हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

हे प्रभो, आप (प्रथः) प्रख्यात हैं, (वरः) वरणीय हैं, वर देनेवाले हैं, (व्यचः) विस्तीर्ण हैं, (लोकः) सर्वद्रष्टा हैं, इस कारण हम आपकी उपासना करते हैं।

आपकी उपासना हमें रस प्रदान करे, आनन्द प्रदान करे, सद्गुण का प्रवाह प्रदान करे।

नमस्ते अस्तु पश्यत, पश्य मा पश्यत॥ —अथर्व० ३.४.५५

हे सर्वदर्शी, आपको नमस्कार हो। हे सर्वदर्शी, मुझ पर दृष्टि डालो।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (अग्ने) हे तेजस्वी पथ-प्रदर्शक प्रभो, (वयम्) हम सब (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं-प्रातः (धिया) ध्यान द्वारा (नमो भरन्तः) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरी (उपएमसि) उपासना करते हैं।

२. (वसो) हे निवासक प्रभु, (त्वं हि) तू ही (नः) हमारा (पिता) पिता है। (शतक्रतो) हे शतप्रज्ञ शतकर्मा प्रभु, (त्वम्) तू ही (माता) माता (बभूविथ) है। (अध) इसलिए हम (ते) तेरे (सुम्नम्) आनन्द को (ईमहे) माँगते हैं।

३. (अयम्) यह सोमरस, आनन्दरस (किल) निश्चय ही (स्वादुः) स्वादु है, (उत) और (अयम्) यह (मधुमान्) मधुर है। (अयम्) यह (किल) निश्चय ही (तीव्रः) तेज है, (उत) और (अयम्) यह (रसवान्) रसीला है। (उतो नु) और (अस्य पपिवांसम्) इसके पीनेवाले (इन्द्रम्) आत्मा को (आहवेषु) देवासुर-संग्रामों में (कश्चन) कोई भी (न सहते) पराजित नहीं कर सकता।

४. (सोम) हे आनन्द-रस, तू (स्वादिष्ठया) स्वादिष्ट और (मदिष्ठया) अतिशय मस्ती लानेवाली (धारया) धारा के साथ (पवस्व) प्रवाहित हो। तू (इन्द्राय पातवे) जीवात्मा के पीने के लिए (सुतः) निचोड़ा गया है।

५. (कविः) कवि प्रभु (सिन्धोः) आनन्द-सिन्धु की (ऊर्मौ) लहरों पर (अधिश्रितः) सवार हुआ-हुआ, (पुरुस्पृहम्) बहुत प्यारे (कारुम्) स्तुतिकर्ता को (बिभ्रत्) पकड़े हुए (परिप्रासिष्यदत्) तैर रहा है, झूल रहा है।

व्रात्य की आसन्दी

अथर्ववेद का एक छोटा-सा कथानक है। एक बार व्रात्य किसी राज्य में गया। वह लगातार एक वर्ष तक खड़ा रहा। देवों का ध्यान उसकी ओर गया और उन्होंने उससे पूछा—व्रात्य खड़े क्यों हो ? व्रात्य ने कहा, मेरे लिए आसन्दी (राजकीय चौकी) लाइए, तब मैं बैठूँ। उन्होंने तुरन्त आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी। ग्रीष्म और वसन्त उसके दो पाये (पैर) हुए, शरद् और वर्षा शेष दो पाये। बृहत् और रथन्तर लम्बाई की पाटियाँ बनीं, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य चौड़ाई की पाटियाँ। ऋचाओं के तारों का ताना तना गया, यजुः के तारों से बाना डाला गया। उसपर 'वेदस्' का बिछौना लगाया, 'ब्रह्म' की चादर बिछायी। 'साम' का आसन बिछा, 'उद्गीथ' का तकिया लगा। इसप्रकार जब आसन्दी बनकर तैयार हो गयी, तब व्रात्य उसपर बैठा। सब देवजन उसके परिचारक बन गए। संकल्प उसके दूत बने। सब भूत दरबारी बनकर उसके पास आ बैठे, उसके 'उपसद' हो गये। जैसे उस व्रात्य के सब भूत 'उपसद' हो गए, वैसे ही जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसके भी सब भूत 'उपसद' हो जाते हैं।[१]

व्रात्य कौन है ?

वेदोत्तरकालीन साहित्य में अधिकतर व्रात्य शब्द निन्दित अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्रात्य उसे कहा गया है जिसके जातकर्मादि संस्कार नहीं होते, और उसे पतित माना गया है।[२] पर कहीं-कहीं 'व्रात्य' का प्रयोग अच्छे अर्थों में भी हुआ है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण को व्रात्य कहा है, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने 'जिसे संस्कार की आवश्यकता ही नहीं, अर्थात् जो स्वभावतः शुद्ध है'[३] ऐसा किया है। बाद के युग में व्रात्य शब्द का जो भी अर्थ रहा हो, परन्तु अथर्ववेद के इस प्रकरण में व्रात्य निःसंदेह अच्छे अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त कथानक में व्रात्य विराट् परमेश्वर है। उसे व्रात्य इस कारण कहा है, क्योंकि वह व्रतनिष्ठ है। जगत् की उत्पत्ति, जगत् का धारण, यथासमय जगत् का संहार, समग्र नियम-व्यवस्था, पाप-पुण्य का फल-प्रदान आदि अनेक व्रतों को उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया हुआ है। व्रात अर्थात् जन-समुदाय का हितकारी होने से भी वह व्रात्य कहलाता है। वह व्रात्य समस्त जगत् का सम्राट् है। अन्य मानवी राजा मानो सब उसी के सामन्त हैं।

व्रात्य खड़ा क्यों रहा ?

ऐसा जगत् का अद्वितीय सम्राट् किसी राष्ट्र में पहुँचा है। उस राष्ट्र के वासियों को चाहिए तो यह कि सब प्रकार से उसके स्वागत का आयोजन करें, किन्तु किसी का उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान देने की वहाँ किसी को फुर्सत ही नहीं। सारा राष्ट्र विलासी जीवन में रत है। न वहाँ धर्म है, न सत्कर्म

है, न विद्या है, न सत्य है, न न्याय है। वह राष्ट्र पतन की चरम सीमा को पहुँचा हुआ है। वहाँ तो व्रात्य के विरोधी असुर का स्वागत हो रहा है। व्रात्य देखता है कि इस राष्ट्र में मेरे योग्य स्थान नहीं है, अतः वह वहाँ खड़ा ही रहता है। असल में व्रात्य सर्वत्र ही है। जो उसे बैठने के लिए आसन देते हैं, उनके यहाँ वह बैठ जाता है। जो आसन नहीं देते और उसे बैठाना नहीं चाहते, उनके यहाँ वह खड़ा रहता है। इसी प्रकार उस राष्ट्र में भी वह खड़ा रहा। व्रात्य के लिए खड़ा होने, बैठने आदि का व्यवहार आलंकारिक है। जिस राष्ट्र में परमेश्वर की पूजा होती है, उसके आदेशों का पालन होता है, वहाँ वह बैठा हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। जहाँ उसका नाम-कीर्तन करनेवाला कोई नहीं है, वहाँ मानो वह खड़ा हुआ है।

देवों का ध्यान गया

जब कोई राष्ट्र बहुत दिनों तक पतित रहता है और वहाँ ईश्वर का निवास नहीं रहता, तब कुछ ऐसे देवजन उस राष्ट्र में जन्म लेते हैं, जिन्हें राष्ट्र का यह पतन और राष्ट्र की यह ईश्वरविमुखता अखरते हैं। उन्हें यह असह्य हो जाता है कि हम व्रतपति एवं सर्वजन-हितकारी परमेश्वर का आतिथ्य न करें। वे प्रयत्न करते हैं कि उस राष्ट्र के सब लोग परमेश के पुजारी हों तथा पुण्य कर्मों में संलग्न हों। राम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य, ऋषि दयानन्द आदि इसी देवकोटि के पुरुष रहे हैं। इसी प्रकार इस कथानक में भी देवों का ध्यान इस ओर गया। इसी बात को कहानी के रूप में इस तरह कह दिया गया है कि उन्होंने व्रात्य से कहा कि हे व्रात्य, तुम खड़े क्यों हो, हमारे राष्ट्र में बैठते क्यों नहीं? व्रात्य ने उत्तर दिया—मेरे योग्य आसन्दी ही नहीं है, बैठूँ कहाँ?

आसन्दी का अभिप्राय

जब कोई सत्पुरुष हमसे मिलने आता है, तब हम उसे बैठने के लिए उसके योग्य आसन, चौकी, कुर्सी आदि देते हैं। इसी प्रकार व्रात्य जब हमारे राष्ट्र में अतिथि बनकर आया है, तब हमें उसे आसन प्रदान करना चाहिए। उसका आसन क्या है? जैसे वह स्वयं भौतिक शरीर-धारी नहीं है, वैसे ही ये भौतिक कुर्सी, पलंग, मखमली गद्दे आदि उसके आसन नहीं हो सकते। उसे आसन देने का अभिप्राय है राष्ट्र में उसके बैठने योग्य वातावरण उत्पन्न करना। बहुत दिनों की बात है, एकबार किसी संस्था के संचालकों ने महात्मा गांधी जी को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण भेजा। महात्माजी ने कुछ बातें लिख भेजीं—क्या आपके यहाँ खद्दर पहना जाता है? हरिजनों के साथ भेदभाव तो नहीं रखा जाता? क्या आप लोग सूत कातते हैं आदि? यदि आपकी संस्था में इन बातों की प्रवृत्ति है, तो मैं आऊँगा, अन्यथा नहीं। मानो ये बातें ही महात्माजी के बैठने योग्य आसन थीं। ऐसे ही किसी राष्ट्र में परमेश्वर का वास हो, परमेश्वर वहाँ बैठे, इसके लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है। उन्हीं परिस्थितियों को व्रात्य की आसन्दी या चौकी कहा जा सकता है। देवपुरुषों ने उन परिस्थितियों को राष्ट्र में उत्पन्न करने का यत्न किया। इसी को प्रकारान्तर से इस रूप में भी

कह सकते हैं कि उन्होंने व्रात्य के बैठने के लिए आसन्दी बनानी आरम्भ कर दी।

आसन्दी के चार पैर

सर्वप्रथम पैर या पाये कल्पित किए जाने चाहिएँ, क्योंकि उन्हीं के ऊपर राजकीय आसन्दी का सारा ढाँचा खड़ा होना है। **ग्रीष्म, वसन्त, शरद्** और **वर्षा** ही उसके चार पैर हुए। यों तो वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं, परन्तु हेमन्त तथा शिशिर को शरद् के ही अन्तर्गत कर लेने से पूर्वोक्त चार ऋतुएँ हो जाती हैं। आगे आसन्दी के जो भी अंग बताये जायेंगे अर्थात् व्रात्य के बैठने योग्य जो भी परिस्थितियाँ कही जायेंगी, उन सब का आधार ये ही ऋतुएँ होंगी। इस कारण इन्हें चौकी के पैर कहा गया है। अभिप्राय यह है कि देवों ने यह प्रयत्न किया कि जो भी हम व्रात्य के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करें, वे सभी ऋतुओं में अर्थात् सारे वर्षभर बनी रहें, ऐसा न हो कि क्षणिक रूप में वे आएँ और चली जाएँ।

चारों पाटियाँ

पाये बन जाने के अनन्तर पाटियों की बारी आयी। **बृहत्** और **रथन्तर** लम्बाई की पाटियाँ बनीं और **यज्ञायज्ञिय** तथा **वामदेव्य** चौड़ाई की पाटियाँ। ये चारों साम के भेद हैं। देवपुरुषों ने अपने राष्ट्र में साम-गान का अधिकाधिक प्रचार किया। गीति ईश्वर-भक्ति को जगाने में बहुत सहायक है। इस साम-गान के प्रचार से परमेश्वर के निवास के लिए और अधिक अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गयी। मानो आसन्दी की पाटियाँ बनकर तैयार हो गयीं। बृहत् आदि चारों शब्दों से अन्य भी विशेष भाव सूचित होते हैं। '**बृहत्**' विशालता, उदारता तथा महत्त्वाकांक्षी होने का द्योतक है। इसलिए बृहत् को पहली पाटी बनाने का भाव यह भी है कि देवपुरुषों ने यह प्रयत्न किया कि सब राष्ट्रवासी विशाल और उदार हृदय वाले हों, संकुचित प्रवृत्ति और स्वार्थ-भावना को छोड़ें तथा मनों में ऊँची आकांक्षाएँ सँजोएँ। दूसरी पाटी '**रथन्तर**' है। रथन्तर शब्द का अर्थ है—'रथ द्वारा मार्ग को पार करने की कला'। सब मनुष्यों को शरीररूपी उत्तम रथ मिला हुआ है। उस रथ की सहायता से कैसे विघ्न-बाधाओं से भरे हुए विकट मार्ग को तय करके लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है, यह विद्या रथन्तर-विद्या कहलाती है। देव-पुरुषों ने इस विद्या का भी राष्ट्र में प्रचार किया। उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया कि तुम्हें यह मानव-योनि या मनुष्य-रथ प्राप्त हुआ है, इस रथ पर तुम निरुद्देश्य मत बैठे रहो। जीवन में लक्ष्य बनाओ और उस तक पहुँचने के लिए शरीर-रथ को काम में लाओ। यह आसन्दी की दूसरी पाटी तैयार हो गयी। तीसरी पाटी '**यज्ञायज्ञिय**' है। यज्ञायज्ञिय शब्द यज्ञ-कर्मों को सूचित करता है, अतः इसे पाटी बनाने का भाव है कि देव-पुरुषों ने राष्ट्र में यज्ञ-कर्मों का प्रचार किया। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ इन पंचयज्ञों तथा अन्य विभिन्न यज्ञों को प्रोत्साहन दिया। चौथी पाटी '**वामदेव्य**' है। वाम का अर्थ श्रेष्ठ या सुन्दर होता है। इस प्रकार राष्ट्र में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की भावना का प्रचार ही वामदेव्यरूपी चौथी पाटी का निर्माण है।

ताना-बाना

पाटियाँ तैयार हो गयीं। अब उनपर बुनावट डाली जानी हैं। **ऋचाएँ** ताने के तन्तु बनीं और **यजुः** बाने के तन्तु। इस प्रकार ऋक् और यजुः के तन्तुओं से वह आसन्दी बुनी गयी। ऋग्वेद का सम्बन्ध ज्ञानकाण्ड से है और यजुर्वेद का कर्मकाण्ड से, अतः ऋचाओं से ताना तनने का भाव है कि उन देव-पुरुषों ने राष्ट्र में अधिकाधिक ज्ञान का प्रसार किया। ऐसा प्रयत्न किया कि सब प्रकार से ज्ञान-विज्ञानों में हमारा देश शिरोमणि हो जाए। इस तरह ज्ञान का ताना तना गया। परन्तु केवल ताना किसी काम का नहीं, जब तक उसमें बाने के तार न डाले जायें। इसी प्रकार केवल ज्ञान किसी समाज या राष्ट्र की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है, जब तक उसके साथ उससे मेल खाते कर्म न हों, अतः जब देव-पुरुषों ने ज्ञान के साथ कर्मों का भी प्रचार किया, तब मानो उस आसन्दी का बाना भी पुर गया। अब उस राष्ट्र के लोग मूर्खता को छोड़कर विद्याग्रहण में और सदाचरण में समय व्यतीत करने लगे। एवं व्रात्य के बैठने योग्य बहुत-कुछ परिस्थिति उत्पन्न हो गयी।

अन्य साज

पाये बन गये, उनमें पाटियाँ पड़कर आसन्दी का ढाँचा बन गया। ताना-बाना डालकर बुनावट भी कर दी गयी, किन्तु अभी अन्य साज तो बाकी ही है। क्या सारे जगत् का सम्राट् खाली चौकी पर बैठ जाएगा ? नहीं, अभी तो उसपर बिछौना बिछना चाहिए, बिछौने के ऊपर बढ़िया-सी मखमली चादर बिछनी चाहिए। चादर के ऊपर एक सुन्दर-सा कढ़ा हुआ आसन होना चाहिए। ढासने के लिए तकिया या मसनद भी चाहिए। तब व्रात्य उसपर बैठेगा।

कथानक में कहा है कि उस बुनावट के ऊपर '**वेदस्**' का बिछौना बिछाया गया। वैदिक कोष निघण्टु (२.१०) के अनुसार 'वेदस्' का अर्थ धन है, अतः वेदस् का बिछौना बिछाने का अर्थ है राष्ट्र को पूर्ण धनधान्य-सम्पन्न और समृद्धिशाली बना देना। अन्यथा, जो राष्ट्र धन-हीन है, जहाँ के लोगों के पास दो समय पेट भरने को अन्न नहीं है, उस राष्ट्र में परमेश्वर को कौन पूछेगा ?

बिछौना भी बिछ गया, अब उसके ऊपर एक चमकती चादर चाहिए, जिससे वह आसन्दी जगमगा उठे। '**ब्रह्म**' ही वह चादर है। ब्रह्म का अर्थ है अध्यात्म-विद्या। यदि उस धन-दौलत के बिछौने को अध्यात्म-विद्या की चादर से नहीं ढका जाएगा, तो वह एकांगी होने से राष्ट्र के लिए बड़ी घातक और दुःखदायी वस्तु सिद्ध होगी। धन के नशे में चूर होकर कौन उन्मत्त नहीं हो जाता ? इसलिए जहाँ एक ओर धन है, वहाँ साथ ही उन धनी लोगों में अध्यात्म-पिपासा, योगाभिरुचि, अन्तर्मुखी वृत्ति होनी भी आवश्यक है। तभी वह देश ईश्वर के वासयोग्य हो सकता है। नहीं तो, ब्रह्मभावना-रहित इन्द्रियाँ धन को विलास की वस्तु ही समझेंगी।

बिछौने पर चादर भी बिछ गई। अब उसपर एक सुन्दर सुनहरा आसन होना चाहिए, जिसके ऊपर व्रात्य बैठेगा। '**साम**' ही वह आसन है। साम का

सम्बन्ध उपासनाकाण्ड से है। 'साम' शान्ति और भक्ति का प्रतीक है। लोग सच्ची शान्ति के अनुरागी हों, भक्ति उनका सोमरस हो, जीवन को समस्वरता-युक्त तथा संगीतमय बनाना उनका ध्येय हो, सामवेद की ऋचाओं का गान करते हुए वे भक्ति में लीन रहते हों, ऐसी अवस्था जिस राष्ट्र की हो जाए, वहाँ व्रात्य नहीं बैठेगा, तो और कहाँ बैठेगा?

परन्तु अभी आसन्दी पर तकिया, मसनद या ढासना तो लगा ही नहीं। आराम से बैठने के लिए उनका होना भी आवश्यक है। देवपुरुष बड़े कुशल होते हैं, उन्होंने उसकी भी व्यवस्था कर दी है। '**उद्गीथ**' ही उसका तकिया या मसनद है। उद्गीथ का अर्थ है ओंकार या प्रणव-जप। देवपुरुषों की प्रेरणा से राष्ट्र के वासी लोग अपने अन्दर परमेश्वर को बद्धमूल करने के लिए ओंकार का जप भी करने लगे। अब किस बात की कमी रही? अब तो राजकीय चौकी के सब अंग पूर्ण हो गए, पूरा साज एकत्र हो गया। अब तो व्रात्य को बैठना ही चाहिए।

व्रात्य बैठ गया

यह लीजिए, व्रात्य बैठ गया। जो असन्तुष्ट होकर निरन्तर वर्ष भर खड़ा रहा था, वह आज सुप्रसन्न होकर बैठ गया है, किन्तु अब भी सावधानी की आश्यकता है। बड़ी कठिनाई से व्रात्य ने बैठना स्वीकार किया है। कहीं ऐसा न हो कि उसके सत्कार में कुछ त्रुटि रह जाए और वह रुष्ट होकर फिर उठ खड़ा हो, देवपुरुषों का अब तक का सब प्रयत्न व्यर्थ हो जाए। नहीं, देवजनों को इसकी भी पूरी चिन्ता है। जो अपने सुख-दुःख की परवाह न कर अहर्निश व्रात्य की आसन्दी को बनाने में, देश में ईश्वरवासयोग्य वातावरण पैदा करने में, सचेष्ट रहे हैं, उन्हें क्या इसकी चिन्ता नहीं होगी कि व्रात्य के बैठने के पश्चात् उसके आतिथ्य में कुछ त्रुटि न रहे?

परिचारक, दूत और दरबारी

सब देवजन व्रात्य के परिचायक (**परिष्कन्द**) बन गए हैं। वे सर्वात्मना उसकी आराधना में लीन हैं। जब एक बार उन्होंने अपने देश में उसे बैठा लिया है, तो अब वे उसे अप्रसन्न होकर उठने नहीं देंगे। जो बातें उसे प्रिय हैं उनका वे देश में सतत प्रचार करते रहेंगे।

परन्तु **दूत** कौन बनेगा? जब व्रात्य सम्राट् बनकर राजकीय आसन्दी पर आरूढ़ हो गया है, तो उसके दूत भी होने चाहिएँ, जिन्हें राष्ट्र में इधर-उधर भेजकर वह कार्य कराएगा। संकल्प ही उसके इतस्ततः भेजे जानेवाले दूत (प्रहाय्याः) हैं। मानवी सम्राटों की तरह उसे शरीरधारी दूतों की अपेक्षा नहीं है। उसके संकल्पों में बड़ा सामर्थ्य है। अपनी संकल्प-शक्ति से ही उसने सृष्टि रची है और सृष्टि को धारण भी कर रहा है। वे उसके संकल्प ही उसके लिए दूतों का कार्य करेंगे। जैसे कोई मनुष्य-राजा अपनी किसी प्रजा को कोई सन्देश भेजना या प्रेरणा करना चाहता है तो दूतों द्वारा करता है, वैसे ही वह जिस व्यक्ति में जो प्रेरणा भरना चाहेगा, अपने संकल्प से ही भर देगा।

जब राष्ट्रवासियों ने ऐसे विलक्षण सम्राट् को अपने मध्य सिंहासन पर बैठा लिया है, तब कौन है जो उसके **उपसन्न** न हो, दरबारी बनकर उसके दरबार में उपस्थित न हो? सब भूत, सब देशवासी उसके चरणों में शीश झुका रहे हैं और उन्होंने अपने सब आपसी झगड़े, अपनी सब फरियादें उसी पर छोड़ दी हैं। वे अपने-आपको उसके दरबार में बैठा हुआ अनुभव करते हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह किन कर्त्तव्य-कर्मों की, किन राज-नियमों की, हमारे लिए घोषणा करता है। जो उसका आदेश होगा, उसे पालन करने के लिए सब नर-नारी तैयार हैं।

क्या हम व्रात्य नहीं बन सकते?

कथानक के अन्त में कहा है कि चाहें तो हम भी व्रात्य बन सकते हैं। व्रात्य की इस महिमा को हम हृदयंगम करें और अपने जीवन में घटाने का यत्न करें। हम भी उस बड़े व्रात्य के समान व्रतनिष्ठ बनें, जन-समुदाय का नेतृत्व करने की शक्ति अपने अन्दर उत्पन्न करें। तब हमें भी जनता उतना ऊँचा आसन देगी और हमारे भी सब लोग 'उपसद' बनेंगे, अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर सुलझाने के लिए हमारे समीप आएँगे और हमारे निर्णय तथा आदेश की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे। हमारे मुख से जो कुछ निकलेगा, उसका अक्षरशः पालन करने में वे गौरव अनुभव करेंगे। हम खड़े होंगे तो हमें बैठाने के लिए सबकी आँखें हमारी ओर लगी रहेंगी।

पाद टिप्पणियाँ—

१. स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत्। तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति (१)। सोऽब्रवीदासन्दीं मे संभरन्त्विति (२)। तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् (३)। तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ (४)। बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये (५)। ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः (६)। वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् (७)। सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः (८)। तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् (९)। तस्य देव-जनाः परिष्कन्दा आसन्, संकल्पाः प्रहाय्याः विश्वानि भूतान्युपसदः (१०)। विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद (११)। —अथर्ववेद, काण्ड १५, पर्याय ३

२. सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः। —मनु० २.३९
व्रात्यः संस्कारहीनः स्यात्। —अमरकोश २.७.५३

३. 'व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिः'—प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो ब्रात्यस्त्वं, स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः। —प्रश्न उप० २.११ का शांकरभाष्य

□□

अहो, मैं क्या था, क्या हो गया!

प्रायः व्यक्तियों, जातियों और देशों के जीवनों के इतिहास में उत्थान और पतन के उलट-फेर होते रहते हैं। जो आज शिखर पर आरूढ़ है वही कल भूमि पर गिरा हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने उज्ज्वल भूत को स्मरण कर वर्तमान को भी उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करे। इसी भावना को जागृत करानेवाला एक वैदिक वर्णन यहाँ दिया जाता है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास नहीं है, किन्तु शिक्षा देने के लिए रचा गया एक काल्पनिक चित्र है।

मित्रो, आओ, आज मैं तुम्हें अपने अतीत और वर्तमान की कथा सुनाऊँ। मैं किस प्रकार एक उन्मुक्त पक्षी की भाँति आकाश में स्वच्छन्द विहार किया करता था और अब पर-कटे पक्षी की तरह ऊपर से नीचे गिरा पड़ा हूँ, वह सब कहानी तुम्हें कहूँ।

[१]प्रमा युयुज्रे प्रयुजो जनानां, वहामि स्म पूषणमन्तरेण।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन्, दुःशासुरागादिति घोष आसीत्॥

—ऋ० १०.३३.१

एक दिन था जब मैं कटिबद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतरा हुआ था। मेरे अन्दर अपार उत्साह था, असीम क्रियाशक्ति थी। प्रयत्न और पुनः प्रयत्न, बिना लक्ष्य पर पहुँचे दम न तोड़ना, यही मेरे जीवनमार्ग का पाथेय था। जो भावनाएँ मनुष्य को प्रयत्न में प्रेरित करती हैं, वे मेरे अन्दर उमड़-उमड़कर उठती थीं। मैं अपनी वर्तमान अवस्था से ऊँचा उठूँ, यही भावना मेरे अन्दर हिलोरें मारती थी। मैं सोचता था कि भूमि से मैं अन्तरिक्ष में उड़ जाऊँ, अन्तरिक्ष से द्युलोक में पहुँच जाऊँ और द्युलोक में भी अपनी उड़ान को विराम न देकर उससे भी आगे स्वर्लोक की यात्रा में संलग्र हो जाऊँ।[२] मैं सोचता था कि मैं अहर्निश आगे बढ़ता रहूँ। जो मेरे बराबर के हैं उनसे आगे निकल जाऊँ, और जो मुझसे आगे हैं उन्हें भी पीछे छोड़ दूँ।[३] मैं चाहता था कि मैं ज्ञान में सर्वोपरि हो जाऊँ, कर्म में सर्वोपरि हो जाऊँ, उपासना में सर्वोपरि हो जाऊँ। इस प्रकार की मनुष्य को उच्चता की ओर प्रेरित करनेवाली महत्त्वाकांक्षाओं से मैं प्रेरित था।

इसी का परिणाम था कि मैं अपने अन्दर 'पूषा' को धारण किये हुए था। मेरे हृदयाकाश में मानो सदा परिपुष्ट सूर्य उदित रहता था। मेरे अन्तस्तेज का एक-एक कोना परिपुष्ट सूर्य की रश्मियों से उद्भासित रहता था। कहीं भी अज्ञान, अविवेक, मोह, तामसिकता, ईर्ष्या, द्वेष, भय आदि के अन्धकार की सत्ता नहीं थी। साथ ही 'पूषा' नाम से स्मरण किये जाने वाले सर्वात्मना परिपुष्ट तथा सर्वपोषक अजर-अमर-अक्षय परमेश्वर को भी मैं सदा अपने हृदय में बसाये रखता था। प्रतिपल, प्रतिकार्य में उन 'पूषा' प्रभु को मैं स्मरण रखता था।

उन दिनों कभी मैं अपने-आपको अरक्षित अनुभव नहीं करता था। सब दिव्य गुण, सब देवजन और सब प्राकृतिक दिव्य पदार्थ (विश्वे देवासः) मेरे रक्षक बने हुए थे। मेरे अन्दर विद्यमान अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि दिव्य गुण पाप, अनाचार, अनैतिकता आदि के बड़े से बड़े आँधी-तूफानों से मेरी रक्षा करते थे। साथ ही देश में रहनेवाले सब मनुष्य और देवजन भी मेरी रक्षा के लिए उद्यत थे। मुझे अपनी रक्षा की चिन्ता स्वयं नहीं करनी पड़ती थी, अपितु मुझे अपना महान् नेता मानकर देशवासी ही मेरी रक्षा के लिए चिन्तित रहते थे। मुझे जरा-सा सिर-दर्द होने पर देश के बड़े-बड़े चिकित्सक अपनी सेवाएँ देने के लिए मेरे पास दौड़े चले आते थे। मुझे जरा-से धन की आवश्यकता होने पर देश के बड़े-बड़े धनपति अपनी समस्त पूँजी मेरे चरणों पर न्यौछावर करने के लिए लालायित रहते थे। मुझे जरा-सा शत्रुभय होने पर बड़े-बड़े वीर योद्धा मेरे लिए प्राण अर्पित करने को तैयार रहते थे। ऐसा गौरवमय मेरा जीवन था। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक-पदार्थरूप जो तीसरी श्रेणी के देव हैं, वे भी मेरे रक्षक बने हुए थे। सूर्य, वायु, अग्नि, पर्वत, नदी, समुद्र, बादल आदि किसी भी पदार्थ की शक्ति नहीं थी कि मुझसे विद्रोह करे। ऐसा महान् मेरा व्यक्तित्व था कि ये सब मानो मेरे अनुचर बने हुए थे।

इस प्रकार के महान् अद्वितीय गुणों से अलंकृत मैं जहाँ से भी जाता था, वहीं मेरा स्वागत-सत्कार होता था। लोग मेरा जय-जयकार करते थे। '**दुःशासुः आगात्**'-'**दुःशासुः आगात्**'—'स्वागत हो इस दुर्जेय का'-'स्वागत हो इस दुर्जेय का' यही नारा सबके मुखों से सुनाई पड़ता था। जहाँ मैं पहुँचता था वहाँ के दुर्जनों के चेहरों पर भय के चिह्न दिखायी देने लगते थे और उनके मुखों से भी 'दुःशासुः आगात्'-'दुःशासुः आगात्',—'अरे, यह दुर्जेय आ पहुँचा'-'अरे, यह दुर्जेय आ पहुँचा' ऐसे भयमूलक शब्द निकलने लगते थे। मैं दुर्जनों को विदलित करता हुआ, सज्जनों को हर्षित करता हुआ अपनी ऊर्ध्वारोहण की यात्रा में प्रवृत्त रहता था।

यह है मेरे अतीत जीवन की एक झाँकी, परन्तु अब? अब तो यह सब एक कहानी होकर रह गया है—

[४]सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः ॥ २ ॥

अब तो मेरी ऐसी अवस्था है, मानो मैं किसी विस्तीर्ण सरोवर से निकलकर एक सीमित कुएँ के अन्दर जा पड़ा हूँ। सरोवर में मैं स्वतन्त्रतापूर्वक विहार कर सकता था, वहाँ कोई रुकावट नहीं थी; किन्तु इस कुएँ में तो चारों और ईंटों की पक्की दीवार है। ये ईंटें मुझे बुरी तरह संतप्त कर रही हैं। जिस प्रदेश में निवास कर रहा हूँ वह प्रदेश ही कुआँ है, चारों ओर स्थित विविध जड़-चेतन पदार्थ उस कुएँ की ईंटें हैं। ये मेरे चारों ओर स्थित पदार्थ मुझे उसी तरह संतप्त करते हैं, जैसे अनेक पत्नियों वाले पुरुष को वे पत्नियाँ सताती हैं। जैसे अनेक पत्नियाँ पुरुष को अपनी-अपनी ओर आकृष्ट करती हैं, परन्तु सुख नहीं दे पाती, वैसे ही

चारों ओर स्थित ये विविध पदार्थ भी अपनी ओर आकृष्ट करके मुझे सुख से वंचित रखते हैं। कभी मैं जिह्वा से स्वादिष्ट पदार्थों की ओर आकृष्ट होता हूँ, कभी आँख से सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता हूँ। इस प्रकार संसार के विविध विषय मेरी इन्द्रियों को अपनी-अपनी ओर खींचते हैं और उसका परिणाम होता है संताप। विषयों की ओर खिंचा हुआ मैं निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ।

विषयों में पड़कर मेरी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। जहाँ पहले मेरी बुद्धि का सिक्का हर कोई मानता था और मैं अपनी बुद्धि के बल से लोगों की जटिल से जटिल समस्याओं को सुलझाकर उन्हें चमत्कृत कर देता था, वहाँ आज मैं मति-हीनता से पीड़ित हो रहा हूँ। यदि मैं किसी को अपनी बात सुनाना चाहता हूँ, तो संसार मुझे मूर्ख कहकर मेरी बात की उपेक्षा कर देता है।

नग्नता भी मुझे व्याकुल कर रही है। पहले मैं भूखों को भोजन देता था, नंगों का शरीर ढकता था, किन्तु आज मैं स्वयं भूखा-नंगा हूँ। मैं आज निर्धन हूँ, निर्बल हूँ, क्षीण हूँ। आज मेरी मति काँप रही है। जैसे बाज के आगे चिड़िया की मति कुछ काम नहीं करती, वैसे ही विपत्तियों को सामने देखकर मेरी मति भी चरमरा गयी है।

अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, अपनी दीन दशा किसके आगे निवेदन करूँ?

[५]मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः, स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाऽधा पितेव नो भव॥ ३॥

हे इन्द्र, हे प्रभु, सब स्थानों पर भटककर अन्त में मैं तुम्हारी ही शरण आया हूँ। मेरी दशा की ओर दृष्टि तो डालो! जिस प्रकार आटे से पान कराये गये सूत को चुहियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार मुझे विविध आधियाँ, विविध मानसिक चिन्ताएँ खाये जा रही हैं। इस चिन्तारूपी चुहियों से खाया जाकर मैं निरन्तर जर्जर हुआ जा रहा हूँ। हे देव, तुम तो शतक्रतु हो, बड़े से बड़े विकट कर्मों को अनायास ही सम्पन्न कर देनेवाले हो। तुम्हारी कृपादृष्टि होने पर पंगु पर्वत को लाँघ सकता है, अंधा देखने की शक्ति पा सकता है, गूँगा वाचाल हो सकता है, रंक राजा हो सकता है,[६] तो फिर मुझ दीन की दशा को सुधारना तुम्हारे लिए क्या कठिन है!

हे प्रभु, तुम मघवा' हो, अपार ऐश्वर्य के राजा हो। अपने ऐश्वर्यों के एक-दो कण मुझपर भी बिखेर दो। मुझे मतिहीन से मतिमान् कर दो, नग्न से वस्त्राभूषित कर दो, निर्धन से धनवान् कर दो, निर्बल से बलवान् कर दो। देवाधिदेव, एक बार फिर अपनी कृपादृष्टि को मेरी ओर फेर दो। अपने स्तोता को फिर से सुखी कर दो। मेरे पिता बन जाओ। पिता की तरह मुझ अबोध शिशु के सब अपराधों को भुलाकर मेरे रक्षक और परित्राता हो जाओ।

मैं अपनी वर्तमान अवस्था से तंग आ गया हूँ। व्याकुल होकर पुकार मचा रहा हूँ। मेरा उद्धार करो, मेरा उद्धार करो!

पाद टिप्पणियाँ—

१. (जनानां प्रयुजः) मनुष्यों को प्रयत्न में प्रेरित करनेवाली भावनाओं ने (मा प्रयुयुज्रे) मुझे प्रयत्न में प्रेरित किया हुआ था। मैं (अन्तरेण) अपने अन्दर (पूषणं वहामि स्म) परिपुष्ट सूर्य को धारण किये रहता था, या 'पूषा' प्रभु को धारण किये रहता था। (अध) और (विश्वे देवासः) सब दिव्य गुण, सब देवजन तथा सब दिव्य प्राकृतिक पदार्थ (माम् अरक्षन्) मेरी रक्षा करते थे। जहाँ कहीं मैं जाता था, वहाँ (दुःशासुः आगात्) 'यह दुर्जेय पुरुष आ गया है' (इति घोषः आसीत्) यह आवाज उठती थी।

२. पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ —यजु० १७.६७

३. आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम। —अथर्व० २.११.१-५

४. (पर्शवः) कुएँ की ईंटें—संसारकूप के पार्श्वस्थ पदार्थ (सपत्नीः इव) एक पति वाली अनेक स्त्रियों के समान (मा संतपन्ति) मुझे सता रहे हैं। (अमतिः) मतिहीनता, (नग्नता) नंगापन, (जसुः) क्षीणता—निर्धनता और निर्बलता (निबाधते) पीड़ित कर रही हैं। (वेः न) पक्षी की मति के समान (मतिः वेवीयते) मेरी मति काँप रही है।

५. (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों को करनेवाले प्रभो, (ते स्तोतारं मा) तेरे स्तोता मुझको (आध्यः व्यदन्ति) चिन्ताएँ खाये जा रही हैं, (मूषः न शिश्ना) जैसे चुहिए आटे से पान कराये सूत को खा जाती हैं। (मघवन् इन्द्र) हे ऐश्वर्यों के राजा प्रभो, (सकृत् नः सु मृडय) एक बार तो मुझे सुखी कर दो। (अध नः पिता इव भव) और मेरे लिए पितृतुल्य हो जाओ।

६. नीचा सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रवयन्त्सास्युक्थ्यः। —ऋ० २.१३.१२

❑❑

जीवन के काले और श्वेत दिन

(ऋग्वेद, मण्डल ६, सूक्त ९)

[१]अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्नानरो जायमानो न राजाऽवातिरज्योतिषाग्निस्तमांसि॥ १ ॥

एक काला दिन है और एक श्वेत दिन है। ये दोनों अपने-अपने ज्ञातव्य घटना-चक्रों के साथ द्यावापृथिवी के अन्दर घूमते रहते हैं। घनघोर निशा की कालिमा से भूतल कृष्णवर्ण हो रहा है, नक्तंचर जीव इतस्ततः घूम रहे हैं, सर्वत्र काले दिनों का साम्राज्य छाया हुआ है। इतने में ही प्राची में वैश्वानर सूर्य की ज्योति झाँकती हुई दिखाई देती है। सूर्यदेव राजा बनकर गगनमण्डल के सिंहासन पर आरूढ़ होते हैं। देखते-ही-देखते काले दिन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और अपनी शुभ्र मुस्कराहट से सबको धवल करता हुआ श्वेत दिन सुशोभित होने लगता है।

इस प्राकृतिक घटनाचक्र के समान ही हमारे जीवनों में भी काले दिन और श्वेत दिन आया करते हैं। कभी ऐसा समय आता है जब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई देता है, निराशा की काली घटाएँ छा रही होती हैं, मार्ग नहीं दीखता, हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए होते हैं। अनेकों ऐसे दिन आते हैं जब हमारा मन शोकातुर होता है, नाना चिन्ताएँ हमें सता रही होती हैं, उनसे निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता। कभी धनहानि का दुःख है और कभी अपने किसी प्रियजन के वियोग के कारण आँखों के आगे अँधेरा छा रहा है। यह संसार असार दीखता है, जीवन दूभर प्रतीत होता है। ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं जब अन्तरात्मा की वाणी सुनाई देनी बन्द हो जाती है, आत्मसूर्य पर मोह का आवरण छा जाता है और हम कुमार्ग पर चलने लगते हैं। ये सब जीवन के काले दिन हैं।

परन्तु ये काले दिन सदा नहीं रहते। शीघ्र ही श्वेत दिन का आगमन होता है। जीवन के इन निराशा, भय, शोक, अज्ञान, तामसिकता के अन्धकारों को चीरकर आत्मसूर्य की दिव्य ज्योति उदित होती है। वैश्वानर आत्मा राजा बनकर हृदयासन पर विराजमान होते हैं। इन्द्रियरूप सब प्रजाओं को प्रकाश मिल जाता है एवं कभी काला दिन और कभी श्वेत दिन, यह चक्र मनुष्य के जीवन में चलता रहता है।

आज दुर्भाग्य से मेरा जीवन भी काले दिन का क्रीडास्थल बन गया है। कालिमा से ग्रस्त होकर मैं कुछ भी नहीं देख पा रहा—

[२]नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं, न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
कस्य स्वित् पुत्र इह वक्त्वानि, परो वदात्यवरेण पित्रा॥ २ ॥

जीवन के पट को बुनने के लिए ताना कौन-सा तनूँ और बाना कौन-सा

डालूँ, यह मैं कुछ भी नहीं जान पा रहा। न ही मुझे यह समझ में आ रहा है कि संसार में जीवन-पट को बुननेवाले जो सिद्धहस्त बुनकर हैं, वे किस नमूने के जीवन-पट को बुनते हैं, जिससे मैं उसी नमूने को सामने रखकर अपने जीवन को भी उसके अनुरूप बुन सकूँ। अब मैं किससे पूछूँ, किसे अपना गुरु बनाऊँ? कौन-सा ऐसा ज्ञानी पुत्र है जो काल की दृष्टि से अपने पिता से 'अवर' होता हुआ भी ज्ञान की दृष्टि से उससे 'पर' हो गया है? वही पुत्र, वही सद्गुरु, मुझे जीवन-पट को बुनने के विषय में वक्तव्य ज्ञान दे सकता है, अत: मैं उसी की खोज में हूँ, परन्तु ऐसे अद्भूत ज्ञानी को मैं कहाँ पाऊँ? जगत् के किस कोने में जाकर ढूँढूँ? महान् राजनीतिज्ञों में उसकी खोज करूँ या समाज-सुधारकों में उसे पाने का यत्न करूँ? दीनों की कुटियों में देखूँ या धनियों के राजभवनों में खोजूँ? नगरों की खाक छानूँ या हिमालय की कन्दराओं में जाकर दृष्टि दौड़ाऊँ? नहीं, नहीं, वह इनमें से किसी स्थान पर नहीं मिलेगा। मेरा गुरु तो मेरे अन्दर ही बैठा हुआ है—

[३]स इत् तन्तुं स विजानात्योतुं, स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा, अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन्॥ ३॥

मेरा शरीरस्थ आत्मा ही मेरा गुरु है। उसका नाम वैश्वानर अग्नि है, क्योंकि वह शरीर की सब प्रजाओं का नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। वह जीवन-पट के ताने को भी जानता है, बाने को भी जानता है, और किस नमूने का जीवन-पट बुना जाना चाहिए यह भी जानता है। वह अमर है, 'अमृतस्य गोपा:' है, तो भी वह शरीर में जन्म लेता है। वह अपने जन्मदाता पिता से 'अवर' भी है और 'पर' भी है। उसका शरीर बाद में उत्पन्न होने से वह पिता से अवर है, किन्तु आत्मरूप में वह पिता से भी पहले विद्यमान था, और ज्ञान में भी वह पिता का पिता है। वह समय-समय पर मुझे वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश करता भी रहता है, किन्तु मैं ही काले दिन के आसुरी कोलाहल से बधिर हुआ रहने के कारण उसकी दिव्य वाणी को सुन नहीं पाता।

उस आत्मरूप वैश्वानर ज्योति को शरीर में स्थापित करनेवाले प्रभु मुझे निरन्तर कह रहे हैं—

[४]अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥ ४॥

"यह आत्मा श्रेष्ठ 'होता' है, जीवनरूपी यज्ञ का संचालक है। तुम इसे देखो, यह मार्त्य शरीर में रहनेवाली अमर ज्योति है। यह आत्मा शरीर में प्रकट होकर, स्थित होकर उसमें बैठा हुआ है और शरीर की बुद्धि के साथ बढ़ रहा है, महिमान्वित हो रहा है।"

और शरीर में केवल यह आत्मरूपी ज्योति ही नहीं है—

[५]ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं, मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु॥ ५॥

देखने के लिए, ज्ञान-प्राप्ति के लिए, सब मनुष्यों के अन्दर एक अन्य ध्रुव, वेगवत्तम ज्योति निहित है, जिसे 'मन' कहते हैं। इस मन से 'समनाः' होकर देवजन सम्यक् प्रकार से किसी क्रतु को अर्थात् किसी बड़े संकल्प को, तदनुकूल विचार को तथा तदनुकूल महाकर्म को करने में समर्थ होते हैं। संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने कोई नवीन उज्ज्वल कार्य किए हैं, उन सबके अन्दर यह मनरूपी ज्योति जाज्वल्यमान रही है। इसी ज्योति के कारण वे कोई महासंकल्प कर सके, उस संकल्प की पूर्ति के लिए विचारश्रृंखला को फैला सके, योजनाएँ बना सके, तथा जब तक उन्हें कार्यसिद्धि नहीं मिल गई, तब तक उन योजनाओं की पूर्ति के लिए कटिबद्ध और कार्यसंलग्न रह सके।

बाह्य सामाजिक महापुरुषों के समान ही शरीर-नगरी में जो आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियरूपी महापुरुष बैठे हुए हैं, वे सब भी ज्ञानग्रहणरूपी महाकार्य को इस मनोरूप ज्योति के माध्यम से ही सम्यक् प्रकार कर पाते हैं।

यह सब ठीक है, परन्तु मेरी तो अवस्था ही भिन्न है,

[६]वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्, वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः, किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥ ६ ॥

मेरे दोनों कान इधर-उधर भाग रहे हैं, मेरी आँखें इधर-उधर भाग रही हैं, मेरी नासिका, मेरी रसना, मेरी त्वचा, मेरी सभी ज्ञानेनिद्रयाँ इधर-उधर जा रही हैं। ऐसा हो क्यों न, क्योंकि हृदय में निहित मेरी आत्मज्योति ही धूमिल हो गई है। इसके धूमिल पड़ जाने से मन भी तम-आच्छन्न होकर श्रेष्ठ क्रतु न करता हुआ नाना कुत्सित विचारों में उलझ गया है। ऐसी अवस्था में भला मैं क्या कोई ऊँची ज्ञान की बात बोलूँ, क्या कोई उच्च मनन-चिन्तन करूँ! मेरी शरीर-नगरी का, मेरी देवपुरी अयोध्या का, सारा साम्राज्य ही अस्तव्यस्त हो गया है। राजा के सो जाने से किसी राज्य की जो अवस्था हो जाती है, वही अवस्था आत्म-रूपी सम्राट् के सो जाने से मेरी शरीर-नगरी की हो गई है। अब आवश्यकता इस बात की है कि मेरा आत्म-सम्राट् जागरित होकर मनरूपी सचिव को प्रकाश तथा प्रेरणा प्रदान करने लगे, जिससे प्रेरित होकर मन समस्त इन्द्रियों को अपनी उच्च वृत्तियों से प्रभावित कर सके, अतः मैं तो अपने आत्मा को जगाने के लिए बार-बार पुकार मचा रहा हूँ—

[७]विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्नानरो ऽवतूतये नो ऽमर्त्यो ऽवतूतये नः ॥ ७ ॥

हे मेरे आत्मन्, हे मेरे वैश्वानर राजन्, तुम क्यों अन्धकार से आवृत हो गए? तुम्हारी ही ज्योति से तो मेरे शरीर के सारे देव ज्योतिष्मान् बने हुए थे। जैसे असमय में ही अकस्मात् सूर्य के पूर्णग्रहण को प्राप्त हो जाने पर, अन्धकारग्रस्त हो जाने पर, पशु-पक्षियों में कोलाहल मच जाता है, उनके चेहरे पर उद्विग्नता के चिह्न दिखाई देने लगते हैं, वैसी ही गति हे मेरे आत्मन्, तुमपर पूर्णग्रहण लग जाने से, तुमपर अन्धकार छा जाने से, मेरे शरीरस्थ सब देवों की हो गई है। तुम

सूर्य हो, मन चाँद है, तुम्हारी ही ज्योति से वह प्रकाशित है। तुम्हीं बुझ गए, तो मन भी बुझ गया। न तुम्हारा प्रकाश रहा, न मन का प्रकाश रहा। यह अवस्था देख सब इन्द्रियदेवों में खलबली मच गई है। प्रकाश न पाकर वे भी निस्तेज हुए जा रहे हैं। वे सब भयभीत हुए-हुए, आपके शरणागत होकर आपको नमस्कार कर रहे हैं और पुकार मचा रहे हैं—हे देव; तुम्हारे प्रकाश के बिना हम जीवित नहीं रह सकते, तुम अपनी इस क्रीडा को बन्द करो, अधिक देर हमें अन्धकार में न रखो, अपनी रश्मियों से आवरण को छिन्न-भिन्न कर हँसते हुए हमारे सम्मुख प्रकट हो जाओ। तुम अमर हो, तुम हमारे कर्णधार हो, तुम हमारे रक्षक हो; रक्षा करो, रक्षा करो!

पाद टिप्पणियाँ—

१. (अहः च कृष्णम्) एक काला दिन है, (अहः अर्जुनं च) और दूसरा श्वेत दिन है। ये दोनों (वेद्याभिः) अपनी ज्ञातव्य घटनाओं के साथ (रजसी) द्यावापृथिवी में (विवर्तेते) घूमते रहते हैं। (राजा न जायमानः) राजा के समान प्रकट होता हुआ (वैश्वानरः अग्निः) वैश्वानर अग्नि अर्थात् सूर्य या आत्मा (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (तमांसि) काले दिन के अन्धकारों को (अवातिरत्) विच्छिन्न कर देता है [तब श्वेत दिन आता है]।

२. (न अहं तन्तुं विजानामि) न मैं ताने को जानता हूँ, (न ओतुं विजानामि) न बाने को जानता हूँ, (समरे अतमानाः) संसार-संग्राम में गति करते हुए विद्वज्जनरूपी जुलाहे (यम्) जिस जीवन-पट को (वयन्ति) बुनते हैं, उसको भी (न विजानामि) मैं नहीं जानता। (कस्यस्वित् पुत्रः) भला किसका पुत्र है, जो (अवरेण पित्रा परः) ज्ञान में अपने पिता को 'अवर' करके तथा स्वयं 'पर' होकर (इह) इस संसार में (वक्त्वानि वदाति) वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश कर सकता है।

३. (सः इत्) वह आत्मा ही (तन्तुं विजानाति) ताने को जानता है। (सः ओतुं विजानाति) वही बाने को जानता है। (सः) वही (ऋतुथा) ऋतु-ऋतु में, समय-समय पर (वक्त्वानि वदाति) वक्तव्य ज्ञानों का उपदेश करता है, (यः अमृतस्य गोपाः) जो अमरता का संरक्षक आत्मा (अवः चरन्) एक रूप से 'अवर' होता हुआ भी (अन्येन परः) दूसरे रूप में 'पर' होकर (पश्यन्) देखता-भालता हुआ (ईं चिकेतत्) इस सबको जानता है।

४. (अयम्) यह आत्मा (प्रथमः होता) श्रेष्ठ 'होता' है—जीवनयज्ञ का संचालक है, (इदम्) इसे (पश्यत) देखो। (मर्त्येषु) मरणधर्मा शरीरों के अन्दर (इदम् अमृतं ज्योतिः) यह अमर ज्योति है। (अयं सः अमर्त्यः) इस अमर आत्मा ने (जज्ञे) शरीर में जन्म लिया है, (ध्रुवः आनिषत्तः) यह शरीर में स्थिर रूप में आकर स्थित हो गया है, और (तन्वा) शरीर के साथ (वर्धमानः) महिमा को प्राप्त हो रहा है।

५. (दृशये) ज्ञान-दर्शन के लिए (ध्रुवं ज्योतिः मनः) एक ध्रुव ज्योति मन भी (निहितम्) शरीर के अन्दर निहित है, जो कि (पतयत्सु अन्तः जविष्ठम्) गति

करनेवाले पदार्थों में सबसे अधिक वेगवान् है। (विश्वे देवाः) समस्त देवजन अथवा समस्त इन्द्रियगण (समनसः) उस मन से युक्त होकर (सकेताः) सज्ञान होकर (साधु) सम्यक् प्रकार से (एकं क्रतुम्) किसी महासंकल्प को (अभिवियन्ति) आगे ले जाते हैं।

६. (मे कर्णा) मेरे दोनों कान (वि पतयतः) इधर-उधर भाग रहे हैं, (चक्षुः वि पतयति) आँख इधर-उधर भाग रही है, (इदं ज्योतिः) वह आत्मारूपी ज्योति भी (यत् हृदये आहितम्) जो हृदय में निहित है (वि पतयति) इधर-उधर भाग रही है। (मे मनः) मेरा मन (दूरे आधीः) बहुत दूर नाना चिन्ताओं में (विचरति) भटक रहा है। ऐसी अवस्था में (किंस्विद् वक्ष्यामि) भला मैं क्या कोई ऊँची बात बोल सकूँगा, (किमु नु मनिष्ये) क्या कोई उच्च चिन्तन कर सकूँगा।

७. (अग्ने) हे आत्मन्! (तमसि तस्थिवांसं त्वाम्) तुझे अन्धकार के आवरण के अन्दर स्थित हुआ देखकर (विश्वे देवाः) सब देव, सब इन्द्रियगण (भियानाः) भयाकुल हो (अनमस्यन्) नमस्कार कर रहे हैं, और पुकार मचा रहे हैं कि (वैश्वानरः) यह सबका नायक आत्मा (ऊतये) रक्षा के लिए (नः अवतु) हमें प्राप्त हो जाए, (अमर्त्यः) यह अमर आत्मा (ऊतये) रक्षा के लिए (नः अवतु) हमें प्राप्त हो जाए।

□□

मधु का झरना

मैं चाहता हूँ कि संसार का प्रत्येक मानव सत्य की साधना करनेवाला हो, और प्रत्येक सत्यसाधक के ऊपर मधु बरसे, मधु का झरना झरे। पवन अपनी शीतल मन्द लहरियों के साथ मधु बहाकर लाएँ। कल-कल करती सरिताएँ अपनी सलिल-धाराओं के साथ मधु प्रवाहित करती हुई आएँ। रसभरी ओषधियाँ अपने अमृत-रस से हमारे जीवनों में मधु संचारित करें। इन सबसे मधु पाकर हम मधुमय हो जाएँ—

[१]मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥

—ऋ० १.९०.६

कभी अपने श्याम आँचल से माता के समान सबको आच्छादित करती हुई और कभी अपनी शान्त, मधुर, चटकीली चन्द्रिका को छिटकाती हुई विश्रामदायिनी रात्रियाँ हमारे लिए मधुमती हों। जागृति और नवस्फूर्ति देनेवाली स्वर्णिल उषाएँ मधुमयी हों। समस्त पार्थिव लोक मधुमय हो। पितृतुल्य पालनकर्त्ता द्युलोक भी मधुमय हो—

[२]मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

—ऋ० १.९०.७

हरित पत्रों का दुकूल ओढ़े हुए ये वृक्ष-वनस्पति हमारे लिए मधुमय हों। रश्मियों से जगत् को प्रकाशित करनेवाला पावन सूर्य मधुमय हो। अपने स्तनों से अमृतोपम दूध को क्षरित करनेवाली गौएँ मधुमयी हों—

[३]मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

—ऋ० १.९०.८

अहा! यह सामने मधुमयी लता दिखाई दे रही है। यह 'मधुयष्टि' अपने अन्दर मधुरस को लेकर उत्पन्न हुई है। हे मधुलता, मधु के लिए हम तुझे खनन करते हैं। तू मधुमय है, हमें भी मधुमय कर, हमें भी मधुमय कर—

[४]इयं वीरुन्मधुजाता, मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि, सा नो मधुमतस्कृधि॥

—अथर्व० १.३४.१

मेरे जिह्वाग्र पर मधु हो, जिह्वामूल में मधु हो। हे मधु, तुम मेरे एक-एक ज्ञान में, एक-एक संकल्प में, एक-एक कर्म में रम जाओ, तुम मेरे चित्त में बस जाओ—

[५]जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो, मम चित्तमुपायसि॥ —अथर्व० १.३४.२

मेरा घर से निकलना मधुमय हो, निकलकर कर्म-क्षेत्र में पग रखना मधुमय हो। मेरी वाणी में मधु हो, प्रत्येक गति-विधि में मैं साक्षात् मधु हो जाऊँ—

[६]मधुमन्मे निक्रमणं, मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्, भूयासं मधुसन्दृशः ॥ —अथर्व० १.३४.३

अहा, प्रकृति में सर्वत्र मधु रमा हुआ है। ये रम्य पर्वत-मालाएँ सिर उठाए खड़ी हैं, इनके अन्दर भी मधु है। इनके अन्दर हरियाली का मधु है, इनके अन्दर स्रोतों और झरनों का मधु है, इनके अन्दर वृक्ष-लताओं और फल-फूलों का मधु है, इनके अन्दर वनों की शान्ति का मधु है, इनके अन्दर पाषाणों की कठोरता का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो। बादलों के अन्दर भी मधु है, सरसता का मधु है, पवित्रता का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

गायों के अन्दर भी मधु है, गोरस का मधु है, परोपकारिता का मधु है, सौम्यता का मधु है, अहिंसा का मधु है, मातृत्व का मधु है, सरलता का मधु है वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

अश्वों के अन्दर भी मधु है, बल का मधु है, वेग का मधु है, शक्ति का मधु है; पुरुषत्व का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो।

द्राक्षासव प्रभृति आसवों के अन्दर भी मधु है, बलोत्तेजकता का मधु है, विकार-शामकता का मधु है, स्वास्थ्यवर्धकता का मधु है। वह मधु हमें भी प्राप्त हो—

[७]यद् गिरिषु पर्वतेषु, गोष्वश्वेषु यन्मधु।
सुरायां सिच्यमानायां, यत् तत्र मधु तन्मयि ॥ —अथर्व० ९.१.१८

हे अश्विदेवो, तुम भी हमारे जीवनों में मधु भरो, ऐसा मधु भरो जैसा सरघाओं (मधुमक्षिकाओं) का मधु होता है, जिसमें मिठास-ही-मिठास होता है।

हे द्यावापृथिवी, तुम अश्वियुगल कहलाते हो, तुम मधुरस से परिपूर्ण हो, हमें भी मधुरस प्रदान करो। हे सूर्य-चन्द्र, तुम भी अश्विद्वय नाम से प्रसिद्ध हो, तुम्हारे अन्दर भी अनुपम मधु भरा है, हमें भी उस मधु से सनाथ करो। हे अहोरात्रो, तुम भी 'अश्विनौ' हो, तुम भी मधु से विकसित हो, उस मधु का विकास हमारे अन्दर भी करो। हे प्राणापानो, तुम्हारी भी अश्विसंज्ञा है, तुम भी मधुसिक्त हो, हमें भी मधुसिक्त करो। हे शल्यचिकित्सक तथा ओषधिचिकित्सक वैद्यो, तुम भी अश्वि-युगल हो, तुम्हारे पास भी मधु है, जिस मधु से तुम दुःखियों का दुःख, रोगियों का रोग और आतुरों की आतुरता हरते हो। उस मधु में से कुछ अंश हमें भी प्रदान करो।

हे शुभ मधु के अधिपतियो, हमें ऐसा मधुमय कर दो कि हमारे अंग-अंग में मधु का वास हो जाए। हमारे आत्मा में मधु हो, हमारे प्राण में मधु हो, हमारी इन्द्रियों में मधु हो। तुम हमारी वाणी में वर्चस्विता का मधु उत्पन्न कर दो, जिससे हम परस्पर वर्चस्वती वाणी ही बोलें—

[८]अश्विना सारघेण मा, मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ —अथर्व० ९.१.१९

अन्त में मैं पुन: प्रकृति की एक-एक कणिका से मधु की पुकार करता हूँ। मेरे ऊपर मधु-वर्षा हो, मेरे राष्ट्र पर मधु-वर्षा हो, भूमि के सब राष्ट्रों पर मधु-वर्षा हो, मानवमात्र मधु से स्नात हो जाए।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (ऋतायते) सत्य आचरण के इच्छुक मनुष्य के लिए (वाता:) वायुएँ (मधु) मधु (क्षरन्ति) झराती हैं, (सिन्धव:) नदियाँ (मधु) मधु (क्षरन्ति) झराती हैं। इसी प्रकार (ओषधी:) ओषधियाँ (न:) हम सत्याचरणवालों के लिए (माध्वी:) मधुर (सन्तु) हों।

२. (नक्तम्) रात्रि (उत) और (उषस:) उषाएँ (न:) हमारे लिए (मधु) मधुर हों, (पार्थिवं रज:) पार्थिव लोक (मधुमत्) मधुर हो। (न: पिता) हमारा पितृतुल्य (द्यौ:) द्युलोक भी (न:) हमारे लिए (मधु) मधुर हो।

३. (न:) हमारे लिए (वनस्पति:) वनस्पति (मधुमान्) मधुमय हो, (सूर्य:) सूर्य (मधुमान् अस्तु) मधुमय हो। (गाव:) धेनुएँ व सूर्य-किरणें (न:) हमारे लिए (माध्वी:) मधुर (भवन्तु) हों।

४. (इयम्) यह (वीरुत्) लता (मधुजाता) मधुरस के साथ पैदा हुई है। (मधुना) मधु के निमित्त (त्वा खनामसि) हम तुझे खोदते हैं। तू (मधो: अधि) मधु में से (प्रजाता असि) उत्पन्न हुई है। (सा) वह तू (न:) हमें (मधुमत:) मधुमय (कृधि) कर दे।

५. (मे) मेरी (जिह्वाया:) जीभ के (अग्रे) अग्रभाग पर (मधु) मधु हो, (जिह्वामूले) जीभ के मूल में (मधूकम्) महुआ हो। हे मधु, तू (मम इत् अह) निश्चय ही मेरे (क्रतौ) कर्म में (अस:) स्थित हो जा, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) आ जा।

६. (मे) मेरा (निक्रमणम्) निकलना (मधुमत्) मधुर हो, (मे) मेरा (परायणम्) कार्यक्षेत्र में दूर-दूर जाना (मधुमत्) मधुर हो। मैं (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधुर (वदामि) बोलूँ। (मधुसन्दृश:) मधु जैसा (भूयासम्) हो जाऊँ।

७. (यत्) जो मधु (गिरिषु) बादलों में, और (पर्वतेषु) पहाड़ों में है, (यत् मधु) जो मधु (गोषु) गायों में, और (अश्वेषु) घोड़ों में है, (यत् मधु) जो मधु (तत्र) वहाँ (सिच्यमानायां सुरायाम्) सींची जाती हुई सुरा में, आसवों में है, (तत्) वह मधु (मयि) मुझमें हो।

८. हे (शुभस्पती) शुभ मधु के अधिपति (अश्विना) अश्वीदेवो, तुम (मा) मुझे (सारघेण) मधुमक्खियों के सदृश (मधुना) मधु से (अङ्क्तम्) उज्ज्वल करो, (यथा) जिससे, मैं (जनान् अनु) लोगों के प्रति (वर्चस्वतीं वाचम्) वर्चस्वती वाणी (आ वदानि) बोलूँ।

□□

मुझे पापों से बचाओ

जाने-अनजाने मैं अनेकविध पाप करता हूँ। कभी मैं ईश्वरीय नैतिक नियमों को भंग करता हूँ, कभी राष्ट्र के नियमों को तोड़ता हूँ, कभी सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता हूँ, कभी संघ-संस्था आदि के नियमों की उपेक्षा करता हूँ, कभी पारिवारिक नियमों को ठुकराता हूँ और कभी मानवीयता के नियम का तिरस्कार करता हूँ। मेरा यह पाप या नियमभंग मुझ तक ही सीमित नहीं रहता। मेरा प्रभाव मेरे साथी-संगियों पर पड़ता है, उन साथी-संगियों का प्रभाव उनके मित्रों पर पड़ता है। इस प्रकार शनैः-शनैः सारा समाज ही कलुषित हुआ जा रहा है, एवं पाप करके मैं केवल अपनी ही हानि नहीं, अपितु समस्त समाज और राष्ट्र की हानि कर रहा हूँ।

मैं राज्य के किसी अच्छे विभाग में एक उच्च पदाधिकारी था। सत्यनिष्ठा और ईमानदारी में मैं प्रसिद्ध था। लोग मेरा उदाहरण प्रस्तुत किया करते थे। मुझे देख मेरे अधीन कार्य करनेवाले कर्मचारी भी कभी सत्य से विचलित नहीं होते थे, परन्तु प्रलोभन आने पर मैं अपनी उस सत्यनिष्ठा पर स्थिर नहीं रह सका। एक बार किसी धनी पुरुष ने अपना कार्य सिद्ध कराने के लिए मुझे पचास सहस्र रुपयों का प्रलोभन दिया। मैंने उस कार्य को सार्वजनिक हित में अच्छा न समझते हुए भी धन के लोभ से कर डाला। यह मेरा आचरण पाप था।

मैं एक बड़ा राजकीय इंजीनियर था। बनते हुए सड़क-पुल-बाँधों का निरीक्षण किया करता था। गंगा के एक छोटे बाँध के निर्माण के लिए दस करोड़ रुपये का ठेका एक ठेकेदार ने लिया। पाँच लाख रुपये मेरे सन्मुख रिश्वत के रूप में प्रस्तुत किये गये। बाँध में रेत भर दिया गया। वह बाँध एक बरसात भी खड़ा न रह सका। गंगा की धार उसे बहा ले गयी। देश का दस करोड़ रुपया मिट्टी में मिल गया, परन्तु मुझे क्या, मेरी मुट्ठी में पांच लाख रुपये आ चुके थे। अब मैं सोचता हूँ वह पाप था।

मैं किसी संस्था में अध्यापक था, परन्तु मुझे परिश्रम से पढ़ाने तथा छात्रों को योग्य बनाने से कुछ सरोकार न था। बिना पढ़ाये भी छात्रों को परीक्षा में पास कराने की एक कुंजी मेरे पास थी। छात्रों को परीक्षा में नकल करवाकर शत-प्रतिशत परिणाम ला दिखाना मेरे बायें हाथ का खेल था, परन्तु मैं अब समझता हूँ कि मेरा वह कार्य देश के प्रति विश्वासघात था। देश के भावी नागरिकों, बच्चों के निर्माण का जो उत्तरदायित्व मैंने अपने ऊपर लिया था, उसे न निभाकर मैं पाप का ही अर्जन करता रहा हूँ।

मैं एक न्यायाधीश था, मेरे न्याय का सिक्का सब मानते थे। यह मनुष्य नहीं, भगवान् की ओर से भेजा हुआ देवदूत है, ऐसा मेरे विषय में लोग कहते थे, परन्तु एक मुकद्दमे में मैं अन्याय कर गया, झूठे को सच्चा सिद्ध कर गया,

क्योंकि मेरी जेब गरम कर दी गई थी, परन्तु मैं मानता हूँ वह पाप था।

मुझे बम्बई जाना था। मन ने कहा सौ-डेढ़ सौ रुपया किराये में क्यों फूँका जाये? बिना टिकट यात्रा करना भी तो एक कला है, क्यों न उसका ही प्रदर्शन करूँ! मैं बड़ी सफाई से बम्बई की यात्रा कर आया। किराये में एक पैसा भी खर्च न हुआ, परन्तु आज मैं अनुभव करता हूँ, वह रेलवे-विभाग के प्रति पाप था।

यों कहने को कहानियाँ और आप-बीतियाँ बहुत हैं। कहाँ तक सुनिएगा! में अपने नगर के गांधी-उद्यान में अपने परिवार के साथ भ्रमणार्थ निकल गया। पौधों और फूलों से सुसज्जित एक सुन्दर स्थान देखकर वहीं आसन जमाया। फलोंवाले से केले-सन्तरे खरीदे; मूँगफलियाँ खरीदीं। गन्नेवाला आया तो गन्ने ले लिये। खाकर छिलके तथा खोइयाँ इधर-उधर बखेरकर उस रमणीय स्थान को अच्छा खासा कूड़ाघर बनाकर हम चल पड़े। अब सोचता हूँ, सार्वजनिक स्थानों की पवित्रता की दृष्टि से यह भी एक पाप है।

मैंने अपने जीवन में अनेकों बार असत्य-भाषण किया है, चोरी की है, हिंसा की है, लूटपाट की है, सज्जनों को सताया है, माता-पिता एवं गुरुजनों का अपमान किया है, मित्रों से विश्वासघात किया है, छल किया है, अन्य बहुत-से पाप किये हैं। आज ईश्वर की कृपा से मेरे अन्दर सद्बुद्धि उत्पन्न हो गई है। मैं आज संकल्प करता हूँ कि पाप को अपने पास नहीं आने दूँगा।

[१]अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ —ऋ० १०.१६४.१

ओ मेरे मन को वश में कर लेनेवाले पाप-विचार, दूर हो जा, मेरे पास से कदम बढ़ा जा, परे भटकता फिर। जा, निर्ऋति (कृच्छ्रापत्ति) से जाकर कह दे कि मेरा मन खाली नहीं है। मुझ जीवित-जागरित का मन तो अनेक उत्तमोत्तम विचारों में लगा हुआ है। उसे तेरे स्वागत की फुर्सत नहीं है। अरे! यह क्या, तू जाकर फिर लौट आया। मेरे पास आकर बहकी-बहकी बातें मुझे फँसाने के लिए करने लगा, परन्तु खबरदार—

[२]परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर
गृहेषु गोषु मे मनः ॥ —अथर्व० ६.४५.१

दूर हो जा, ओ मन के पाप! क्यों तू आकर बुरी-बुरी सलाहें दे रहा है? चल, लम्बा बन यहाँ से, तुझे तेरी चाह नहीं है। जाकर वृक्षों से टक्कर मार, वनों में भटकता फिर। मेरा मन तो गो-सेवा में तथा घर के अन्य उपयोगी कार्यों में लगा हुआ है। मुझे तेरा अतिथ्य करने का अवकाश कहाँ है!

अरे! तू अब भी मेरे साथ चिपटा हुआ है, छोड़ने का नाम ही नहीं लेता। अच्छा ले, तू मुझे नहीं छोड़ता तो मैं ही तुझे छोड़ देता हूँ। यह देख, तेरी लपेट को मैं बलात् खोल रहा हूँ—

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ॥ —अथर्व० ६.२६.२

ओ पाप, तू सूर्य की किरणों में जाकर जल जा, अग्नि के धुएँ में घुट जा, शीत के पाले में गल जा, नदी के झागों के साथ बह जा—

[३]मरीचीर्धूमान् प्रविशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनां अनु तान् विनश्य ॥ —अथर्व० ६.११३.२

आज मैंने पापों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके देख लिया है। कुछ पाप ऐसे हैं जिन्हें मैं प्रबल इच्छा से करता हूँ, जानबूझकर मनसूबे बाँधकर उन पापों में प्रवृत्त होता हूँ। उन्हें करने में मुझे आनन्द आता है। एक बार की बात है, मैं अपने साथियों के साथ यात्रा पर निकला। हम रेलगाड़ी में सफर कर रहे थे। छात्रावस्था थी, हमारे मनों में शैतान ने प्रवेश किया। आपस में सलाह कर एक योजना बनायी। एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो नीचे उतरकर बहुत-से कंकर-पत्थर बटोर-कर झोलों में भर लिये। गाड़ी चल पड़ी। रास्ते में पगडण्डी पर चलते हुए जो लोग मिलते उन्हें पत्थर मारते और आनन्द लेते। यह भूत हम पर ऐसा सवार हुआ कि हम उस डब्बे में बैठे हुए दो-चार अन्य यात्रियों के मना करने पर भी न माने। यह प्रबल इच्छा का पाप था।

कभी मैं इच्छा न होते हुए भी अनमने भाव से ही पाप में प्रवृत्त हो जाता हूँ। एक बार गाँव के एक हरिजन से मेरे एक साथी की कहा-सुनी हो गयी। वह तो आग-बबूला हो गया। हरिजन होकर हमारे मुँह लगता है! उसने चार-छः साथियों को इकट्ठा कर लिया। योजना बनाई कि रात को इसकी झोंपड़ी जला देंगे। मुझे भी साथ चलने के लिए कहा गया। मैं ऐसा दुष्ट कर्म बिल्कुल भी नहीं करना चाहता था, परन्तु मना न कर सका। अनिच्छा के साथ चल दिया। रास्ते में कई बार मन में विचार आया कि लौट पड़ूँ, परन्तु उस पाप में तो मुझे साझीदार होना था, लौटता कैसे? झोंपड़ी को लपटों ने घेर लिया। बेचारे गरीब का सब सामान राख हो गया। एक बच्चा भी झुलस गया। ग्लानि से मेरा मन भर उठा, क्यों मैंने यह पाप किया?

कभी-कभी मैं दबी इच्छा से पाप करता हूँ। एक बार की बात है। मैं एक सेठ के यहाँ मुनीम था। वे रुपया-पैसा मुझपर छोड़ निश्चिन्त रहते थे। एक दिन मुझे दो हजार रुपये की आवश्यकता पड़ गयी। सेठ जी से माँगता तो वे भी दे देते, परन्तु न जाने क्यों मन में पाप आ गया! मैंने दो हजार रुपया तिजोरी से निकाल लिया और तिजोरी का ताला खुला छोड़ दिया। दुकान से बाहर का ताला भी खुला छोड़ ऐसे लटका दिया जैसे बन्द हो। प्रातःकाल दुकान के एक नौकर को साथ लेकर आया और सेठ जी को सूचना भिजवा दी कि चोरी हो गयी है। स्वामी को ठगने का यह पाप मैंने डरते-डरते दबी इच्छा से किया था।

इसी प्रकार अनेक पाप जैसे मैं जागते हुए क्रियारूप में करता हूँ, वैसे ही सोते हुए स्वप्न में भी करता हूँ, परन्तु आज अग्निहोत्र की वेला में अग्नि प्रज्वलित कर वेद के शब्दों में मैं पुकार रहा हूँ कि हे अग्निदेव, जैसे तुम उज्ज्वल हो वैसे ही मुझे भी उज्ज्वल बना दो—

[४]यदाशसा निःशसा-अभिशसा
उपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतानि
अजुष्टानि आरे अस्मद्दधातु ॥ —ऋ० १.१६४.६

प्रबल इच्छा से, अनिच्छा से, दबी इच्छा से, जागते-सोते सावधानी में या असावधानी में जो पाप मुझसे होते रहते हैं उन सबको यह अग्निहोत्र का अग्नि अथवा तेजोमय प्रभु मुझसे दूर कर देवे।

अग्नि के साथ-साथ मैं इन्द्र तथा वरुण से भी पापों से छूटने की प्रार्थना करता हूँ—

[५]यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ —अथर्व० ६.४५.३

हे विशाल जगत् के अधिपति इन्द्र तथा हे राजन् वरुण, जो पापाचरण का व्यसन हमें लग गया है उससे आप छुड़ा दीजिए। हे इन्द्र प्रभो, आपको भक्तजन इन्द्र इस कारण कहते हैं कि आप परमैश्वर्यवान् हैं (इदि परमैश्वर्ये), पवित्र सद्गुणों की अपार सम्पत्ति आपके पास है। गुणों की उस सम्पत्ति में से कुछ अंश हमें भी प्रदान कीजिए। इसलिए भी आप इन्द्र कहलाते हैं कि आप सब दुर्गुणों को, पाप-रिपुओं को विदारण करनेवाले हैं (इदं पापं दृणाति इति इन्द्रः)। हमारे भी पापों का विदारण कीजिए।

हे प्रभो, आप प्रचेता वरुण हैं। वेद कहता है कि आपके पास सैकड़ों-सहस्रों पाश हैं। सदा जागरूक चित्त के साथ हाथ में दण्ड-पाश लिये आप प्रत्येक मानव की गतिविधि को देख रहे हैं। आपकी दृष्टि से कोई नहीं बच सकता। आप पाप करनेवाले को तुरन्त अपने पाशों से बाँध लेते हैं और तब तक वह उन पाशों से नहीं छूट पाता जबतक उस पाप का दण्ड नहीं भोग लेता। जगत् की प्रजा आपको पुकारकर कह रही है—

[६]शतेन पाशैरभिधेहि वरुण-एनं ।
मा ते मोचि अनृतवाङ् नृचक्षः ॥ —अथर्व० ४.१६.७

"हे प्रभो, पापी को आप अपने शत-शत पाशों से जकड़ लो। वह आपसे बच-कर न निकलने पाये।"

आपके इस रूप को देखकर मैं भयभीत हो गया हूँ। पाप करने पर आपके कठोर दण्ड से मैं बच नहीं सकता, यह जान कर मेरे अन्दर पापों से पृथक् होने की अभिलाषा जाग गयी है। हे वरुण, ऐसी कृपा करो कि मैं पापों से सर्वथा मुक्त हो जाऊँ, जिससे आपके पाश मुझे न जकड़कर अन्य पापियों को जकड़ें।

मेरे अन्दर आज पाप-व्यसन से छूटने की ऐसी आतुरता उत्पन्न हो गयी है कि मैं समस्त देवपुरुषों के आगे हाथ पसारकर पाप-मुक्ति की भिक्षा माँग रहा हूँ—

[८]यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान् मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥
—अथर्व० ६.११५.१

हे देवजनो, हे वाल्मीकि, व्यास, राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, शंकर, दयानन्द, गाँधी के सदृश महापुरुषो, आपका व्यवहार, आपका आचरण, आपका चलना-फिरना, उठना-बैठना, वार्त्तालाप करना सब पवित्र है, निष्कलंक है, निष्पाप है। आपसे शिक्षा लेकर मैं भी अपने जीवन को निष्पाप करूँ। जो कुछ जाने-अनजाने पाप करता रहता हूँ, अपने दिव्य पवित्र जीवन की झाँकी दिखाकर उनसे मुझे मुक्त कर दो।

[८]यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥
—अथर्व० ६.११५.२

मैं पापों के साथ ऐसे बँधा हुआ हूँ, जैसे पशु खूँटे के साथ बँधा होता है। जैसे वह पशु खूँटे के बन्धन से अपने-आपको छुड़ाने के लिए छटपटा रहा होता है, वैसे ही मैं पाप से छूटने के लिए छटपटा रहा हूँ। भूत और भव्य मुझे इस पाप से छुड़ा देवें। मैं अपने देश के, अपने समाज के, अपने वंश के भूत पर दृष्टिपात करता हूँ। मेरा देश किसी समय कैसा महान् था! खोजने पर भी कहीं पाप के दर्शन नहीं होते थे। उस समय के राजा लोग विश्वास के साथ यह घोषणा कर सकते थे—

[९]न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
—छा० उप० ५.११.५

"मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कृपण नही है, शराबी नहीं है, अग्निहोत्र न करनेवाला नहीं है, मूर्ख नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, व्यभिचारिणी फिर कहाँ से हो?"

मेरे समाज का भी भूत महान् था। मैंने बड़े-बूढ़ों के मुख से अपने समाज की पुरानी कहानियाँ सुनी हैं। मेरे समाज में धर्म के प्रति जो उत्साह था, कर्त्तव्य-पालन के प्रति जो तत्परता थी, सत्य के प्रति जो निष्ठा थी वह आज कहाँ दृष्टि-गोचर होती है? मेरे वंश का भी भूत महान् था। मेरी माँ-दादी सुनाती हैं कि मेरे पितामह-प्रपितामह कैसे धर्मात्मा थे, कैसी उनकी मान-मर्यादा थी। एवं जब मेरे देश का, मेरे समाज का, मेरे कुल का भूत ऐसा उज्ज्वल है तो मेरा ही चरित्र मलिन तथा पाप से कलंकित क्यों हो? मैं आज से व्रत लेता हूँ कि भूत से शिक्षा लेकर अपने चरित्र का समग्र कालुष्य धो डालूँगा।

भव्य अर्थात् भविष्य भी मुझे पाप से छुड़ा सकता है। जैसे देश और समाज के नेता लोग भावी देश और समाज का काल्पनिक चित्र खींचकर तदनुसार देश

और समाज को उन्नत करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही मैं भी अपने भावी उज्ज्वल चरित्र के स्वप्न लेकर आज से उन्हें साकार करना प्रारम्भ करता हूँ।

[१०]द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥

—अथर्व० ६.११५.३

हाँ, मैं पाप से छूटने के लिए आतुर हूँ। जैसे पशु खूँटे से मुक्त होकर निश्चिन्त होता है, जैसे पसीने से भीगा हुआ मनुष्य स्नान करके निर्मल होता है, जैसे छाछ-मिला घृत छन्ने से छाना जाकर पवित्र होता है, वैसे मैं पाप से मुक्त होकर पवित्र होना चाहता हूँ।

मैं अधीर हो रहा हूँ। अब देर तक पाप के बन्धन से बँधा नहीं रह सकता। प्रकृति की एक-एक वस्तु से, जड़-चेतन सबसे पापमुक्त होने की पुकार कर रहा हूँ। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु, सूर्य, चाँद, सितारे, वनस्पतियाँ, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, दिन, मास, ऋतुएँ, वर्ष सभी पापों से मुक्त हैं। सभी अपने-अपने नियमों का पालन कर रहे हैं। तो फिर मैं ही एक अभागा प्राणी क्यों पापों में लिप्त रहूँ?

[११]अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

—अथर्व० ११.६.५

दिन से कहता हूँ, रात्रि से कहता हूँ, सूर्य से कहता हूँ, चाँद से कहता हूँ, सब आदित्यों से कहता हूँ कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

[१२]वातं ब्रूमः पर्जन्यम् अन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

—अथर्व० ११.६.६

वायु से कहता हूँ, बादल से कहता हूँ, आकाश से कहता हूँ, दिशाओं से कहता हूँ, उपदिशाओं से कहता हूँ कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

[१३]पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

—अथर्व० ११.६.८

पृथ्वीचर पशुओं से कहता हूँ, गगनविहारी पक्षियों से कहता हूँ, वनचर मृगों से कहता हूँ कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

[१४]दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

—अथर्व० ११.६.१०

आसमान से कहता हूँ, सितारों से कहता हूँ, यक्षों से कहता हूँ, पर्वतों से कहता हूँ, नदियों से कहता हूँ, जलाशयों से कहता हूँ, कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

[१५]यज्ञं ब्रूमो यजमानम् ऋचः सामानि भेषजा।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
—अथर्व० ११.६.१४

यज्ञ से कहता हूँ, यजमान से कहता हूँ, ऋग्वेद के मन्त्रों से कहता हूँ, सामवेद के मन्त्रों से कहता हूँ, यजुर्वेद के मन्त्रों से कहता हूँ, अथर्ववेद के मन्त्रों से कहता हूँ, अग्निहोत्र की हवियों से कहता हूँ कि मुझे पाप से छुड़ाओ।

[१६]पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥
—अथर्व० ६.१९.१

देवपुरुष मुझे पवित्र करें, विचारशील जन अपने सद्विचारों से मुझे पवित्र करें, प्रकृति के सब भूत मुझे पवित्र करें, पवित्रता का साक्षात् अवतार पतितपावन प्रभु मुझे पवित्र करे।

अहा, देखो मेरी प्रार्थना सफल हो गई। आज मन का सब कालुष्य धुल गया। मैंने प्राप्तव्य को पा लिया। मैं निष्पाप हो गया। प्रभु की अनुकम्पा से मेरे अन्तस्तल में पवित्रता का स्रोत फूट निकला। आज विजय के उल्लास में मेरा हृदय बल्लियों उछल रहा है—

[१७]अजैष्म-अद्य-असनाम-अद्याभूम-अनागसो वयम्।
—अथर्व० १६.६.१

पाद टिप्पणियाँ—

१. हे (मनसः पते) मन को काबू में कर लेनेवाले पाप, तू (अपेहि) परे हट जा, (अप क्राम) कदम बढ़ा जा, (परः चर) दूर भटक। तू मुझे कष्टापत्ति में डालना चाहता है, परन्तु (परः) दूर होकर तू (निर्ऋत्यै) कष्टापत्ति से (आचक्ष्व) कह दे कि (जीवतः) मुझे जीवित-जागृत का (मनः) मन (बहुधा) बहुत-से कार्यों में लगा हुआ है, अतः मेरे पास न आए।

२. (मनस्पाप) ओ मन के पाप, (परः अपेहि) दूर हो जा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त सलाहें (शंससि) कह रहा है? (परेहि) दूर हट जा, मैं (त्वा) तुझे (न कामये) नहीं चाहता हूँ। तू (वृक्षान्) वृक्षों पर, और (वनानि) जंगलों में (संचर) घूमता फिर। (मे मनः) मेरा मन तो (गृहेषु) घर के कार्यों में, और (गोषु) गायों की सेवा में लगा है।

३. (पाप्मन्) ओ पाप, तू (मरीचीः) तपती सूर्य-किरणों में, और (धूमान्) धुओं में (प्रविश) प्रविष्ट हो जा, अर्थात् जल या घुट जा। (उदारान्) ऊँचे खड़े पहाड़ों में (उत वा) अथवा (नीहारान्) कुहरों में (गच्छ) चला जा। (तान्) उन (नदीनां फेनान् अनु) नदियों के झागों के साथ-साथ (विनश्य) नष्ट हो जा। यह उग्रता को प्रकट करने की शैली है।

४. (यत्) जिन पापों को (आशसा) प्रबल इच्छा से, (निःशसा) अनिच्छा से,

(अभिशसा) दबी इच्छा से (उपारिम) हमने प्राप्त किया है, (यत्) जिन पापों को (जाग्रतः) जागते हुए, अथवा (स्वपन्तः) सोते हुए प्राप्त किया है, उन (अजुष्टानि) अप्रिय (विश्वानि) सब (दुष्कृतानि) पाप-कर्मों को (अग्निः) तेजस्वी परमेश्वर अथवा यज्ञाग्नि (अस्मात्) हमसे (आरे अपदधातु) दूर कर देवे।

५. हे (ब्रह्मणस्पते इन्द्र) विशाल जगत् के अधिपति इन्द्र प्रभु, (यत्) जो हम (मृषा अपि चरामसि) असत्य आचरण करते हैं, उस (अंहसः दुरितात्) मारक पाप से, आप तथा (आंगिरसः प्रचेताः) प्राणों का स्वामी प्रकृष्ट ज्ञानी वरुण प्रभु (नः पातु) हमें बचाए।

६. हे (नृचक्षः वरुण) सब मनुष्यों को देखनेवाले पापनिवारक वरणीय प्रभु, आप (एनम्) इस पापी को (शतेन पाशैः) सौ पाशों से (अभि धेहि) जकड़ लो। (अनृतवाक्) असत्यभाषी पापी (ते मा मोचि) आपसे छूटने न पाए।

७. (यत्) जो (विद्वांसः) जानते हुए (यत्) जो (अविद्वांसः) न जानते हुए (वयम्) हम (एनांसि) पापों को (चकृम) करते रहते हैं, हे (सजोषसः विश्वे देवाः) समान प्रीतिवाले सब देवपुरुषो, (यूयम्) तुम (तस्मात्) उन पापों से (नः) हमें (मुञ्चत) छुड़ा दो।

८. (यदि जाग्रत्) यदि जागते हुए, अथवा (यदि स्वप्ने) यदि स्वप्न में (एनस्यः अहम्) पापव्यसनी मैं (एनः अकरम्) पाप करता हूँ, तो (भूतं भव्यं च) भूत और भविष्य (द्रुपदात्-इव) जैसे खूँटे से कोई किसी को छुड़ाता है वैसे ही (मा) मुझे (मुञ्चताम्) छुड़ा देवें।

९. (मे जनपदे) मेरे राज्य में (न स्तेनः) न चोर है, (न कदर्यः) न कंजूस है, (न मद्यपः) न शराबी है, (न अनाहिताग्निः) न अनग्निहोत्री है, (न अविद्वान्) न मूर्ख है, (न स्वैरी) न व्यभिचारी है, (स्वैरिणी कुतः) जब व्याभिचारी ही नहीं है तो व्यभचारिणी कहाँ हो सकती है!

१०. (द्रुपदात्-इव) जैसे खूँटे से (मुमुचानः) कोई छूट जाता है, (स्विन्नः) पसीने से तर-ब-तर मनुष्य (स्नात्वा) स्नान करके (मलात्-इव) जैसे मल से छूट जाता है, (पवित्रेण-इव) जैसे छन्नी से (पूतम्) छाना हुआ (आज्यम्) घृत छाछ से छूट जाता है, वैसे ही (विश्वे) सब विद्वान् लोग (मा) मुझे (एनसः) पाप से छुड़ाकर (शुम्भन्तु) शुद्ध कर दें।

११. (अहोरात्रे) दिन-रात्रि को, (सूर्याचन्द्रमसौ उभा) सूर्य-चन्द्रमा दोनों को (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं और (विश्वान् आदित्यान्) सब आदित्यों को (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएँ।

१२. (वातम्) वायु को, (पर्जन्यम्) बादल को, (अन्तरिक्षम्) आकाश को (अथो) और (दिशः) दिशाओं को (ब्रूमः) हम कहते हैं, (सर्वाः आशाः च) और सब उपदिशाओं को (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएँ।

१३. (ये) जो (पार्थिवाः) पृथिवी-संचारी, (दिव्याः) आकाश-संचारी (पशवः) प्राणी हैं, (उत) और (आरण्याः मृगाः) जंगली पशु हैं उनको और (शकुन्तान् पक्षिणः) उड़ने में समर्थ पक्षियों को (ब्रूमः) हम कहते हैं कि (ते) वे (नः)

हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएँ।

१४. (दिवम्) द्यौ लोक को, (नक्षत्राणि) नक्षत्रों को, (भूमिम्) भूमि को, (यक्षाणि) यक्षों को, पूजनीय जनों को, और (पर्वतान्) पहाड़ों को (ब्रूमः) हम कहते हैं, तथा जो (समुद्राः) समुद्र, (नद्यः) नदियाँ एवं (वेशन्ताः) जलाशय हैं, उन्हें कहते हैं कि (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएँ।

१५. (यज्ञम्) यज्ञ को, (यजमानम्) यजमान को, (ऋचः) ऋचाओं को, (सामानि) साम-मन्त्रों को, (भेषजा) अथर्ववेद के मन्त्रों को (ब्रूमः) हम कहते हैं तथा (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्रों को एवं (होत्रा) अग्निहोत्र की हवियों को (ब्रूमः) कहते हैं कि (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ाएँ।

१६. (देवजनाः) देव-पुरुष (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, (मनवः) मननशील लोग (धिया) अपने कर्म और ज्ञान से (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा भूतानि) सब प्राणी (पुनन्तु) पवित्र करें। (पवमानः) पावक प्रभु (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे।

१७. हम (अजैष्म) जीत गए हैं। (अद्य) आज हमने (असनाम) प्रासव्य को पा लिया है। (अद्य) आज (वयम्) हम (अनागसः) निष्पाप (अभूम) हो गए हैं।

□□

मानव-शरीर की महत्ता

यह सर्वश्रेष्ठ है

जितने भी सजीव शरीर हैं, उनमें मानव-शरीर की महत्ता सबसे अधिक है। ऐतरेय उपनिषद् का एक छोटा-सा कथानक है—"सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य आदि देवों की रचना की। वे देव जब जगत् में अवतीर्ण हुए तब कहने लगे कि हमें रहने के लिए घर दीजिए, जहाँ रहकर हम अपने-अपने भोगों को भोग सकें। परमात्मा उनके आगे गाय का शरीर लाया। उन्होंने कहा यह हमें पसन्द नहीं है। परमात्मा उनके आगे घोड़े का शरीर लाया। उन्होंने कहा यह भी हमें पसन्द नहीं है। फिर परमात्मा उनके आगे पुरुष का शरीर लाया। उसे देखते ही वे उछल पड़े और बोले यह बहुत अच्छा बना है, यह हमें पसन्द है। तुरन्त सब देव उसमें प्रविष्ट हो गए और उन्होंने अपना-अपना स्थान चुन लिया।"[१] कथानक द्वारा उपनिषत्कार ने बहुत सुन्दर रूप में मानव-शरीर की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

सचमुच मानव-शरीर की रचना और क्रियाशक्ति बड़ी अद्भुत है। इसीलिए अथर्ववेद का कवि इसके एक-एक अंग पर मुग्ध होता हुआ 'केन सूक्त' में कहता है—"अहो, किस विलक्षण कारीगर ने इस मानव-शरीर में एड़ियाँ बनाई हैं, किसने मांस भरा है, किसने टखने बनाए हैं, किसने परुओं वाली अँगुलियाँ बनाई हैं, किसने इन्द्रियों के छिद्र बनाए हैं, किसने तलवे और किसने मध्य का आधार बनाया है ? किस उपादान-कारण से लेकर इस शरीर में नीचे टखने और उसके ऊपर घुटने बनाए गए हैं, जाँघें जोड़ी गई हैं, दोनों घुटनों के जोड़ रचे गए हैं ? घुटनों से ऊपर यह धड़, जिसके चारों सिरों पर दो भुजा और दो जाँघों के चार जोड़ हैं, किस कारीगर ने बनाया है ? किसने कूल्हे बनाए हैं जहाँ दोनों जाँघों की हड्डियाँ जुड़ी हैं ? अहो, कितने और कौन-से वे कारीगर थे जिन्होंने मनुष्य की छाती और गर्दन बनाई, स्तन बनाए, कपोल बनाए, कन्धे बनाए, पसलियाँ बनाई ? किस कारीगर ने वीरता के कार्य करने के लिए इसकी दोनों भुजाएँ बनाई हैं ? किसने दोनों कन्धों को शरीर के साथ जोड़ा है ? किसने इसके दो कान रचे हैं, दो नाक के छेद रचे हैं, दो आँखें रची हैं, मुख रचा है ? सिर के ये सातों छेद किसने घड़े हैं ? कहो, किसने दोनों जबाड़ों के बीच में जिह्वा रखी है, जिससे यह वाणी बोलती है ? कौन-सा वह कारीगर है, जिसने इसका मस्तिष्क बनाया है, ललाट बनाया है, गले की घाँटी बनाई है, कपाल बनाया है ? किसने इसके दोनों जबाड़ों में श्रृंखलाबद्ध दाँत जड़े हैं ? किसने इस शरीर में रक्त भरा है, जो लाल-नीला रूप धारण कर हृदयसिन्धु से आता-जाता है और ऊपर-नीचे इधर-उधर सब ओर प्रवाहित होता है ? किसने शरीर में रूप भरा है ? किसने इसमें नाम और महिमा निहित की है ? किसने प्रगति, ज्ञान और

चरित्र को पैदा किया है? किसने इसमें प्राण-अपान का ताना-बाना किया है, किस देव ने इसमें समान को निहित किया है? किसने शरीर के ऊपर त्वचा का वस्त्र पहनाया है, किसने इसकी आयु रची है, किसने इसे बल प्रदान किया है, किसने इसे वेग दिया है? किसने इसमें रेतस् भरा है, जिससे यह प्रजातन्तु का विस्तार करता है? किसने इसमें बुद्धि पैदा की है, किसने इसे वाणी और नृत्य-कला दी है? —अथर्व० १०.२.१-१७

मानव-शरीर की अद्भुत कृति पर ऐसे ही उद्गार सहसा प्रत्येक के मुख से निकल पड़ते हैं। मनुष्य व्यक्त वाणी द्वारा अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है, मन से चिन्तन कर सकता है, बुद्धि से बड़ी-बड़ी समस्याओं को सुलझा सकता है। ये सब बातें अन्य शरीरों की अपेक्षा मानव-शरीर में विलक्षण हैं, जिनके कारण उसे श्रेष्ठता का पद मिला है।

यह देवपुरी है

इस मानव-शरीर को देवों की पुरी कहा गया है। ब्रह्माण्ड के सब देव इस शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर अपना-अपना स्थान बनाकर बैठे हुए हैं। अथर्ववेद ११.८ के अनुसार "शरीर की हड्डियों को समिधाएँ बनाकर, रस-रक्त आदि को जल बनाकर, रेतस् को घृत बनाकर सब देवपुरुष शरीर में प्रविष्ट हुए हैं और यज्ञ रच रहे हैं। इस शरीर में सब जल, सब देवता, समस्त विराट् जगत् प्रविष्ट है, प्रजापति ब्रह्म भी इसके अन्दर है। सूर्य चक्षुरूप में प्रविष्ट हुए हैं और यज्ञ रच रहे हैं। इस शरीर में सब जल, सब देवता, समस्त विराट् जगत् प्रविष्ट हैं, प्रजापति ब्रह्म भी इसके अन्दर है। सूर्य चक्षुरूप में शरीर में विद्यमान है, वाय प्राण रूप में; शरीर के अन्य अंग अग्नि को मिले हैं। जो विद्वान् है वहइस मानव-शरीर को साक्षात् देवपुरी या ब्रह्मपुरी समझता है, क्योंकि जैसे गौएँ गौशाला में रहती हैं वैसे ही सब देव इस शरीर में आकर बसे हुए हैं।"[२] ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार, "अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट है, ओषधि-वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हैं, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट है, जल रेतस् बनकर शिश्न में प्रविष्ट है।"[३]

अथर्ववेद १०.२.३१-३३ के अनुसार मानव-शरीर देवपुरी अयोध्या है, जिसमें आठ चक्र हैं, नौ द्वार हैं। इस पुरी के अन्दर एक ज्योति से आवृत हिरण्यय कोश के अन्दर एक यक्ष वास करता है, जिसे वे जानते हैं, जो ब्रह्मवित् हैं। इस प्रभ्राजमाना, हृदयहारिणी, यशोमयी, अपराजिता, स्वर्णिम देवपुरी में ब्रह्मा का वास है।[४]

इस प्रकार मानव-शरीर के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण यह है कि यह एक देवपुरी है, आँख-कान-नाक आदि सब अवयव एक-एक देवता के प्रतिनिधि हैं। वैदिक विचार के अनुसार यह शरीर मल-मूत्र का चोला, या त्यागनेयोग्य वस्तु नहीं है। मानव-आत्मा को अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि देवताओं की यह पुरी उसे रहने के लिए मिली है।

यह यज्ञस्थली है

इस शरीर के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में यह विचार भी मिलता है कि यह एक यज्ञस्थली है। इस शरीर को हमें विषय-भोग का ही साधन न समझकर एक पवित्र यज्ञगृह समझना चाहिए। अथर्व० १०.२.१४ "किस एक देव ने पुरुष-शरीर के अन्दर यज्ञ को निहित किया है?"[५] यह कहता हुआ मानव-शरीर की यज्ञमयता को स्वीकार करता है। अथर्व० ११.८.२९ जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, शरीर की यज्ञमयता को बताता हुआ कहता है कि शरीर में हड्डियाँ ही समिधाएँ हैं, रुधिर-वस्ति आदि के आठ प्रकार के जल ही यज्ञिय जल हैं और रेतस् ही घृत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हड्डियों को समिधा तथा रेतस् को घृत कहा गया है।[६] यजुर्वेद ३४.४ में मन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मन के द्वारा ही सप्तहोता यज्ञ चलता है।[७] यह सप्तहोता यज्ञ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन सात होताओं से परिचालित होनेवाला ज्ञानप्राप्तिरूप यज्ञ ही है, जो शरीररूपी यज्ञशाला में होता है। गोपथ ब्राह्मण में शारीरिक यज्ञ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"पुरुष का शरीर यज्ञ-भूमि है। मन ही इस यज्ञ का ब्रह्मा है, प्राण उद्गाता है, अपान प्रस्तोता है, व्यान प्रतिहर्ता है, आँख अध्वर्यु है, प्रजापति सदस्य है, अन्य अंग होत्राशंसी हैं, आत्मा यजमान है।"[८] छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रकरण में मानव-शरीर के यज्ञ का वर्णन इस रूप में मिलता है—"पुरुष-शरीर एक यज्ञ है, उसकी आयु के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातःसवन हैं....अगले चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं...उससे आगे अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं....इस प्रकार यह एक सौ सोलह वर्ष चलनेवाला यज्ञ है। इस भावना से जो अपने शरीर को चलाता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रह सकता है।"[९]

यह ऋषिभूमि है

यह शरीर ऋषियों की भूमि भी है। यजुर्वेद ३४.५५ में कहा है कि "इस शरीर में सात ऋषि बैठे हुए हैं। वे सातों बिना प्रमाद किए इस शरीर की रक्षा कर रहे हैं। जब यह शरीर सोता है तब सातों ऋषि आत्मलोक में चले जाते हैं, परन्तु दो देव ऐसे हैं जो उस समय भी शरीर में जागते रहते हैं।"[१०] निरुक्त की व्याख्या के अनुसार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि, शरीर के सात ऋषि हैं। ये सदैव शरीर की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यदि शरीर में से ये ऋषि निकल जाएँ और मनुष्य आँख से देख न सके, नासिका से गंध ग्रहण न कर सके, कान से सुन न सके, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान न कर सके, मन से चिन्तन और बुद्धि से विवेचन न कर सके, तो कोई भी आकर उसकी हिंसा कर सकता है। आँख आदि के अभाव में उसे ज्ञान तक न होगा कि कोई उसकी हिंसा करने आया है। जब यह शरीर सोता है तब आँख आदि ऋषि स्थूलरूप में अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं; उस समय वे आत्मलोक में चले जाते हैं, किन्तु उस समय भी आत्मा और प्राण ये दो देव शरीर में जागते रहते हैं, क्योंकि ये भी कहीं चले जाएँ तो शरीर मृत ही हो जाए।

अथर्व १०.८.९ में शरीर के विषय में यह वर्णन मिलता है कि "यह एक चमस (चम्मच या पात्र) है, जिसका बिल नीचे की ओर और पृष्ठ ऊपर की ओर है, तो भी इसमें सब प्रकार का यश निहित है। इस चमस में सात ऋषि भी बैठे हुए हैं जो इसकी रक्षा कर रहे हैं।"[११] यह चमस शरीर का मूर्धा (गर्दन से ऊपर का हिस्सा) ही है। साधारण चमसों का पृष्ठ नीचे और छिद्र ऊपर रहता है, नहीं तो उनमें रखी वस्तु गिर जाए, परन्तु यह ऐसा अद्‌भूत चमस है कि इसका छिद्र (मुख) नीचे की ओर है और पृष्ठ (खोपड़ी) ऊपर है, तो भी इसमें विश्वरूप यश (सर्वविध ज्ञान) भरा हुआ है, गिरता नहीं। सात ऋषि पूर्वोक्त सात इन्द्रिय-रूपी ऋषि हैं जो इसमें बैठे हुए इसकी रक्षा कर रहे हैं। ये सात ऋषि दो कान, दो नासाछिद्र, दो आँख और एक मुख भी हो सकते हैं जैसा अथर्ववेद १०.२.६ में परिगणित किए गए हैं।[१२] शतपथ ब्राह्मण (१४.४.२) में भी इस चमस में रहने-वाले ये ही ऋषि बताए गए हैं और यह कहा गया है कि दो कान गौतम और भारद्वाज हैं, दो नासिकाएँ वसिष्ठ और कश्यप हैं, दो आँखें विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, मुख अत्रि है।

एवं वैदिक विचार के अनुसार हमें शरीर के प्रति यह भाव रखना चाहिए कि यह ऋषियों की पवित्र तपोभूमि है और इसे किसी प्रकार दूषित नहीं होने देना चाहिए।

यह रथ है

वैदिक साहित्य में इस शरीर को रथ भी कहा गया है। कठ उपनिषद् में यह रूपक इस प्रकार है—"शरीर एक रथ है, आत्मा रथस्वामी है, बुद्धि उसका सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, विषय चरागाह हैं। जो बुद्धि-रूपी सारथि का उपयोग नहीं करता और मन-रूपी लगाम को ताने नहीं रखता, उसकी इन्द्रियाँ वश से बाहर हो जाती हैं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश से बाहर हो जाते हैं, परन्तु जो बुद्धि-रूपी सारथि का उपयोग करता है और मन-रूपी लगाम को ताने रखता है, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, जैसे सधे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं।"[१३]

शरीर की रथ से उपमा वेदों में भी दी गई है। ऋग्वेद २.१८.१ में कहा है—"मनुष्य-शरीर इन्द्र का रथ है, जिसमें चार युग हैं, तीन कशाएँ (चाबुक) हैं, प्रातः-काल साफ-सुथरा और नया करके जोता जाता है, सदिच्छाओं और बुद्धियों से चलाया जाता है।"[१४] ऋग्वेद १०.५९.१० में इसी शरीर-रथ के लिए कहा गया है कि "हे इन्द्र, तू शरीर-रथ को खींचनेवाले बैल को ठीक प्रकार से चला जो कि उशीनराणी के रथ को खींचता है। सूर्य और पृथिवी तेरे इस रथ के दोषों को दूर करते रहें, जिससे कोई भी रोग तुझे न सताए।"[१५] इस मन्त्र में यह कल्पना की गई प्रतीत होती है कि यह शरीर एक रथ है जिसमें देवराज इन्द्र (आत्मा) अपनी रानी उशीनराणी[१६] (बुद्धि) सहित बैठे हुए हैं, प्राण-रूपी बैल (अनड्वान्)[१७] इस रथ को खींच रहा है। इन्द्र (आत्मा) को कहा गया है कि तू इस प्राण-रूपी बैल को ठीक प्रकार से चला, नहीं तो यह शरीर-रथ को

रोगादि के गढ़ों में गिरा देगा। सूर्य की किरणों से और पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों से इस रथ के मलों को दूर करते रहना चाहिए, अन्यथा यह रथ रोगग्रस्त होकर चलना बन्द कर देगा।

ऋग्वेद १०.१३५.३ में मनुष्य को सम्बोधन कर कहा है—"हे कुमार, बिना पहियों के ही चलनेवाले एक ईषादण्डवाले, चारों ओर वेग से चलने-फिरने वाले जिस नवीन रथ को तूने मन से पसन्द किया है, उसपर तू बिना समझे-बूझे ही बैठा हुआ है।"[१८] यह बिना पहियों के चलनेवाला नवीन रथ शरीर ही है, जिसमें मेरुदण्ड-रूपी एक ईषादण्ड है। वेदमन्त्र मनुष्य को कहता है कि हे कुमार, जिस रथ को लोग जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या के बाद कभी पाते हैं, ऐसा उत्तम मानव-शरीर-रूपी रथ तुझे मिला है, तो भी आश्चर्य की बात है कि उसपर बिना देखे-भाले, बिना सोचे-समझे तू बैठा हुआ है। तेरी स्थिति वैसी ही है जैसी उस मनुष्य की होती है जो किसी रथ पर बैठा हुआ है, परन्तु जिसे यह नहीं मालूम कि जाना कहाँ है। तुझे चाहिए कि तू जीवन में अपना कोई उच्च लक्ष्य निर्धारित करे और उस तक पहुँचने के लिए शरीर-रूपी इस उत्तम रथ का उपयोग करे।

इससे अगले मन्त्र में कहा है कि "हे कुमार, यदि तू अपने इस शरीर-रथ को प्रियजनों के निर्देश के अनुसार चलाएगा, तभी यह समगति के साथ चल सकेगा और तभी विघ्न-बाधाओं की नदियाँ बीच में पड़ने पर नौका पर चढ़ाए हुए रथ की तरह यह कुशलता के साथ उन नदियों को पार कर सकेगा।"[१९]

ऋग्वेद के इसी सूक्त में इस शरीर-रथ की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न उठाया गया है—"किसने कुमार को पैदा किया है, किसने उसका रथ (शरीर) रचा है, कौन हमें आज यह बताएगा कि कैसे यह अनुदेयी (एक की गोद से दूसरे की गोद में दिए जाने योग्य) होता है?"[२०] अगले दो मन्त्रों में इसका उत्तर दिया है—"पहले यह माता के गर्भ से पैदा होता है, उसके बाद अनुदेयी होता है। पैदा होते समय पहले इसका सिर निकलता है, फिर यह सारा बाहर आ जाता है। यह यम के (जीवात्मा के) बैठने का रथ है, जो कि देवनिर्मित है। देखो, यह इसकी नाड़ी चल रही है, यह वाणियों से परिष्कृत है।"[१२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य में शरीर को एक रथ कल्पित किया गया है और मनुष्य को सन्देश दिया गया है कि जैसे किसी रथ पर चढ़कर वह सुदूर स्थान पर पहुँच सकता है, वैसे ही इस शरीर-रूपी रथ को पाकर उसे अपने दूरवर्ती लक्ष्य तक पहुँचना चाहिए, तभी उसका इस उत्तम रथ को पाना सार्थक होगा।

आओ, इस सर्वश्रेष्ठ शरीर को पाकर हम सचमुच सर्वश्रेष्ठ बनें। इस देवपुरी में निवास कर हम सचमुच देव बनें। इस यज्ञस्थली में वास करते हुए हम सचमुच यज्ञ करें। इस ऋषिभूमि में वास करते हुए हम सचमुच ऋषि बनें। इस अनुपम रथ पर चढ़कर दिव्य पथ के पथिक बनें।

पाद टिप्पणियाँ—

१. ऐ० उप० २.१-३

२. अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्रये॥
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥
—अथर्व० ११.८.२९-३२

३. ऐ० उप० २.४

४. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्मिन् हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥

आठ चक्र=शरीर में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार। नौ द्वार—दो कान, दो नाक के छेद, दो आंखें, एक मुख, दो अधोद्वार। हिरण्यय कोश=आनन्दमय कोश। यक्ष, ब्रह्मा=आत्मा या परमात्मा।

५. को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।

६. अस्थि वा एतत् यत् समिधः। एतद् रेतो यदाज्यम्। तै० ब्रा० १.१.९.४

७. येन यज्ञस्तायते सप्तहोता।

८. पुरुषो वै यज्ञस्तस्य···मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अङ्गानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः—गोपथ उ० ५.४।

९. छा० उप० ३.१६

१०. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

११. तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

१२. कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।

१३. कठ, तृतीय वल्ली, श्लोक ३-६।

१४. प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्य स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥

इन्द्र=आत्मा। चार युग=दो भुजाएँ, दो टाँगें। तीन चाबुकें=मन, बुद्धि, प्राण। सात लगामें=सप्त शीर्षण्य प्राण। दस घोड़े=दस इन्द्रियाँ।

१५. समिन्द्रेरय गामनवड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः।
भरतामप यद् रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मोषु ते किञ्चनाममत्॥

१६. उशी—इच्छावान्, नरः—आत्मा, तस्य पत्नी उशीनराणी बुद्धिः।

१७. अनः शरीररथं वहतीत्यनड्वान् प्राणः। 'अनड्वान् प्राण उच्यते'
—अथर्व० ११.४.१३

१८. यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि॥

१९. यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्॥ —ऋ० १०.१३५.४

२०. कः कुमारमजनयद् रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित् तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्॥ —वही, मन्त्र ५

२१. यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥
इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥ —वही, मन्त्र ६, ७

❑❑

बालकों का भिखारी

[१]मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि
निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणाऽ
नयैनं मेखलया सिनामि॥ —अथर्व० ६.१३३.३

मैं आज झोली पसारकर भिक्षा माँगने निकला हूँ। द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा के लिए पुकार लगाऊँगा। अरे, यह क्या, कुछ लोग मेरी ओर ही चले आ रहे हैं। पूछते हैं—बाबा तुम्हें क्या चाहिए? भाइयो, मैं बालकों की भीख माँगता हूँ। एक, दो, तीन, चार, जिसके पास जितने बालक हों, मुझे भिक्षा में दे दो। क्या कहते हो? मैं बालकों का क्या करूँगा? मैं उन्हें अपने आश्रम में ले जाकर मारूँगा, उनका वध करूँगा, उन्हें मृत्यु की भेंट चढ़ाऊँगा। अरे, यह क्या, यह तो भगदड़ मच गई! बालकों को पकड़नेवाला बाबा आया, बालकों को पकड़ने वाला बाबा आया, यह कहते हुए सब भागे जा रहे हैं। देखते ही देखते सब घरों के किवाड़ बंद हो गए। नगर भर में बिजली की तरह समाचार फैल गया। सबके मुख पर यही चर्चा है। कोई कहता है, ऐसे साधु बहुत से छूटे हुए हैं। कोई कहता है, ये बालकों को पकड़कर बेच देते हैं। बालकों का मांस पकानेवाले कई होटल शहरों में पकड़े गये हैं। जितने मुँह उतनी बातें हैं।

अब मैं क्या करूँ? किसे अपनी बात समझाऊँ? जहाँ जाता हूँ, लोग डरकर भागते हैं। अच्छा, ये कुछ सयाने लोग खड़े हैं। इनके पास जाता हूँ। क्या है बाबा, क्या चाहिए? यह ले आटा, दाल, चावल, रोटी, कपड़ा, कम्बल। नहीं-नहीं, मुझे इनमें से किसी वस्तु की आवश्यकता नही है। मैं तो बालकों का भिखारी हूँ, बालक माँगता हूँ। क्या तू बालकों को पकड़कर ले जाता है? नहीं, मैं बालकों को पकड़कर नहीं ले जाता। जो खुशी से अपने बालक देता है, उसके बालकों को अपने साथ ले जाता हूँ। हमने सुना है तू बालकों को ले-जाकर उन्हें मार डालता है? हाँ, तुमने ठीक सुना है। मैं उन बालकों को ले-जाकर मारता हूँ, परन्तु तू उन्हें क्यों मारता हैं? मैं उन्हें मारता हूँ जिन्दा करने के लिए, मार कर फिर नया जन्म देने के लिए। क्या तू कोई जादूगर है? हाँ, मैं जादूगर हूँ, मैंने अपने गुरु से अनोखी जादूगरी सीखी है।

सुनो, मैं तुम्हें अपनी रामकहानी सुनाता हूँ। किसी समय मैं भी अपने माँ-बाप का लाड़ला आठ वर्ष का बालक था। एक दिन एक ओजस्वी चेहरेवाला बाबा आया, जो अपने आपको 'मृत्यु' कहता था। वह मुझे मेरे माता-पिता से माँगकर ले गया। शहर से दूर कहीं पार जंगल में एकान्त स्थान पर बने हुए अपने आश्रम में ले-जाकर उसने मुझे छोड़ दिया। वहाँ मेरे जैसे कुछ और भी

बालक थे। उन्हें मारने की तैयारियाँ हो रही थीं, तो भी वे प्रसन्न थे। मैं भी उन्हीं में जा मिला। बाबा ने छुरियों से मेरा एक-एक अंग काटा और मुझे अपने पेट के हवाले किया। तीन रातें पेट में पड़ा रहा, परन्तु ये रातें साधारण न थीं, बारह-बारह वर्ष की एक-एक रात थी। छत्तीस वर्ष बाद मेरा नया जन्म हुआ। अब मैं चौवालीस वर्ष का हो गया था। मैंने देखा कि मैं बिल्कुल बदल गया हूँ। कोई मुझे पहचानता ही नहीं था। फिर बाबा का आदेश हुआ, आगे चलकर यह कार्य तुझे करना होगा। और उन्होंने मुझे अपनी जादूगरी के भेद बताने शुरू कर दिए। आज उन बाबा के स्थान पर मैं बाबा बना घूम रहा हूँ और लोगों से कहता हूँ कि मुझे अपने बालक दो, मैं उन्हें आदमी बना दूँगा।

आप सोचते होंगे पहेली तो वैसी-की-वैसी रही। अच्छा तो मैं आपको और अधिक संदेह में रखना नहीं चाहता, सब रहस्य साफ-साफ बताए देता हूँ। जो बाबा मुझे मेरे माता-पिता से माँगकर ले-गया था वह एक गुरुकुल का आचार्य था। आचार्य का ही वैदिक नाम 'मृत्यु' है,[२] क्योंकि जैसे मृत्यु मनुष्यों को मारकर नया जन्म देता है, वैसे ही आचार्य बालक के अज्ञान को मारकर बालक को नया जन्म देता है। मैंने अभी आपसे कहा था कि बाबा ने मुझे छुरियों से काटकर अपने पेट में रख लिया और छत्तीस वर्ष तक रखे रखा। यह बात भी ठीक है, किन्तु छुरियाँ लोहे की साधारण छुरियाँ नहीं हैं, वे हैं यम-नियमों की छुरियाँ। यम नियमों की छुरियाँ चलाकर आचार्य ने मेरे सब कुसंस्कारों को नष्ट कर दिया, मानो मुझे मार डाला। मारकर पेट में रख लिया। पेट में रखने का भाव ब्रह्मचर्यसूक्त के इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—"**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तस्तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति।**" (अथर्व० ११.५.३) —आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है, और तीन रात्रि अर्थात् छत्तीस[३] वर्ष तक या जब तक उसका आचार्याधीन गुरुकुलवास पूर्ण नहीं होता, वह उसे अपने गर्भ में धारण किए रहता है। छत्तीस वर्ष बाद आचार्य ने मुझे नया जन्म दिया अर्थात् स्नातक बनाया। फिर उसने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मेरे अन्दर कुछ प्रस्फुटित होने वाले भावी गुणों का बीज देख मुझे अपने पास ही रख लिया और मुझे आचार्यत्व की शिक्षा देनी प्रारम्भ की, या यों कहिए कि उसने मुझे अपनी जादूगरी के भेद बताने शुरू कर दिए। शनैःशनैः मुझे पूर्ण जादूगर हुआ जान मुझपर अपना भार सौंप कर उसने इस कार्य से संन्यास ले-लिया। इस प्रकार मैं 'मृत्यु' का ब्रह्मचारी हूँ और अब आचार्य कहाता हूँ।

अब मुझ पर यह भार है कि मैं नगरवासियों से बालकों को माँगने निकलता हूँ। जो कोई मुझे अपना बालक देगा, उसके बालकों को मैं अपने आचार्य की सिखाई हुई पद्धति से मारकर नया जन्म दूँगा। तुमने सुना होगा नवप्रविष्ट बालक को आचार्य मेखला धारण करवाता है, तगड़ी पहनाता है। मैं भी उस बालकों मेखला बाँधूँगा। शायद तुम पूछो कि मेखला बाँधने से क्या होगा? मूँज से या सूत के थोड़े-से धागों से बनी हुई मेखला क्या कर लेगी? मेखला ब्रह्मचर्याश्रम की जान है, वह कटिबद्धता का प्रतीक है। कटिबद्ध होने का या कमर कस लेने

का मुहावरा प्राचीन आर्यों के मेखलाधारण से ही चला है। मेखला का व्यवहार यद्यपि आजकल छूट-सा गया है, तो भी मेखला संसार से बिल्कुल लुप्त नहीं हुई है, न हो सकती है। आजकल उसका स्थान कमरपेटी, लंगोट, धोती के कमरबन्ध आदि ने ले लिया है, अतः मेखला बाँधकर मैं बालक को कटिबद्ध करूँगा। ब्रह्मचर्याश्रम में जिन बातों के लिए कटिबद्ध रहना आवश्यक है उनमें से मुख्य हैं—ब्रह्म, तप और श्रम। इसलिए मेखला द्वारा मैं अपने पास आए बालकों को ब्रह्म, तप और श्रम से बाँधूँगा। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान है, तप का अर्थ नियम-पालन है, और श्रम का अर्थ परिश्रम है। मेखला बाँधकर मैं उसे तीन बातों के लिए कटिबद्ध करूँगा। जो बालक मेरे पास आएँगे, वे प्रसन्नतापूर्वक अपनी कटि में मुझसे मेखला बँधवाते हुए कहेंगे—

[४]य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो विमुञ्चात्॥

—अथर्व० ६.१३३.१

जिस आचार्य देव ने हमें मेखला बाँधी है, जिसने हमें कटिबद्ध किया है, जिसने हमें नियम-पालन में नियुक्त किया है, जिस देव के अनुशासन में हम चल रहे हैं वह हमें इस ब्रह्मचर्याश्रम से पार करे, वह हमें स्नातक बनाकर लोककल्याण के लिए बाह्य जगत् में छोड़े।

[५]आहुतासि-अभिहुत, ऋषीणामसि-आयुधम्।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती, वीरघ्नी भव मेखले॥

—अथर्व० ६.१३३.२

हे मेखला, तू आहुति से संस्कृत है, अभिमन्त्रित है। तू ऋषियों का आयुध है। तेरे द्वारा ऋषिजन आलस्य, प्रमाद आदि को मार भगाते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत-धारण के पूर्व तू शरीर पर आकर बँधती है। तू हमारे प्रचण्ड से प्रचण्ड काम, क्रोध, आलस्य आदि शत्रुओं को नष्ट करनेवाली हो, हमें वीरत्व प्राप्त करानेवाली हो।

[६]श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वस ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च॥

—अथर्व० ६.१३३.४

हे मेखले, तू श्रद्धा की पुत्री है, तू तपरूप पिता की सन्तान है। तू उज्ज्वल भूत का निर्माण करनेवाले ऋषियों की बहिन है। वह तू हमें मति दे, मेधा दे, तप दे, इन्द्रियों का सामर्थ्य दे।

[७]यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले॥ —अथर्व० ६.१३३.५

प्राचीन भूत का निर्माण करनेवाले बड़े-बड़े ऋषिजन जिस तुझको अपनी कमर से बाँधते रहे हैं, वह तू हे मेखला, मेरी कटि का आलिंगन कर और मुझे

दीर्घायुष्य प्रदान कर।

अच्छा, तो अब मेरी कहानी पूरी होती है। अब तो आप लोग मुझसे भयभीत नहीं होंगे? अब तो बालकों को मारने-खानेवाले मुझ बाबा को आप लोग अपने बालक निःसंकोच दे सकेंगे। और, क्या मैं यह आशा भी करूँ कि मुझे अपने आश्रम का आवश्यक कार्य छोड़कर बालकों को माँगने के लिए आपके पास आने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, आप लोग स्वयमेव अपने बालकों को लेकर मेरे आश्रम में आएँगे और कहेंगे—

[८]आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्॥ —यजु० २.३३

हे गुरुजनो! हम अपने इस प्यारे बालक को कमल-फूलों की माला पहनाकर आपके समीप लाए हैं। आप उपनीत कर इसे अपने गर्भ में धारण कीजिए, जिससे यह आदमी बन जाए।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (यत् अहम्) क्योंकि मैं (मृत्योः) मृत्यु का—मारनेवाले का (ब्रह्मचारी अस्मि) ब्रह्मचारी हूँ, अतः मैं (यमाय) यम को भेंट चढ़ाने के लिए, मारने के लिए (भूतात्) पिताओं से (पुरुषम्) बालकों को (निर्याचन्) माँगता हूँ। (तम् एनम्) उन बालकों को (अहम्) मैं (अनया मेखलया) इस मेखला द्वारा (ब्रह्मणा) ब्रह्म से, (तपसा) तप से, और (श्रमेण) श्रम से (सिनामि) बाँधूँगा।

२. आचार्यो मृत्युः। — अथर्व ११.५.१४

३. षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। —मनु० ३.१

४. (यः देवः) जिस आचार्य देव ने (इमां मेखलाम्) इस तगड़ी को (आबबन्ध) बाँधा है, (यः) जिसने (संननाह) हमें कटिबद्ध किया है, (यः उ) और जिसने (नः युयोज) हमें ब्रह्मचर्यव्रत-पालन में नियुक्त किया है, (यस्य देवस्य) जिस आचार्य देव के (प्रशिषा) प्रशासन में (चरामः) हम चलते हैं, (सः) वह आचार्य देव (पारम् इच्छात्) हमें ब्रह्मचर्याश्रम के पार पहुँचाने की इच्छा करे (सः उ) और वह (नः) हमें (विमुञ्चात्) स्नातक बनाकर इस आश्रम से छोड़े।

५. हे मेखला, तू (आहुता असि) आहुति से संस्कृत है, (अभिहुता) अभिमन्त्रित है। (ऋषीणाम्) ऋषियों का (आयुधम् असि) हथियार है। (व्रतस्य पूर्वा) ब्रह्मचर्यव्रत के पूर्व (प्राश्नती) ब्रह्मचारी को प्राप्त होनेवाली है। (मेखले) हे मेखला, तू (वीरघ्नी भव) वीर से वीर शत्रुओं को नष्ट करनेवाली हो अथवा वीरत्व प्राप्त करानेवाली हो।

६. यह मेखला (श्रद्धायाः) श्रद्धा की (दुहिता) पुत्री है, (तपसः अधिजाता) तप से उत्पन्न होती है, (भूतकृताम् ऋषीणाम्) उज्ज्वल भूत के निर्माता ऋषियों की (स्वसा) बहिन (बभूव) है। (मेखले) हे मेखला, (सा) वह तू (नः) हमें (मतिम्) मनन-शक्ति और (मेधाम्) धारणावती बुद्धि (आधेहि) प्रदान कर

(अथो) और (नः) हमें (तपः) तप (इन्द्रियं च) और इन्द्रिय-सामर्थ्य (धेहि) प्रदान कर।

७. (मेखले) हे मेखला, (यां त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) प्राचीन (भूतकृतः ऋषयः) उज्ज्वल भूत के निर्माता ऋषिजन (परिबेधिरे) कमर के चारों ओर बाँधते रहे हैं (सा त्वम्) वह तू (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायुष्य के लिए (मा परिष्वजस्व) मेरा आलिंगन कर अर्थात् मेरी कमर से बँध।

८. (पितरः) हे पालक गुरुजनो, (पुष्करस्रजं कुमारम्) कमलपुष्पों की माला से अलंकृत इस कुमार को (गर्भम् आधत्त) अपने गर्भ में धारण करो, (यथा) जिससे (इह) यहाँ गुरुकुल में रहता हुआ यह (पुरुषः असत्) आदमी बन जाए।

□□

आचार्य से ब्रह्मचारियों का विद्यामधुपान

(ऋग्वेद, मण्डल १० सूक्त १६७)

तुभ्येदमिन्द्र परिषिच्यते मधु त्वं सुतस्य कलशस्य राजसि।
त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥ १ ॥

हे आचार्यप्रवर, आप इन्द्र हैं, आप देवों के देव हैं, गुरुओं के गुरु हैं। आपके लिए निरन्तर मधु झरता रहता है, सदा ही ज्ञानरस का झरना झर-झर करता हुआ आपके अन्तस्तल में प्रवाहित होता रहता है और आप उस मधुरस का पान कर परिपुष्ट होते रहते हैं, नित्य नये-नये ज्ञान से समृद्ध होते रहते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञानरस संचित करते हुए आप मधुकलश के, ज्ञान-घट के, राजा हो गए हैं। आपकी केवल इतनी ही विशेषता नहीं है कि आपने अपने स्वाध्याय से ज्ञानरस का संचय किया हुआ है, किन्तु साथ ही यह विशेषता भी आपके अन्दर है कि आपने तपस्या करके 'स्वः' अर्थात् आध्यात्मिक प्रकाश को भी प्राप्त कर लिया है। एवं ज्ञान, तपश्चर्या, अध्यात्म-ज्योति, सबका सुन्दर समन्वय आपके अन्दर विद्यमान है। अपरा एवं परा दोनों विद्याओं में आप निष्णात हैं। ऐसे विलक्षण प्रतिभावान्, ज्ञानवान्, तपःपूत, आत्मज्ञ, ब्रह्मवेत्ता आचार्य को पाकर हम ब्रह्मचारी भी अपने-आपको धन्य मानते हैं और आपसे प्रार्थना करते हैं कि आपने अपने स्वाध्याय और तप से जिस ऐश्वर्य का उपार्जन किया है वह ऐश्वर्य हमें भी प्रदान कीजिए, जिस ज्ञानरस का आपने आस्वादन किया है उसका हमें भी आस्वादन कराइए, जिस आत्मज्योति का आपने साक्षात्कार किया है उसकी एक झांकी हमें भी कराइए।

स्वर्जितं महि मन्दानमन्धसो हवामहे परि शक्रं सुताँ उप।
इमं नो यज्ञमिह बोध्यागहि स्पृधो जयन्तं मघवानमीमहे ॥ २ ॥

हमारा आचार्य 'शक्र' है, बड़ा शक्तिशाली है। उसके शरीर में शक्ति है, उसके मन में शक्ति है, उसके आत्मा में शक्ति है, उसकी वाणी में शक्ति है। उसके दर्शन का प्रभाव चामत्कारिक है। उसके दर्शन होने पर हममें से प्रत्येक ब्रह्मचारी ऐसा अनुभव करता है कि मेरे अन्दर तेज की किरणें प्रवेश कर रही हैं, जो सब पाप-ताप के अन्धकार को विध्वस्त कर अन्तःकरण को निर्मल बना रही हैं। समस्त कुल में उसकी शक्ति की, उसके प्रभाव की, उसके प्रताप की धाक है। उसका आदर्श जीवन एक-एक ब्रह्मचारी को अनुप्राणित कर रहा है। वह 'स्वर्जित्' है, दिव्य प्रकाश का विजेता है। उसके मुखमण्डल पर आभा है, उसके विचारों में आभा है, उसकी क्रिया में आभा है। वह 'अन्धस्' से, ज्ञानरस के मधु से अत्यधिक तृप्त है, आनन्दित है। ऐसे अपने आदर्श आचार्य को हम

ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त समीप बुलाते है।

हे गुरुवर, हमारे भक्तिभाव-भीने निमन्त्रण को स्वीकार कर आप इस ज्ञानयज्ञ में आइए, हमें ज्ञान प्रदान कीजिए, हममें से प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से जानिए, प्रत्येक को जानकर उसकी त्रुटियों को दूर कीजिए, उसके गुणों का विकास कीजिए। प्रत्येक ब्रह्मचारी के मार्ग में अपने-अपने प्रकार की कठिनाइयाँ, विपत्तियाँ और विकट समस्याएँ आती हैं। आप प्रत्येक के साथ सम्पर्क स्थापित कर उसे उन कठिनाइयों से पार होने का, उन समस्याओं को सुलझाने का मार्ग बताइए। आप बड़ी सरलता से ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि आपने स्वयं भी जीवन में विघ्न बनकर आनेवाली सब विपत्तियों को पार किया हुआ है, आन्तरिक एवं बाह्य स्पर्धालु शत्रुओं को जीता हुआ है, आप स्वयं सद्गुणों के ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, 'मघवा' हैं, अतः हम ब्रह्मचारियों को भी वैसा बनाने में समर्थ हैं। हे आचार्यवर! आइए, हम कुलपुत्रों के समीप आइए, हमसे सान्निध्य स्थापित कीजिए।

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥ ३॥

आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अपने आचार्य के तथा उनके सहकर्मी अन्य गुरुओं के सान्निध्य में रहकर मैंने ज्ञानरस का आस्वादन कर लिया है। ज्ञानरस की केवल दो-चार बूँदें ही नहीं चखीं, अपितु कलश के कलश पी डाले हैं। मेरे एक गुरु 'सोम' हैं। वे शान्ति के अग्रदूत हैं, चन्द्र के समान सौम्यता सदा उनके मुख पर विराजमान रहती है। उनकी उस मधुरिमा में जादू है, अदभुत आकर्षण है। वे रस के अगार हैं। वे ओषधियों के राजा सोम के समान ब्रह्मचारियों के सब दर्दों की दवा जानते हैं। मेरे दूसरे गुरु 'वरुण' हैं, वेद के वरुण राजा के समान पाशी हैं, यम-नियमों के पाशों से ब्रह्मचारियों को बाँधनेवाले हैं। उनका नियन्त्रण ऐसा दृढ़ है कि कुल का कोई भी सदस्य उसके पाशों से छूटा नहीं रहता। सब कुलवासियों को उनकी नियत की हुई मर्यादा में रहना पड़ता है। मेरे तीसरे गुरु 'बृहस्पति' हैं, ज्ञान में तथा ज्ञान के प्रदान में साक्षात् सुराचार्य है तथा उन्होंने अपनी वाणी पर भी आधिपत्य प्राप्त किया हुआ है (बृहती वाक्, तस्याः पतिः बृहस्पतिः)। उनकी वक्तृत्वकला तथा उनकी अध्यापन-शैली ऐसी अनोखी है कि जटिल से जटिल विषय भी ब्रह्मचारियों को हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगता है। मैं अपने गुलकुल-निवास-काल में अपने सोम, वरुण और बृहस्पति गुरुओं की तथा अनुमति देवी अर्थात् वरदात्री वेदमाता की शरण में रहा हूँ। हे सब कुलपुत्रों को अपने गर्भ में धारण करनेवाले आचार्यवर, उक्त गुरुओं की तथा आपकी सेवा में रहकर मैंने ज्ञानमधु के अनेकों कलश पी लिये हैं और मैं तृप्त हो गया हूँ।

प्रसूतो भक्षमकरं चरावपि स्तोमं चेमं प्रथमः सूरिरुन्मृजे।
सुते सातेन यद्यागमं वां प्रति विश्वामित्रजमदग्नी दमे॥ ४॥

हे मेरे प्यारे आचार्य, मैंने गुरुकुल में रहते हुए आपके स्वरूप की जो झाँकी

पाई है, उसका मैं क्या वर्णन करूँ! अभी मैं स्वर्जित्, शक्र, मघवा, धाता और विधाता नामों से आपकी महिमा का गान कर चुका हूँ। इसके अतिरिक्त आपका एक और स्वरूप भी इस समय मुझे स्मरण आ रहा है। वर्षों तक आपकी छत्रछाया में रहते हुए मैं यह अनुभव करता रहा हूँ कि आप 'विश्वामित्र' हैं, सब समय सबके मित्र हैं, कभी किसी छात्र के प्रति आपके मन में द्वेष की भावना मैंने नहीं देखी। सब पर सदा-स्नेह की वृष्टि आप करते रहे हैं। आपके वरद हस्त के नीचे रहकर मैंने बहुत-कुछ ज्ञानार्जन किया है। और इन दूसरे आपके सहयोगी अपने उपाचार्य 'जमदग्नि' को भी मैं इस समय नहीं भुला सकता, जिनसे मैंने कर्मकाण्ड की शिक्षा ग्रहण की है (जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा—निरुक्त)। हे सबके मित्र आचार्यवर और हे कर्मकाण्ड के शिक्षक उपाचार्यवर, आपसे प्रेरित होकर मैंने केवल पुस्तकीय ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, किन्तु सदाचार की भी शिक्षा ग्रहण की है; जीवन में मनुष्य को किसके प्रति कैसा शिष्टाचार बर्तना चाहिए, यह भी मैंने आपसे सीखा है। अब मैं स्नातक बनकर इस कुल से विदा होते समय आपसे आशीर्वाद लेने के लिए गुरुदक्षिणा के ये पत्र-पुष्प लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। इस समय मेरे हृदय में आपके प्रति भक्ति उमड़ रही है, मेरा सिर आपके चरणों में नत हो रहा है, मन से आपके प्रति कृतज्ञता के भाव और स्तुतिगीत निकल रहे हैं। आपने मुझे जो अमृतपान कराया है उससे मैं कभी आपसे अनृण नहीं हो सकता। बस, मैं तो शुद्ध हृदय से बार-बार आपके उपकारों को स्मरण करता हुआ आपकी वन्दना करने में ही अपने-आपको धन्य मानता हूँ। आपकी महिमा अवर्णनीय है।

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरुगुन लिखा न जाय॥

पाद टिप्पणियाँ—

१. (इन्द्र) हे आचार्यवर, (तुभ्यं) आपके लिए (इदं मधु) यह ज्ञान का सोमरस (परिषिच्यते) झरता रहता है। (त्वम्) आप (सुतस्य कलशस्य राजसि) झरे हुए उस मधुकलश के राजा हैं। (त्वं नः) आप हम ब्रह्मचारियों के लिए (पुरुवीरां रयिम्) अत्यधिक ओजस्वी ज्ञानैश्वर्य का मधु (कृधि) प्रदान कीजिए। (त्वं) आपने (तपः परितप्य) तपस्या करके (स्वः अजयः) अध्यात्म-प्रकाश को अथवा परमानन्द को प्राप्त किया हुआ है।

२. (स्वर्जितम्) अध्यात्म-प्रकाश के विजेता, (अन्धसः महि मन्दानम्) मधुर-ज्ञान-रस से अतिशय तृप्त (शक्रम्) शक्तिशाली आचार्य को (सुतान् उप) ज्ञानरसों की प्राप्ति के निमित्त (हवामहे) हम बुलाते हैं। (इह) इस गुरुकुल में (इमं यज्ञम्) इस विद्याप्राप्तिरूप यज्ञ में (आगहि) आप आइए, (नः बोधि) हम ब्रह्मचारियों को जानिए। (स्पृधः जयन्तम्) स्पर्धालु शत्रुओं को जीत लेनेवाले, (मघवानम्) विद्याधन के स्वामी आचार्य को (ईमहे) हम चाहते हैं।

३. (सोमस्य) सोम गुरु के (राज्ञः वरुणस्य) वरुण राजा के तुल्य गुरु के (धर्मणि) धर्म में तथा (बृहस्पतेः) बृहस्पति गुरु की (उ अनुमत्या) और वेदमाता की (शर्मणि) शरण में रहते हुए, तथा (मघवन्) हे विद्याधन के स्वामी, (धातः) ब्रह्मचारियों को गर्भ में धारण करनेवाले, (विधातः) नवीन जन्म देनेवाले आचार्यवर, (तव उपस्तुतौ) आपकी उपासना करते हुए मैंने (कलशान् अभक्षयम्) ज्ञानरस के अनेकों कलश पी लिए हैं।

४. (विश्वामित्र-जमदग्नी) हे सब छात्रों के मित्र आचार्यवर, और हे अग्नि की, कर्मकाण्ड की, क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा देनेवाले उपाचार्यवर, (प्रसूतः) आपसे प्रेरित होकर मैंने (चरौ अपि) सदाचरण के सम्बन्ध में भी (भक्षम् अकरम्) आस्वादन किया है, शिक्षा ग्रहण की है। (सुते) विद्याध्ययनरूप यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर (यदि) जब (वां प्रति) आप दोनों के प्रति (दमे) आपके घर में, गुरुकुल में (सातेन) गुरुदक्षिणा के साथ (आगमम्) आया हूँ, तब (प्रथमः सूरिः) प्रथम कोटि का विद्वान् बना हुआ मैं (इमं स्तोमम् उन्मृजे) यह आपका गुणगान कर रहा हूँ।

❑❑

नागरिक और वनवासिनी की वार्ता

(ऋग्वेद १०.१४६ का एक प्रसंग)

सघन कानन में एक विशाल तरु के नीचे कोई वानप्रस्थ रमणी बैठी हुई है—निर्द्वन्द्व, निर्भय, निश्छल, सांसारिक वासनाओं से सर्वथा शून्य, साधना में लीन। वृक्ष पर बैठे पक्षी कलरव कर रहें हैं, पास ही मयूर नृत्य कर रहे हैं, दायें-बायें कुछ मृगशावक विचर रहे हैं; मानो सब उसका परिवार है। निकट ही झरना बह रहा है। कहीं-कहीं सिंह, हाथी आदि वन्य पशुओं के पदचिह्नों की पंक्तियाँ स्थान की भयानकता को भी सूचित कर रही हैं। इतने में ही कोई राहभूला भयभीत नागरिक उधर आ निकलता है। उस रमणी को अकेली देख उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। वह सोचने लगता है, कहाँ तो यह निविड वन, और कहाँ मन तथा शरीर से कोमल यह मुग्धा नारी! उसके मन में श्रद्धा का उदय होता है। उसे वह माता के रूप में देखता है। समीप पहुँचकर प्रश्न करता है—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दति॥ १॥

हे माता, क्यों तुम इन घोर जंगलों के बीच वास करती हो? क्यों तुम ग्राम और नगर को नहीं पूछतीं? क्या यहाँ तुम्हें भय नहीं लगता? आओ, मैं तुम्हें नगर में चलने का निमन्त्रण देता हूँ, जहाँ एक-से-एक सुन्दर वन हैं, प्रासाद हैं, राजमार्ग हैं, रथ हैं, विपणियाँ हैं, नाटक है, चलचित्र है, गोष्ठी है, कविता है, संगीत है, नृत्य है और ऐसी उन्नत शिल्पकला है जिसके आगे विधाता भी हार मानता है।

रमणी नागरिक की बात सुनती है और मुस्करा देती है। कहती है, 'हे भद्र! तुम नगर की शोभा पर गर्व करते हो, परन्तु मैं तो अपनी प्यारी वनशोभा पर ही मुग्ध हूँ। आओ, नगर की राजसी झिलमिलाहट से चकाचौंध हुई तुम्हारी आँखों को मैं वन की सात्त्विक शोभा का दर्शन कराऊँ। देखो—

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावन्नरण्यानिर्महीयते॥ २॥

वन में तो बिना तानपूरे के ही संगीत का आनन्द आता है। बरसात की रात्रि में चिक-चिक ध्वनि करनेवाला झीगुंर जब मोटी आवाजवाले टिड्डे के पास आ बैठता है और दोनों अपना राग अलापने लगते हैं, तब ऐसा लगता है, मानों

वीणा से सप्तस्वरों का शोधन हो रहा हो।

उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति॥ ३॥

यह देखो, सामने गौओं जैसे पशु चर रहे है। ये लताकुंज प्रासाद-से दृष्टिगोचर हो रहे है। और सायंकाल होने पर वन तथा नगर की सीमा पर खड़े होकर देखो, अपूर्व दृश्य देखने को मिलता है। फल, काष्ठ आदि से भरी, नगर की ओर जाती हुई गाड़ियों की पंक्ति को देख ऐसा प्रतीत होता है मानों वनवीथी अपने अन्दर से उन गाड़ियों की सृष्टि कर रही हो।

गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते॥ ४॥

इधर देखो, चरवाहा गौएँ चरा रहा है। इसने अपनी गौओं के नाम रख लिये हैं। एक का नाम कृष्णा है, दूसरी का नाम गौरी है, तीसरी का नाम इडा है, चौथी का नाम अदिति है। नाम ले-लेकर यह अपनी धेनुओं को पुकार रहा है। जिसका नाम पुकारता है वही उसकी ओर मुँह उठाती है और दौड़ पड़ती है। मूक पशुओं से चरवाहे की यह बातचीत कैसी कौतूहलवर्धक है! दूसरी ओर यह लकड़हारा वृक्ष पर चढ़ा हुआ लकड़ियाँ काट रहा है। अन्य भी अनेक नगरवासी वनवीथी की शरण में आते है, परन्तु अचानक वन में उन्हें कभी रात्रि हो जाए तो उनकी कल्पना अपने आगे हिंस्र जन्तुओं को साकार खड़ा देखने लगती है और भय के मारे उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह सिंह बोला, यह व्याघ्र बोला, किन्तु असली बात तो यह है कि—

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते॥ ५॥

यह वनवीथी अपनी ओर से किसी का संहार नहीं करती;पहले मनुष्य ही अपने अन्दर हिंसा की भावना रखता है। मनुष्य पूर्ण अहिंसक हो जाए तो अटवी उसकी माता हो जाती है;सिंह-व्याघ्र सब उसकी अहिंसा के आगे झुक जाते हैं। वन तो एक वाटिका है, जहाँ स्वादिष्ठ फलों को खाकर मनुष्य इच्छानुसार विश्राम करता है।

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ ६॥

जहाँ अंजन पुष्पों की भीनी गन्ध उठती है, जहाँ अन्य विविध सौरभ हैं, जहाँ बिना कृषक के प्रचुर अन्न उपजता हैं, जो मृगों की माता है, उस वनवीथी को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

राहगीर के मुख से अनायास निकल पड़ता है, 'वनवीथी की जय हो, वन माता की जय हो!'

पाद टिप्पणियाँ—

१. (अरण्यानि) हे वानप्रस्थ माता, (असौ या) वह जो तू (अरण्यानि) वनों में (प्रनश्यसि इव) लुप्त हुई सी रहती है, (ग्रामं कथा न प्रच्छसि) ग्राम को क्यों नहीं पूछती? (त्वा) तुझे (भीःइव) भय-सा (न विन्दति) क्या नहीं लगता?

२. (वदते वृषारवाय) मोटी आवाजवाले टिड्डे के बोलते होने पर (यत् चिच्चिकः उपावति) जब चीं-चीं ध्वनि करनेवाला झीगुर पास आ बैठता हैं, (अरण्यानिः) जंगल (आघाटिभिः इव धावयन् महीयते) ऐसा महिमान्वित होता है, मानो कोई वीणा द्वारा सप्त स्वरों को शोधित कर रहा हो।

३. (उत) और (गावः इव) गौओ जैसी आकृति के पशु (अदन्ति) घास चर रहे हैं, (उत) और (वेश्म इव दृश्यते) लताकुंज घर के सदृश दिखाई दे रहे हैं। (उतो) और (अरण्यानिः) जंगल (सायम्) सायंकाल (शकटीः इव सर्जति) गाड़ियों की सृष्टि-सी कर रहा होता है।

४. (अंग) हे भाई, (एष गाम् आह्वयति) यह गाय को बुला रहा है, (अंग) और हे भाई, (एषः दारु अपावधीत्) यह लकड़ियाँ काट रहा है। किन्तु, (सायम्) सायंकाल (अरण्यान्यां वसन्) जंगल में निवास करता हुआ मनुष्य (अक्रुक्षत् इति मन्यते) यह हिंस्र जन्तु बोला ऐसा मानने लगता है।

५. परन्तु (अरण्यानिः) जंगल तो (न वै हन्ति) सचमुच किसी को मारता नहीं, (अन्यः चेत्) यदि अन्य ही व्याघ्र आदि कोई हिंसक पशु (न अभिगच्छति) आक्रमण न कर बैठे। जंगल में तो (स्वादोः फलस्य) स्वादु फल को (जग्ध्वाय) खाकर (यथाकामं) इच्छानुसार (निपद्यते) विश्राम करता हैं।

६. (आञ्जनगन्धिं) अंजन वृक्ष के फूलों की गन्धवाली, (सुरभिं) सुरभित, (अकृषीवलां बह्वन्नां) बिना किसान के ही प्रचुर आन्नोंवाली (मृगाणां मातरम्) मृगों की माता (अरण्यानिं) वनवीथी की (अहम्) मैं (अशंसिषम्) प्रशंसा करती हूँ।

□□

आदर्श गणतन्त्र

वैदिक संहिताओं में जहाँ अध्यात्म, नैतिकता, समाजशास्त्र आदि सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों का वर्णन है, वहाँ राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी अनेक विस्तृत निर्देश प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में चार प्रकार के राजाओं का उल्लेख है— स्वराट्, जनराट्, सत्रराट् और सर्वराट्। प्रजा द्वारा राजा के चुनाव तथा राजसूय यज्ञ का भी वेदों में वर्णन मिलता है। राजसूय यज्ञ में प्रजा द्वारा चुने हुए राजा का राज्याभिषेक किया जाता है। प्रजा का प्रतिनिधि या पुरोहित चुने गए राजा को सम्बोधन कर कहता है—"मैं तुझे प्रजा में से ही लाया हूँ, हमारे बीच राजा बनकर रह। स्थिर और अविचल होकर शासन कर। सब प्रजाएँ तुझे चाहती रहें; ऐसा न हो कि तुझसे यह राष्ट्र छीना जाए (ऋ० १०.१७३.१)।" यजुर्वेद में वर्णित राजसूय यज्ञ में राजा का अभिषेक करते हुए कहा है—"मैं तुझे चन्द्रमा की कान्ति से, अग्नि की दीप्ति से, सूर्य के वर्चस् से, इन्द्र के इन्द्रत्व से अभिषिक्त करता हूँ। तू क्षात्रबलों का अधिपति हो तथा शत्रु के शस्त्रों से हमारी रक्षा कर (यजु० १०.१७)।" राजा उत्तर देता है कि—"मैं अपने शासनकाल में सविता, सरस्वती, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि, सोम, विष्णु, इन दसों देवताओं से प्रेरणा पाता हुआ राज्य का संचालन करूँगा।"

[१]सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभि-रिन्द्रेणास्मे। बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्नि तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि॥ —यजु० १०.३०

'सविता' उत्पत्ति का प्रतीक है, सविता से प्रेरणा लेकर राजा राष्ट्र में सब प्रकार के आवश्यक उत्पादनों की ओर ध्यान दे। 'सरस्वती' वाणी का प्रतीक है, राष्ट्र की वाणी को राजा न रोके। 'त्वष्टा' रूप का प्रतीक है, राजा राष्ट्र में रूप-रंग भर दे। 'पूषा' पशुओं का रक्षक है, राजा राष्ट्र में कृषि और पशुपालन की ओर ध्यान दे। 'इन्द्र' वीरता और ऐश्वर्य का प्रतीक है, राजा राष्ट्र को वीर तथा ऐश्वर्यशाली बनाए। 'बृहस्पति' ज्ञान का प्रतीक है, राजा राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञान की उन्नति करे। 'वरुण' दण्डशक्ति का प्रतीक है, राजा अपराधियों को यथायोग्य दण्ड दे। 'अग्नि' तेज का प्रतीक है, राजा राष्ट्र को तेजस्वी बनाए। 'सोम' सौम्यता, आह्लाद तथा भेषज का प्रतीक है, राजा राष्ट्र में सौम्यता और आह्लाद लाए तथा स्वास्थ्य-विभाग को सतर्क रखे। 'विष्णु' व्यापकता का प्रतीक है, जैसे विष्णु त्रिलोकी में अपने चरण-विन्यास किए हुए है, ऐसे ही राजा अपने प्रभाव से राष्ट्र में सर्वत्र व्यापक रहे। ये प्रेरणाएँ राजा को उक्त दसों देवों से लेते हुए कार्य करना हैं, ऐसा वेद का आशय है।

गणतन्त्र के अधिपति का ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों में आह्वान किया गया है—

[२]गणनां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥
— ऋ० २.२३.१

"तुझ गणतन्त्र के अधिपति का हम आह्वान करते हैं। तू मेधावियों में अतिशय मेधावी है, तेरा यश अनुकरणीय है। तू ज्येष्ठ राजा है, तू ब्रह्मणस्पति है। तू हमारे आह्वान को सुनकर अपनी रक्षाओं के साथ राष्ट्र-सदन में आकर बैठ।"

राज्यपरिषदें

वैदिक राजा या प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र नहीं, किन्तु सभा और समिति के अधीन है। राजा उनके विषय में स्वयं कहता है—

[३]सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षात् चारु वदानि पितरः संगतेषु॥
—अथर्व० ७.१२.१

"सभा और समिति दोनों मिलकर मेरी रक्षा करें, जो मुझ प्रजापति की पुत्रियाँ हैं। सभा और समिति के जिस सदस्य से भी मैं मिलूँ, वह मुझे उचित परामर्श दे। हे सदस्यो, जब तुम इन राज्य-परिषदों में मिलकर बैठो, तब मैं राष्ट्र के प्रति चारु भाषण करूँ।

आधुनिक परिभाषा में ये राज्यपरिषदें लोक-सभा और राज्यसभा कहला सकती हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार राज्य में तीन राज्यपरिषदों को बनाया जाना लिखा है—

[४]त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान्॥
—ऋ० ३.३८.६

"राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर राष्ट्रयज्ञ के संचालनार्थ विद्यार्य-सभा, धर्मार्य-सभा और राजार्य-सभा नामक राज्यपरिषदों का निर्माण करें। उनमें ऐसे सदस्य रहें जो राष्ट्र को धारण करने में समर्थ (गन्धर्व) तथा वायु के समान सर्वविषयसंचारी और सूर्यरश्मियों के तुल्य विषयप्रकाशक हों।"

अथर्ववेद में राजा को भी सभा का सदस्य बताया है और कहा है कि वह तथा अन्य सभासद् मिलकर सभा की रक्षा करें—

[५]सभ्य सभां मे पाहि
ये च सभ्याः सभासदः। —अथर्व० १९.५५.६

सेना और युद्ध

सभा और समिति के साथ राष्ट्ररक्षा के लिए सेना की भी आवश्यकता वेद में कही गई है—"तं सभा च समितिश्च सेना च" (अथर्व० १५.९.२)। हमारा

राष्ट्र कभी शत्रु से पराजित न हो, इस विषय की प्रार्थनाएँ और उद्‌बोधनगीत वेदों में बहुत प्रचुरता के साथ विद्यमान हैं।

[६]इन्द्रो जयति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह॥

—अथर्व० ६.९८.१

"हमारे राष्ट्र का अधिनायक सदा विजयी रहे, कभी पराजित न हो। राजाओं में अधिराज होकर शोभा पाये। वह कर्मकुशल, प्रशंसनीय, वन्दनीय तथा प्रजा की पहुँच में रहनेवाला हो।"

[७]इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय।
महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्याय॥ —यजु० ९.४०

"हे देवजनो, हमारे इस नायक को शत्रुरहित करो, महान् क्षेत्र के लिए, महान् ज्येष्ठत्व के लिए, महान् गणराज्य के लिए।"

प्रयास ऐसा होना चाहिए कि युद्ध कभी उपस्थित ही न हो तथा सभी राष्ट्रों में पारस्परिक सद्‌भावना रहे। युद्धों में पुरुषों का और जगत् का संहार होता है। इसे रोकना चाहता हुआ वेद कहता है—**'मा हिंसीः पुरुषं जगत्'** (यजु० १६.२१)।

किन्तु विवशता में युद्ध करना ही पड़े तो फिर युद्ध के रोमांचक चित्र भी वेद प्रस्तुत करता है। सैनिकों को उद्‌बोधन देता हुआ वेद कहता है—

'स्थिर हों तुम्हारे शस्त्रास्त्र शत्रु का प्रतिरोध करने के लिए और रणांगण में उसे पीछे हटा देने के लिए। तुम्हारी सेना प्रशंसा के योग्य हो, मायावी शत्रु की सेना तुम्हारी सेना की तुलना में शोभाहीन प्रतीत हो। हे हिंसकों की हिंसा करनेवालो, न आकाश में शत्रु तुम्हें पा सके, न ही भूमि पर। तुम्हारी सेना परस्पर सहयोग से अति विस्तीर्ण हो, जिससे तुम शत्रु से लोहा ले सको। —ऋ० १.३९.२,४

वेद की प्रेरणा है कि हम सर्वात्मना यत्नशील रहें कि हमारा स्वराज्य किसी से छीना न जाए, हम प्रहरी बन खड़े रहें—**व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये** (ऋ० ५.३६.३) यदि कोई हमारे स्वराज्य का अपहरण करना चाहता है तो हम उससे जूझ पड़ें।

"आगे बढ़, आक्रमण कर, शत्रुओं को परास्त कर। देख, तेरा वज्र झुके नहीं, हे वीर, तेरा बल शत्रु को नत कर देनेवाला है। अत्याचारी का वध कर दे, शत्रु से अवरुद्ध किए गए धन, जन, सत्य, न्याय आदि प्रवाहों को पुनः प्रवाहित कर दे। तू स्वराज्य का पुजारी है। न गर्जन से, न तर्जन से शत्रु तुझे भयभीत कर सके। वैरी के प्रति सहस्रों को भून डालनेवाला तेरा लौह वज्र तैयार रहे। तू स्वराज्य का पुजारी है (ऋ० १.८०.३.१२)।"

ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय

राष्ट्र का जहाँ आत्मरक्षा के लिए क्षात्रबल में समृद्ध होना आवश्यक है,

वहाँ आत्मोन्नति के लिए ब्रह्मबल की आवश्यकता है। ब्रह्मबल के बिना क्षात्रबल पंगु है। क्षात्रबल को ब्रह्मबल-विहीन देखकर ही ऋषि विश्वामित्र ने कहा था कि क्षात्रबल को धिक्कार है, ब्रह्मबल ही वास्तविक बल है—"धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।" यजुर्वेद में कहा है कि जिस राष्ट्र में ये दोनों बल परस्पर समन्वय के साथ विद्यमान रहते हैं वह राष्ट्र पुण्यशाली है—

[८]यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

—यजु० २०.२५

ब्रह्मबल राष्ट्र में शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति, अध्यात्म के विकास तथा सार्वभौम धर्म, सत्य, न्याय आदि के प्रसार का प्रतीक है। राष्ट्रोन्नति के लिए इन दोनो का विकास आवश्यक है। इसलिए प्राचीन काल में ब्रहर्षि राजाओं के परामर्शदाता हुआ करते थे तथा वे राष्ट्र को नैतिक दृष्टि से समृद्ध करने में सहायक होते थे।

भूमि-सूक्त

अथर्ववेद का 'भूमिसूक्त' राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रसमृद्धि और राष्ट्रगौरव का गान करनेवाला अमरगीत है। उसमें कहा है कि किसी भी राष्ट्र के धृत रहने के लिए सत्यज्ञान, सत्याचरण, दीक्षा, तप,ब्रह्म और यज्ञ, ये आवश्यक तत्त्व हैं (मन्त्र १)। राजा और प्रजा यदि सदा जागरूक रहकर राष्ट्रभूमि की रक्षा करते हैं, तो राष्ट्रभूमि रूपी गाय मधु, प्रिय और वर्चस् का दोहन करने लगती है (मन्त्र ७)। राष्ट्रभूमि मेरी माता हे, मैं उसका पुत्र हूँ—**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः** (मन्त्र १२)। जो कोई हमसे द्वेष करता है, हमें मानसिक दासता में डालता है या शस्त्र द्वारा हमारा वध करता है, उसको हमारी राष्ट्रभूमि विध्वंस करने का सामर्थ्य रखती है (मन्त्र १४)। भूमि में क्या है ? शिला, पत्थर, धूल का ढेर ही तो है ! किन्तु जब उसे कुशल नेतृत्व प्राप्त हो जाता है, निपुण कारीगर मिल जाता है, तब वही भूमि सोना उगलने लगती है, सज-सँवरकर सुव्यवस्थित राष्ट्र के रूप में दिखायी देने लगती है, और प्रत्येक राष्ट्रवासी का सिर उसके आगे झुक जाता है— **पृथिव्या अकरं नमः** (मन्त्र २६)। अपने गर्भ में निधियों को धारण करती हुई राष्ट्रभूमि हमें धन, मणि, हिरण्य प्रदान करे। वह वसुदात्री भूमि-माता प्रसन्न होती हुई हमें अपनी गोद में बैठाये (मन्त्र ४४)। हम अपनी राष्ट्रभूमि को नियमानुसार कर प्रदान करते रहें और आवश्यकता होने पर आत्म-बलिदान के लिए भी तैयार रहें—'**वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम**' (मन्त्र ६२)

[९]जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

—अथर्व० १२.१.४५

विविध वाणियों को बोलनेवाले, अलग-अलग धर्मों वाले सब जनों को हमारी राष्ट्रभूमि वैसे ही अपनी गोद में धारण करती है, जैसे एक घर में विभिन्न

प्रकृति के पारिवारिक जन रहते हैं। वह भूमि पैर न चलाती हुई, स्थिर गाय जैसे सहस्रों दूध की धारें प्रदान करती है, वैसे ही हमें सहस्रों ऐश्वर्य की धारें प्रदान करे।

[१०] ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

—अथर्व० १२.१.५६

जो ग्राम हैं, जंगल हैं, सभाएँ है, संग्राम हैं, समितियाँ हैं, सबमें हे राष्ट्रभूमि, तेरे प्रति हम चारु भाषण करते रहें।

[११] शन्तिवा सुरभिःस्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधिब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥

—अथर्व० १२.१.५९

शान्तिमयी,सौरभमयी, सुखमयी, अमृतभरे ऊधस्वाली, विशाल राष्ट्रभूमि-रूपिणी कामधेनु हमें सदा सत्य, न्याय, स्वास्थ्य, समृद्धि आदि का दूध देती रहे।

इसप्रकार वैदिक गणतन्त्र के आदर्श में मधु-वर्षा है, सुख-समृद्धि है, पारस्परिक सौहार्द है, जनता का राज्य है,'वन्दे मातरम्' की भावना है, अभय है, नैतिकता है, ईश्वर-विश्वास है, मानवता है, साक्षरता है, स्वास्थ्य है। नहीं है तो दरिद्रता, भुखमरी, आधि-व्याधि, पाशवकिता और अन्याय का ताण्डव नृत्य।

और अन्त में यह राष्ट्रीय प्रार्थना—

[१२] आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्
आशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठा
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्
योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ —यजु० २२.२२

'हे ब्रह्मन्, हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। शूर, शस्त्रास्त्र चलाने में निपुण, शत्रुवेद्धा, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। दुधारू गौएँ हों, शीघ्रगामी घोड़े हों। गृहकार्यकुशल, बुद्धिमती नारियाँ हो। विजयशील, रथारोही, सभ्य युवा पुत्र हों। इच्छानुसार बादल बरसें, ओषधियाँ फल-फूलों से लदी रहें। हम सभी का योग-क्षेम होता रहे।'

पाद टिप्पणियाँ—

१. इस मन्त्र का पदार्थ द्रष्टव्यः निबन्ध-संख्या १५ में।

२. (कवीनां कविम्) कवियों में कवि, मेधावियों में अतिशय मेधावी, (उपमश्रवस्तमम्) उपमायोग्य यश वाले, (ज्येष्ठराजम्) ज्येष्ठ सम्राट् (गणानां गणपतिं त्वा) गणों के गणपति तुझे, हम (हवामहे) पुकारते हैं। ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते) हे महान् राज्यों के अधिपति, तू (नः शृण्वन्) हमारी पुकार को सुनता हुआ (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (सादनम्) राज-सदन में (आ सीद) आकर बैठ।

३. राजा कह रहा है—(सभा च समितिः च) सभा और समिति नामक दोनों राज्यपरिषदें (मा अवताम्) मेरी रक्षा करें। ये दोनों (प्रजापतेः) मुझ प्रजापति की (दुहितरौ) पुत्रियाँ हैं, जो (संविदाने) मिलकर रहती हैं। (येन) जिस सदस्य के साथ (संगच्छै) मै मिलूँ, (सः) वह (मा) मुझे (उप शिक्षात्) उचित परामर्श दे। (पितरः) हे सभा-समिति के सदस्यो, (संगतेषु) जब तुम राज्य-परिषदों में मिलकर बैठे हुए होवो, तब मैं तुम्हारे प्रति तथा राष्ट्र के प्रति (चारु वदानि) सुचारु भाषण करूँ।

४. (राजाना) हे राजा और प्रजाजनो, तुम (विदथे) राष्ट्रयज्ञ में (त्रीणि सदांसि) तीन सभाओं को— विद्याप्रचारार्थ विद्यार्य सभा को, राज्यप्रबन्धार्थ राजार्यसभा को और धर्मप्रचारार्थ धर्मार्यसभा को बनाओ। उनसे (पुरूणि) बहुत-से (विश्वानि) सब व्यवहारों को (परिभूषथः) अलंकृत करो, सिद्ध करो। (अत्र) इस विषय में (मनसा) मन से (जगन्वान्) विचारवान् होकर (अपश्यम्) मैंने देखा है कि उन्हीं को सभा-समिति का सदस्य बनाना चाहिए जो (व्रते) व्रतपालन में स्थित हों, (गन्धर्वान्) राष्ट्र को धारण करने में समर्थ हों (अपि) और (वायुकेशान्) वायु के समान दूतों से सब क्रियाकलापों को जान लेनेवाले तथा सूर्यकिरणों के समान सत्य व न्याय के प्रकाशक हों।

५. (सभ्य) हे सभा के अध्यक्ष राजन्, आप (मे सभाम्) मेरी सभा की (पाहि) रक्षा करो, (ये च) और जो (सभ्याः सभासदः) सभ्य सभासद् हैं वे भी सभा की रक्षा करें।

६. (इन्द्रः) हमारा राष्ट्रनायक (जयाति) विजयी हो, (न पराजयाता) पराजित न हो, (राजसु अधिराजः) राजाओं में अधिराज होकर (राजयातै) हम प्रजाओं को राजमान करे। हे राष्ट्रनायक, तू (इहः) इस राष्ट्र में (चर्कृत्यः) शत्रुओं को उच्छेद करनेवाला, (ईड्यः) स्तुतियोग्य, (वन्द्यः) वन्दनीय (उपसद्यः) प्रजाओं की पहुँच में रहनेवाला, और (नमस्यः) नमस्करणीय (भव) हो।

७. (देवाः) हे विद्वज्जनो, आप (इमम्) इस राष्ट्रनायक को (महते क्षत्राय) महान् क्षात्रधर्म के लिए, (महते ज्यैष्ठ्याय) महान् ज्येष्ठत्व के लिए, (महते जानराज्याय) महान् गणराज्य के लिए (असपत्नम्) शत्रुरहित (सुवध्वम्) करो।

८. (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्मबल और क्षात्रबल (सम्यञ्चौ) परस्पर अनुकूल होकर (सह चरतः) एक साथ रहते हैं, और (यत्र) जिस राष्ट्र में (देवाः) विद्वान् लोग (अग्निना सह) राष्ट्रियता की अग्नि या यज्ञाग्नि के साथ विद्यमान होते हैं (तं लोकम्) उस राष्ट्र को (पुण्यं प्रज्ञेषम्) मैं पुण्यशाली समझता हूँ।

९. (पृथिवी) राष्ट्रभूमि (बहुधा) बहुत प्रकार से (विवाचसम्) विभिन्न बोली

बोलनेवाले, (नानाधर्माणम्) अनेक गुण-धर्मोंवाले (जनम्) जनसमूह को (यथा ओकसम्) घर के समान (बिभ्रती) धारण करती हुई (अनपस्फुरन्ती) न बिदकती हुई (ध्रुवा धेनुःइव) स्थिर गाय के समान (मे) मेरे लिए (द्रविणस्य) धन की (सहस्रं धाराः) हजार धाराओं को (दुहाम्) दुहे, प्रदान करे।

१०. (ये ग्रामाः) जो गाँव हैं, (यत् अरण्यम्) जो जंगल है, (अधि भूम्याम्) भूमि पर (याः सभाः) जो सभाएँ हैं, (ये संग्रामाः) जो संग्राम हैं, (समितयः) समितियाँ हैं (तेषु) उनमें हे मातृभूमि (ते) तेरे लिए, हम (चारु वदेम) चारु बोलें।

११. (शन्तिवा) शान्तिदायक, (सुरभिः) सुगन्धमयी, (स्योना) सुखदायिनी, (कीलालोध्नी) अमृत-भरे ऊधस् वाली, (पयस्वती) दूध-भरी (पृथिवी भूमिः) विशाल मातृभूमि (पयसा सह) समृद्धिरूप दूध के साथ (मे अधिब्रवीतु) मेरे लिए गौरवगाथा बोलती रहे।

१२. (ब्रह्मन्) हे ब्रह्मन्, (राष्ट्रे) राष्ट्र में (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्चस्वी (आ जायताम्) हो, (राजन्यः) क्षत्रिय (शूरः) शूरवीर, (इषव्यः) बाण चलाने में कुशल, (अतिव्याधी) नीरोग, (महारथः) महारथी (आ जायताम्) हो। (धेनुः) गाय (दोग्ध्री) दुधारू हो, (अनड्वान्) बैल (वोढा) भारवाही हो, (सप्तिः) घोड़ा (आशुः) वेगगामी हो, (योषा) नारी (पुरन्धिः) बुद्धिमती वा गृहपुरी को धारण करनेवाली हो। (अस्य यजमानस्य) इस यजमान का (युवा) युवा पुत्र (जिष्णुः) विजयशील, (रथेष्ठाः) रथारोही, (सभेयः) सभ्य, (वीरः) वीर (जायताम्) हो। (नः) हमारी (निकामे निकामे प्रत्येक कामना पर (पर्जन्यः) बादल (वर्षतु) बरसे। (नः) हमारे लिए (फलवत्यः) फलवती (ओषधयः) ओषधियाँ (पच्यन्ताम्) पकें। (नः) हमारा (योगक्षेमः) योग-क्षेम (कल्पताम्) सम्पन्न हो।

□□

विश्वबन्धुत्व की भावना

वेदों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वेद सार्वजनिक हित, विश्वबन्धुत्व, माधुर्य, प्रेम और शान्ति की भावना से ओतप्रोत हैं।वेदों में संज्ञान, साम्मनस्य, एकता, संगठन, परोपकार आदि की प्रेरणाएँ स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती हैं।

एक माता के पुत्र

वेद की दृष्टि में सम्पूर्ण भूमि हम सबकी माता है—"**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः**" अथर्व० १२.१.१२। संसार का प्रत्येक व्यक्ति यदि वेद की यह दृष्टि सम्मुख रखे कि हम सबकी माता एक है, तो परस्पर सगे भाइयों के समान रहने की बड़ी प्रेरणा मिल सकली है। वेद की शिक्षा है कि हमें छोटे बड़े का भेद-भाव त्यागकर भातृत्व के साथ आगे बढ़ना है—'**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय**' ऋ० ५.६०.५। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में कहा गया है कि यह भूमि विभिन्न भाषाओं के बोलनेवाले और विभिन्न धर्मो वाले जनों को भी अपने अन्दर रखती है, जैसे एक परिवार के लोग एक घर में रहते हैं। इससे हमें यह सन्देश प्राप्त होता है कि भाषा, धर्म, वेशभूषा आदि का भेद होने पर भी पर हमें परस्पर प्रेम से रहना है—

[1]जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं, नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

—अथर्व० १२.१.४५

साम्मनस्य

वेदों में कई साम्मनस्य-विषयक सूक्त मिलते हैं, जिनसे यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि एक परिवार में, एक समाज में, एक राष्ट्र में हम सब परस्पर प्रीतियुक्त मन से रहें। इस सम्बन्ध के कतिपय मन्त्र अग्रलिखित हैं—

[2]सं गच्छध्वं स वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
[3]समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

—ऋ० १०.१९१.२,४

"हे मनुष्यो, तुम सब मिलकर चलो, मिलकर वार्त्तालाप करो, तुम्हारे मन मिल जायें। तुम वैसे ही मिलकर कार्यो को सिद्ध करो, जैसे विभिन्न क्षेत्रों के देव परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। तुम्हारा संकल्प समान हो, तुम्हारे हृदय समान

हों, जिससे तुममें परस्पर साथ रहने की शुभ प्रवृत्ति उत्पन्न हो।''

यहाँ देवों का दृष्टांन्त बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। सभी क्षेत्रों के देव परस्पर साम्मनस्य से ही कार्य करते हैं। प्रकृति में सूर्य, चन्द्र, वायु, पर्जन्य, पृथिवी आदि देव यदि परस्पर सहयोग छोड़ दें, तो समस्त प्राकृतिक कार्य अस्त-व्यस्त हो जाएँ। शरीर के जीवात्मा, मन, बुद्धि चक्षु, श्रोत्र आदि देवों में भी यदि असाम्मनस्य होने लगे तो न मनुष्य कुछ ज्ञान प्राप्त कर सके, न ही कोई कार्य कर सके। ऐसे ही किसी राष्ट्र के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, शिक्षामन्त्री, आदि देव भी एक सूत्र में बद्ध होकर कार्य न करें तो राष्ट्र की उन्नति के सब कार्य रुक जायेंगे। एवं देवों के सहयोगयुक्त व्यवहार से शिक्षा लेकर विश्व के सभी मनुष्यों को पारस्परिक सहयोग और बन्धुत्व की भावना से रहना है, यह वेद का आशय है। पुनः भगवती श्रुति कहती है-

[४]सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
[५]मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

—अथर्व० ३.३०.१,३

''हे मनुष्यो, तुम्हें मैं सौहार्द, साम्मनस्य तथा अविद्वेष का उपदेश देता हूँ। तुम एक-दूसरे से वैसे ही प्रेम करो, जैसे नवजात वत्स से गाय प्रेम करती है। कोई भाई दूसरे भाई से द्वेष न करे, कोई बहिन दूसरी बहिन से द्वेष न करे। तुम मिलकर चलते हुए, सहकर्मी होते हुए एक-दूसरे के प्रति भद्र वाणी बोला करो।''

वेद का यह उपदेश एक छोटे परिवार तथा बड़े विश्व-परिवार दोनों के प्रति समान रूप से प्रवृत्त हो रहा है। वेद का स्पष्ट रूप में यह भी कथन है कि हमें केवल अपनों से ही प्रेम व्यवहार नहीं करना है, अपितु अपरिचितों के प्रति भी स्नेह-भावना रखनी है।

[६]संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमस्मासु नियच्छतम्॥

—अथर्व० ७.५२.१

''हमारी अपनो के प्रति प्रीति हो, परायों के प्रति भी प्रीति हो। हे अश्वीदेवो, तुम हमें संज्ञान या परस्पर मिलकर रहने का गुण प्रदान करो।''

यहाँ अश्वीयुगल से पारस्परिक सहयोग की शिक्षा ग्रहण करने के लिए कहा है। जैसे अश्वीदेव, (सूर्य-चन्द्र, द्यावा-पृथिवी, प्राण-अपान आदि) दो हैं, और दोनों में इतना अधिक सांमनस्य है कि उसके बल पर वे अनेक महिमाशाली कृत्यों को करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही हम मानवों में भी पारस्परिक सामंजस्य हो, यह वेद की प्रेरणा है।

सर्वभूतमैत्री

वैदिक स्तोता सर्वभूतमैत्री का आदर्श अपने सम्मुख रखता हुआ प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे दृते,हे सबके मनों से विद्वेषादि भावों का विदारण करनेवाले प्रभु,आज मैं मैत्री का व्रत ग्रहण कर रहा हूँ, उसपर दृढ़ रहने का सामर्थ्य मुझे प्रदान कीजिए। सब भूत मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, क्योंकि आज से मैं सब भूतों को मित्र की दृष्टि से देखने लगा हूँ। इस प्रकार हम सभी मानव एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखा करें—

[७]**दृते दृँह मा, मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।**
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजु० ३६.१८

इस प्रकार मित्रता और सौहार्द का वेद यह उपाय बताते हैं कि हम दूसरों के प्रति अपने मन में मित्रता की भावना उत्पन्न कर लें। इसका प्रभाव उनपर यथासम्भव अवश्य पड़ेगा और वे भी हमारे प्रति अपने मन में सौहार्द का भाव धारण करने लगेंगे। परिणाम यह होगा कि सारा विश्व परस्पर मैत्री के सूत्र में आबद्ध हो जाएगा। वेद का आदर्श है कि सब दिशाएँ हमारी मित्र हों, कहीं भी कोई शत्रु न रहे—**सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु,** अथर्व० १९.१५.६।

[८]**अनमित्रं नो अधराद् अनमित्रं न उत्तरात्।**
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद् अनमित्रं पुरस्कृधि॥ —अथर्व० ६.४०.३

"दक्षिण दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो, उत्तर दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो, पश्चिम दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो, पूर्व दिशा में हमारा कोई अमित्र न हो।"

वेद सबके प्रति प्रणय का व्यवहार करने की शिक्षा देता हुआ कहता है—

[९]**अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।**
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥ —अथर्व० ७.१०५.१

अर्थात् हे मनुष्य, तू पुरुष-सुलभ कटु वाणी से दूर रह, दिव्य वाणी का वरण कर तथा समस्त मानवों के साथ प्रणय का व्यवहार कर।

द्वेष-निवारण

यदि दुर्भाग्य से कभी कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति या कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति विद्वेषोन्मुख हो भी जाए तो वेद के शब्दों में उसे भ्रातृ-भाव का हाथ बढ़ाते हुए कहना चाहिए—

[१०]**इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।**
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥
—अथर्व० १९.१४.१

आओ, आज हम परस्पर गले मिल लें। अब तक जो कुछ ईर्ष्या, द्वेष,

कलह, विध्वंस हमने किया है, उसकी परम्परा को समाप्त कर दें। अब तक भूमि पर, आकाश में, समुद्र में कहीं भी जाते हुए हमारे मनों में एक भय और सन्देह विद्यमान रहता था कि कहीं यहाँ शत्रु की सुरंगे न बिछी हों, कहीं शत्रु के हवाई जहाज हमें न गिरा दें, कहीं शत्रु की पनडुब्बियाँ हमारे जलपोत को विनष्ट न कर दें, परन्तु आज से इस प्रकार की आशंकाओं का अवसान कर दें। अपने मनों से द्वेष और त्रास को निकाल दें। द्यावापृथिवी हमारे लिए उद्वेजक न रहकर कल्याणकार हो जाएँ। सब दिशाएँ हमारे लिए शत्रु-रहित हो जाएँ।

[११]अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा सम्मनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥
[१२]सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः॥

—अथर्व० ६.४२.१.२

"हे भाई, तुम्हारे हृदय पर मेरे प्रति क्रोध ऐसा चढ़ा हुआ है, जैसे धनुष पर डोरी चढ़ी हुई हो। जैसे डोरी पर चढ़े हुए धनुष से शत्रु पर बाण छोड़ा जाता है, वैसे ही क्रोधाविष्ट हृदय से तुम मेरे ऊपर अनिष्ट के बाणों की बौछार करना चाह रहे हो, परन्तु आज मैं तुम्हारे हृदयों से क्रोध की डोरी को उतारकर रहूँगा। तुम्हारे भारी से भारी क्रोध को मैं अपने प्रेमरूपी पत्थर के नीचे दबा दूँगा। परिणामतः तुम भी मेरे प्रेम का मूल्यांकन कर अपने क्रोध को भुला दोगे और हम पुनः दो मित्रों के समान परस्पर व्यवहार करने लगेंगे।"

द्वेष-निवारण की अग्रांकित वैदिक प्रार्थनाएँ भी अपूर्व प्रेरणादायक हैं—

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्। —ऋ० ४.१.४

'हे प्रभो, हमारे अन्दर से समस्त द्वेषभावनाओं को पृथक् कर दो।'

यूयं द्वेषांसि सनुतर्युयोत। —ऋ० २.२९.२

'हे देवपुरुषो, तुम द्वेषभावों को सदा ही हमसे दूर करते रहो।'

मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्। —अथर्व० १२.२.३३

'न वह हमसे द्वेष करे, न हम उनसे द्वेष करें।'

सब समृद्ध हों

वेद किसी एक व्यक्ति की, एक समाज की या एक राष्ट्र की नहीं, किन्तु सभी व्यक्तियों की, सभी समाजों की और सभी राष्ट्रों की समृद्धि चाहता है।

उसकी कामना है कि सभी दिशाओं के वासी फूलें, फलें, समृद्ध हों। एक प्रार्थना देखिए—

[१३]इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिव-इह स्फातिं समावहान्॥

—अथर्व० ३.२४.३

अर्थात् ये जो पाँच प्रदिशाएँ (पूर्वादि चार तथा एक केन्द्र) हैं, तथा उनमें रहनेवाले जो पंच मानव हैं, वे सभी इस प्रकार समृद्धि को प्राप्त करें जिस प्रकार वर्षा होने पर नदियाँ जल की बाढ़ को प्राप्त करती हैं। यहाँ समृद्धि के लिए नदियों की उपमा कैसी सुन्दर है!

सबका मंगल हो

वेद का स्तोता केवल अपना ही नहीं, किन्तु सभी का मंगल चाहता है, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक की स्वस्ति का उसे ध्यान है।

[१४]स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः॥ —अथर्व० १.३१.४

माताओं का मंगल हो, पिताओं का मंगल हो, गौओं का मंगल हों, पुरुषों का मंगल हो, सब जगत् का मंगल हो।

[१५]अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।
अदत् पिबदूर्जयमानमाशितं तदस्मे शंयोररपो दधातन॥
—ऋ० १०.३७.११

हे देवो, द्विपात्-चतुष्पात् दोनों प्रकार के जीवों का कल्याण करो। हम सबको ऐसा सुख और आरोग्य प्रदान करो कि प्रत्येक जीव खाता, पीता तथा बल के कार्य करता रहे।

निम्न वैदिक प्रार्थनाएँ भी सर्वभूतहित की भावना पर प्रकाश डालती हैं—

सर्वमिज्जगद् अयक्ष्मं सुमना असत्। —यजु० १६.४

''सारा ही जगत् रोगरहित तथा स्वस्थ मन वाला हो।''

विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्। —यजु० १६.४८

''इस समाज में सभी हृष्टपुष्ट तथा नीरोग रहें।''

वेदों की अधिकतर प्रार्थनाएँ 'नः', 'अस्मभ्यम्', आदि बहुवचनान्त शब्दों द्वारा की गयी हैं। इसका कारण भी यही है कि वेद का स्तोता केवल अपने स्वार्थ नहीं देखता, किन्तु उसके अन्दर विश्वबन्धुत्व की भावना होने से वह कल्याणप्राप्ति में सभी को सांझी बनाना चाहता है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में सविता देव से बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करने की याचना सभी के लिए है। **'यद् भद्रं तन्न आसुव'** में सविता से भद्र-प्राप्ति की प्रार्थना भी सभी के लिए की गयी है। **'उद् वयं तमसस्परि'** में तामसिकता से मुक्त होकर ज्योति में जाने की कामना भी सबके लिए है। **'वयं सर्वेषु यशसः सयाम'** में यशस्विता की प्रार्थना, **'अगन्महि मनसा सं शिवेन'** में शुभमनस्कता की प्रार्थना, **'अस्मान् पुनीहि चक्षसे'** में पवित्रता की प्रार्थना, **'अप नः शोशुचदघम्'** में पाप-शोषण की प्रार्थना, **'स्वस्ति नो अभयं च नः'** में स्वस्ति तथा निर्भयता की प्रार्थना, **'वयं मधुमन्तः स्याम'** में माधुर्य की प्रार्थना **'श च नो मयश्च नः'** में सुख-शान्ति तथा आरोग्य की प्रार्थना, **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** में धनपति होने की प्रार्थना, **'ऋतमस्माकं**

तेजो ऽस्माकम्' में ऋत और तेज की प्रार्थना, '**परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु**' में मृत्यु-विनाश एवं अमरत्व की प्रार्थना तथा '**वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः**' में इन्द्र के प्रिय बनने की प्रार्थना सबके लिए ही है।

क्वचित् 'अहं, मे, मम, मह्यम्' आदि एकवचनान्त शब्दों से प्रार्थना है भी तो वह इसलिए कि एक-एक व्यक्ति के गुणवान् होने से अन्ततः समाज ही गुणी होता है। बहुत-से वेदमन्त्रों में तो ऐसा भी है कि प्रथम अपने लिए प्रार्थना की गई है, तो उपसंहार बहुजनहिताय में ही किया गया है। यथा—

[१६]**यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद् दधातु।**
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ —यजु० ३६.२

यहाँ कोई व्यक्ति अपने चक्षु, हृदय तथा मन के दोषों को दूर करने की प्रार्थना करता है। व्यक्तिगत दोषनिवारण होने पर लाभ समष्टि का ही होगा, अतः मन्त्र के उपसंहार में वह कहता है कि भुवनपति प्रभु हम सभी को सुख-शान्ति प्रदान करें।

परोपकार का आदर्श

वेदों में विश्वबन्धुत्व की भावना होने का एक यह प्रमाण भी है कि परोपकार तथा दान वैदिक संस्कृति के अंग है। ऋग्वेद में दानस्तुति के अनेक सूक्त आये हैं। कदि कहीं कोई संकटापन्न मानव दिखयी देता है तो वैदिक दृष्टि में हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी सहायता करें। वेद का आदेश है कि समृद्ध को चाहिए कि वह निर्धन को अवश्य दान करे। दान की भावना को जगाने के लिए श्रुति कहती है कि सम्भव है कल तुम गरीब हो जाओ तथा तुम्हें दूसरों के दान की आवश्यकता अनुभव होने लगे, क्योंकि सम्पत्तियाँ तो रथ के चक्र के समान घूमती हैं तथा एक को छोड़कर दूसरें के समीप जाती रहती हैं—

[१७]**पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्।**
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥
— ऋ० १०.११७.५

वेद की घोषणा है कि अकेला खानेवाला पाप का ही भागी होता है— **केवलाघो भवति केवलादी** (ऋ० १०.११७.६)। अतएव वैदिक उपासक पूषा प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे पूषन्, जिसकी दान की प्रवृत्ति नहीं है उसे आप दान के लिए प्रेरित कीजिए, आप कृपण के कठोर मन को मृदु कर दीजिए, जिससे वह दुखिया को देखकर पसीजे—

[१८]**अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।**
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ॥ —ऋ० ६.५३.३

वेद कहते हैं कि जो आपद्ग्रस्त की धन, अन्न आदि से सहायता नहीं करता, प्रत्युत उसके सामने ही स्वयं भोग करने में संलग्न रहता है, वह अन्ततः सुखी नहीं हो सकता—

[१९]य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥
—ऋ० १०.११७.२

जनसंहार न हो

आज अधिकतर राष्ट्र एक-दूसरे को नीचा दिखाते हैं। शस्त्रास्त्रों की होड़ लग रही है। ऐसे-ऐसे संहारक अणु-गोलों का आविष्कार हुआ है कि एक ही गोले से देश के देश ही विध्वंस हो जाएँ, परन्तु वेद को यह स्थिति वांछित नहीं है। वेद कहता है—

[२०]यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ —यजु० १६.३

'हे रुद्र, हे शक्तिधर, तुझे तो 'गिरिशन्त' और 'गिरित्र' अर्थात् लोकरक्षक होना चाहिए—**गिरिषु पर्वतवदुन्नतेषु राष्ट्रेषु शं कल्याणं तनोतीति गिरिशन्तः। गिरीन् राष्ट्राणि त्रायते इति गिरित्रः।** तूने अपनी शक्ति के मद में आकर फेंकने के लिए जो इषु, जो भयंकर अस्त्र हाथ में पकड़े हुए हैं, उन्हें शिव बना, उनका संसार के हित के लिए प्रयोग कर। उनसे तू निरीह पुरुषों का और जगत् का संहार मत कर।''

[२१]प्रमुञ्च धन्वनस्त्वम् उभयोरात्र्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप॥
—यजु० १६.९

''तूने जो धनुष की दोनों कोटियों पर प्रत्यंचा चढ़ाई हुई है उसे खोल दे, और जो चलाने के लिए बाण पकड़े हुए हैं उन्हें दूर कर दे, अर्थात् जो युद्ध की तैयारी कर ली है, उससे उपरत हो जा।''

वेदों की शान्तिप्रियता

वेदों को शान्ति इतनी अधिक प्रिय है कि कई सम्पूर्ण सूक्त शान्ति का आह्वान करने वाले हैं। देवों से, मानवों से, प्रकृति की एक-एक वस्तु से शान्ति की पुकार की गई है—

[२२]शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥
— ऋ० ७.३५.८, अथर्व० १९.१०.८

''यह विस्तीर्ण प्रकाश का गोला सूर्य हम मानवों के लिए शान्ति लाता हुआ उदित हो। चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्ति को विकीर्ण करें। ये अचल पर्वत हमें शान्ति का संदेश सुनायें। ये समुद्र और नदियाँ भी हमें शान्ति का पाठ पढायें।''

[२३] शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥

—अथर्व० १९.९.१

''तेजोमय द्युलोक हमारे लिए शान्ति का सन्देशवाहक हो। यह विस्तृत अन्तरिक्ष हमें शान्ति की प्रेरणा दे। ये समुद्र की लहरें हमें शान्ति का गान सुनाएँ और ये प्रसूनों तथा फलों वाली ओषधि-वनस्पतियाँ हमारे लिए शान्ति का राग गायें।''

[२४] इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥
[२५] इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥
[२६] इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि
मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥

—अथर्व० १९.८.३.५

मनुष्य के अन्दर विद्यमान वाणी ओर मन परमेष्ठी हैं, परम पद पर स्थित हैं, परम शक्तिशाली हैं, परन्तु इनके दुरूपयोग के कारण कभी-कभी मानव मानव का शत्रु बन जाता है, उसके रक्त का पिपासु हो जाता है। मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी मनुष्य के लिए अद्‌भुत देन हैं, परन्तु इनका भी सम्यक् उपयोग न करने से बड़े घोर परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। वेद की प्रेरणा है कि इन वाक्, मन तथा इन्द्रियों को हम ज्ञान से तीक्ष्ण कर लें, जिससे ये पारस्परिक कलह के कारण न बनकर संसार में शान्ति का साम्राज्य लाने वाले हों।

युद्ध क्यों

अब तक जो कुछ लिख गया है वह वेदों की विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रकाशित करता है। परन्तु यहाँ एक शंका उपस्थित होती हैं। वह यह है कि यदि वेद विश्वबन्धुत्व तथा सार्वजनिक हित के ही समर्थक हैं, तो उनमें पग-पग पर भीषण युद्ध, शत्रुवध, विजय आदि के वर्णन क्यों आये हैं ? वेदों के प्रमुख देवता इन्द्र के शत्रुविजय के इतिहास से वेदों के पृष्ठ क्यों रंगे पड़े हैं ? इसका उत्तर भी कठिन नहीं है। वेद के युद्ध-वर्णनों में एक बात विशेष रूप से यह द्रष्टव्य है कि सर्वत्र देवों को राक्षसों के विरुद्ध अभियान के लिए प्रेरित किया गया है। ऐसा एक भी स्थल नहीं है जहाँ देवों को देवों के विरोध में उकसाया गया हो। इन राक्षसों को यातुधान, पिशाच, क्रव्याद्, रक्षस्, दास, वृत्र, दस्यु, शुष्ण, शम्बर, नमुचि आदि से स्मरण किया गया है। यातुधान वे हैं जो निर्दोष लोगों को भयंकर यातनाएँ देते हैं। पिशाच तथा क्रव्याद् वे हैं जो मनुष्य का तथा गाय, अश्व आदि

उपयोगी पशुओं का कच्चा मांस तक खा जाते हैं। रक्षस् या राक्षस वे हैं जिनके भीषण उपद्रवों से समाज असुरक्षित होा जाता है तथा उसे रक्षा की आवश्यकता होती है। दास वा दस्यु वे हैं जो सज्जनों का व्यापक रूप में उपक्षय करते हैं। वृत्र वे है जो सत्य, न्याय, दया आदि के प्रकाश को ढककर तामसिकता उत्पन्न कर देते हैं। शम्बर वे हैं, जो उत्पात और हिंसा का जाल फैलाकर शान्ति भंग करते हैं। शुष्ण वे हैं जो सत्पुरुषों के शोषण में निरत रहते हैं। नमुचि वे हैं जो सज्जनों को अपनी दुष्टता से दूषित करने के लिए ऐसे चिपट जाते हैं कि छोड़ते ही नहीं। ये सब वे राक्षस है जो साम, दान, भेद इन तीनो का अवलम्बन करने पर भी अपने राक्षसी स्वभाव का परित्याग नही करते, अतः **''चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया''** की नीति के अनुसार इनके प्रति दण्ड का प्रयोग आवश्यक होता है। अतः इन आसुरी सम्पद्वालों पर विजय पाने के लिए दैवी सम्पद्वालों को वेद प्रोत्साहित करते हैं, जैसे श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन को प्रोत्साहित किया है। युद्ध शान्ति की स्थापना के लिए ही होते हैं। साथ ही अध्यात्मक्षेत्र में ये असुर काम, क्रोध आदि हैं, जिनसे अध्यात्म-पथ के पथिक को अहर्निश युद्ध करना पड़ता है। अतएव उनपर विजय पाने के लिए भी मानव को प्रेरित किया गया है।

वेदों के युद्ध-परक वर्णनों को इसी रूप में लेना उचित है, अतः इनसे वेदों की विश्वबन्धुत्व की भावना में कोई अन्तर नहीं आता।

पाद टिप्पणियाँ—

१. इस मन्त्र का पदार्थ द्रष्टव्यः—निबन्ध संख्या १२ में।

२. हे भाइयो, तुम (संगच्छध्वम्) मिलकर चलो, (संवदध्वम्) मिलकर बोलो, (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (संजानताम्) मिलकर ज्ञान प्राप्त करें, (यथा) जैसे (पूर्वे देवाः) पूर्वज विद्वान् लोग (संजानानाः) ऐकमत्य रखते हुए (भागम् उपासते) अपने-अपने भाग को पूर्ण करते हैं।

३. (वः) तुम्हारी (आकूतिः) संकल्प-शक्ति (समानी) समान हो, (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना) समान हों। (वः मनः) तुम्हारा मन (समानम् अस्तु) समान हो, (यथा) जिससे (वः) तुम्हारा (सुसह) परस्पर उत्कृष्ट साथ (असति) होवे।

४. (वः) तुम्हारे लिए (सहृदयम्) सहृदयता, (साम्मनस्यम्) समानमनस्कता और (अविद्वेषम्) अविद्वेष (कृणोमि) करता हूँ। तुम (अन्यो अन्यम्) एक-दूसरे को (अभिहर्यत) चाहो, प्यार करो, (जातं वत्सम्) नवजात बछड़े को (अध्न्या इव) जैसे गाय चाहती है, प्यार करती है।

५. (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारं) बहिन से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे। (सम्यञ्चः) मिलकर चलनेवाले और (सव्रताः) समान व्रतवाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) भद्र रीति से (वाचं वदत) वाणी बोलो।

६. (नः) हमारा (स्वेभिः) अपनों से (संज्ञानम्) ऐकमत्य हो। (अरणेभिः) परायों

से (संज्ञानम्) ऐकमत्य हो। (अश्विना) हे प्राण-अपान आदि अश्वी देवो! (युवम्) तुम (अस्मासु) हममें (संज्ञानम्) ऐकमत्य (नियच्छतम्) नियत करो।

७. (दृते) हे द्वेष का विदारण करनेवाले प्रभु, आप (मा) मुझे (दृंह) दृढ़ता प्रदान करो। (मा) मुझे (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आँख से (समीक्षन्ताम्) देखें, (अहम्) मैं भी (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आँख से (समीक्षे) देखता हूँ। इस प्रकार, हम सब एक-दूसरे को (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आँख से (समीक्षामहे) देखते हैं।

८. (अधरात्) दक्षिण दिशा में (नः अनमित्रम्) हमारा कोई अमित्र न हो, (उत्तरात्) उत्तर दिशा में (नः अनमित्रम्) हमारा कोई अमित्र न हो। (इन्द्र) हे इन्द्र प्रभु, (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (नः अनमित्रम्) हमारा कोई अमित्र न हों, (पुरः) पूर्व दिशा में (नः अनमित्रं कृधि) हमें अमित्र-रहित कर दो।

९. हे मनुष्य, तू (पौरुषेयात्) पुरुष-सुलभ कटु वाणी से (अपक्रामन्) दूर रहता हुआ, (दैव्यं वचः) दिव्य वाणी को (वृणानः) वरण करता हुआ (विश्वेभिः सखिभिः सह) सब सखाओं के साथ (प्रणीतीः अभ्यावर्तस्व) प्रेम का व्यवहार कर।

१०. (इदम् उत् श्रेयः) यही श्रेयस्कर है कि अब मैं (अवसानम् आगाम्) कलह का, ईर्ष्या-द्वेष का अन्त कर दूँ। (मे) मेरे लिए (द्यावापृथिवी) आकाश-भूमि (शिवे अभूताम्) शिव हो गये हैं। (प्रदिशः) मुख्य दिशाएँ (मे) मेरे लिए (असपत्नाः) शत्रुरहित (भवन्तु) हो जाएँ। हे भाई, हम (त्वा) तुझसे (न वै द्विष्मः) अब द्वेष नहीं करते हैं। (नः) हम सबके लिए (अभयम् अस्तु) अभय हो जाए।

११. हे भाई (धन्वनः) धनुष से (ज्याम् इव) जैसे डोरी को उतारते हैं, वैसे ही (ते हृदः) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) उतार देता हूँ, (यथा) जिससे हम दोनों (सम्मनसौ भूत्वा) समान मन वाले होकर (सखायौ इव) मित्रों के समान (सचावहै) मेल से रहें।

१२. हम दोनों (सखायौ इव) मित्रों के समान (सचावहै) मेल से रहें। (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (अव तनोमि) उतार देता हूँ। (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (यः गुरुः) जो बहुत भारी है उस (अश्मनः अधः) पत्थर के नीचे (उपास्यामसि) रख देते हैं।

१३. (इमाः याः) ये जो (पञ्च प्रदिशः) पाँच मुख्य दिशाएँ है और (पञ्च मानवीः कृष्टयः) पाँच मनुष्य-प्रजाएँ हैं, वे सब (इह) इस संसार में (स्फातिम्) वृद्धि को (समावहान्) प्राप्त करें, (वृष्टे) वर्षा होने पर (नदीः) नदियाँ (शापम् इव) जैसे जल की बाढ़ को प्राप्त करती हैं।

१४. (मात्रे) माता के लिए (उत) और (पित्रे) पिता के लिए (स्वस्ति अस्तु) स्वस्ति हो। (गोभ्यः) गायों के लिए, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिए (जगते) सारे ही जगत् के लिए (स्वस्ति) स्वस्ति हो।

१५. (देवाः) हे देवो, (अस्माकम्) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दोपाये और चौपाये (उभयाय जन्मने) दोनों ही जन्मधारियों के लिए (शर्म यच्छत) सुख प्रदान

करो। (अस्मे) हमें (तत्) वह (शम्) शान्ति (योः) उपद्रव-निवारण, तथा (अरपः) निर्मलता (दधातन) प्राप्त कराओ, जिससे सब (अदत् पिबत्) खाते-पीते (उर्जयमानम्) बल के कार्य करते (आशितम्) तृप्त रहें।

१६. (यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र का, (हृदयस्य) हृदय का, (मनसः वा) या मन का (अतितृण्णम्) बहुत फैला हुआ (छिद्रम्) छिद्र है (तत् मे) उस मेरे छिद्र को (बृहस्पतिः) ज्ञानी परमेश्वर (दधातु) भर देवे। (यः) जो (भुवनस्य पतिः) जगत् का पति परमेश्वर है, वह (नः) हम सबके लिए (शं भवतु) शान्तिकारक हो।

१७. (तव्यान्) समृद्ध मनुष्य (नाधमानाय) याचना करनेवाले को (पृणीयात् इत्) अवश्य ही देवे। वह (द्राघीयांसं पन्थाम्) लम्बे मार्ग को (अनुपश्येत) देखे। (रायः) सम्पत्तियाँ (रथ्या चक्रा इव) रथ के पहिये के समान (उ हि) निश्चय ही (आवर्तन्ते) घूमती रहती हैं।

१८. (आघृणे पूषन्) हे तेजस्वी पोषक परमेश्वर, आप (अदित्सन्तं चित्) जो दान करना नहीं चाहता उसे (दानाय) दान के लिए (चोदय) प्रेरित करो, (पणेः चित्) कृपण मनुष्य के भी (मनः) मन को (विम्रद) विशेष रूप से कोमल कर दो।

१९. (यः) जो (अन्नवान् सन्) अन्नों का स्वामी होता हुआ भी (आध्राय) सहारा देने योग्य, (पित्वः चकमानाय) अन्न को चाहने वाले, (रफिताय) दरिद्रता से हिंसित, (उपजग्मुषे) पास आए भिक्षुक के सामने (मनः) मन को (स्थिरं कृणुते) कठोर कर लेता है, (उतो चित्) और (पुरा सेवते) उसके सामने ही भोग करता है (सः) वह (मर्डितारम्) सूख देनेवाले को (न विन्दते) नही पाता।

२०. हे (गिरिशन्त) पर्वत के समान उन्नत राष्ट्र में सुख-शान्ति देनेवाले राजन्, आप (अस्तवे) फेंकने के लिए (याम् इषुम्) जिस बाण को (हस्ते विभर्षि) हाथ में धारण किये हो, (ताम्) उसे (गिरित्र) हे राष्ट्ररक्षक, आप (शिवां कुरुं) शिव बनाओ, (पुरुषम्) पुरुषों का (जगत्) जगत् का (मा हिंसीः) संहार मत करो।

२१. हे वीर, (त्वम्) तू (धन्वनः) धनुष की (उभयोः आर्त्न्योः) दोनों कोटियों से (ज्याम्) डोरी को (प्रमुञ्च) उतार दे। (भगवः) हे भगवन् (याः च) ओर जो (ते हस्ते) तेरे हाथ में (इषवः) बाण हैं, (ताः) उन्हें (परा वप) वापस तरकश में रख दे।

२२. (उरुचक्षाः सूर्यः) विस्तीर्ण प्रकाश वाला सूर्य (नः) हमारे लिए (शम्) शानितकारी होता हुआ (उदेतु) उदित हो। (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाएँ (नः) हमारे लिए (शं भवन्तु) शान्तिदायक हों। (ध्रुवयः पर्वताः) अचल पहाड़ (नः) हमारे लिए (शं भवन्तु) शान्तिदायक हों। (नः) हमारे लिए (सिन्धवः) समुद्र (शम्) शान्तिदायक हों (उ) और (आपः) नदियाँ (शं सन्तु) शान्तिदायक हों।

२३. (द्यौः) द्यौ लोक (शान्ता) शान्तिवाहक हो, (पृथिवी) भूमि (शान्ता) शान्तिवाहक हो, (इदम् उरु अन्तरिक्षम्) यह विस्तीर्ण अन्तरिक्ष (शान्तम्) शान्तिवाहक हो। (उदन्वतीः आपः) समुद्र के जल (शान्ताः) शान्तिवाहक

हों, (ओषधी:) ओषधियाँ (नः) हमारे लिए (शान्ताः सन्तु) शान्तिवाहक हों।

२४. (इयं या) यह जो (परमेष्ठिनी) परम पद पर स्थित, (ब्रह्म-संशिता) ज्ञान से तीक्ष्ण की हुई (देवी वाग्) व्यवहार में सहायक वाणी है, (यया एव) जिससे ही (घोरं ससृजे) बड़े घोर परिणाम उत्पन्न करता है, (तया एव) उसी से (नः शान्तिः अस्तु) हमें शान्ति प्राप्त हो।

२५. (इदं यत्) यह जो (वाम्) आप स्त्री-पुरुषों का (परमेष्ठिनम्) परम पद पर स्थित, (ब्रह्मसंशितम्) ज्ञान से तीक्ष्ण किया हुआ (मनः) मन है, (येन एव) जिससे ही (घोरं ससृजे) बड़े घोर परिणाम उत्पन्न करता है, (तेन एव) उसी से (नः शान्तिः अस्तु) हमें शान्ति प्राप्त हो।

२६. (इमानि यानि) ये जो (मे हृदि) मेरे हृदय में (मनः षष्ठानि) मन जिनमें छठा है ऐसी (पञ्च इन्द्रियाणि) पाँच इन्द्रियाँ (ब्रह्मणा संशितानि) ज्ञान से तीक्ष्ण की हुई हैं, (यैः एव) जिनसे ही (घोरं ससृजे) घोर परिणाम उत्पन्न करता है, (तैः एव) उन्हीं से (नः शान्तिः अस्तु) हमें शान्ति प्राप्त हो।

❑❑

राजा और प्रजा का नूतन नगरी में प्रवेश

(अथर्ववेद १९.१९ के आधार पर)

एक ओर पुरोहित विराजमान है, दूसरी ओर राजा और प्रजा नूतन नगरी में प्रवेश की दीक्षा के लिए खड़े हैं। पुरोहित का स्वर सुनाई देता है—

[१]मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ १॥

"पृथिवी एक नगरी है। मित्र अर्थात् अग्नि उसका राजा है। वह पृथिवी रूपी नगरी के साथ सब प्रकार से उन्नत हुआ है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर इसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान कराती रहे।"

देखो, हे राजन् और प्रजा के प्रतिनिधियो, आज इस नूतन नगरी में प्रवेश के समय तुम्हें कुछ आदर्शों को सामने रखना है। पहला आदर्श है मित्र और पृथिवी का। राजन्, तुम्हें प्रजा का सच्चा मित्र बनना है और मित्र नामक अग्नि की तरह प्रकाशमान, कार्यसाधक तथा ऊर्ध्वगामी होना है। तुम्हें अपनी नगरी को पृथिवी की तरह आदर्श बनाना है। पृथिवी नियमानुसार अपने अक्ष पर तथा सूर्य के चारों ओर गति कर रही है, ऐसे ही तुम अपनी नगरी को सतर्कता के साथ लक्ष्य के चारों ओर घुमाते रहो, उसे निष्क्रिय ओर जडवत् न रहने दो। जिस नगरी में सब प्रकार की आवश्यक हलचलें होती रहती हैं, वह नगरी उन्नत होती है। तुम्हारी नगरी में पृथिवी-जैसी नियम-व्यवस्था भी रहनी चाहिए। पृथिवी में जैसा बीज डाला जाता है, वैसा ही उससे फल उपजता है। ऐसा कभी नहीं होता कि आम का बीज डालने पर अमरूद का फल पैदा हो, या आम का रद्दी बीज बोने पर बढ़िया आम पैदा हो। इसी प्रकार नगरी में भी कर्मानुसार फल-व्यवस्था होनी चाहिए। अच्छे कर्म करने वाले को प्रोत्साहन और पाप कर्म करने वाले को दण्ड मिलना चाहिए। पृथिवी में यह गुण भी है कि वह समयानुसार अपने वातावरण में परिवर्तन ले आती है, उस पर ऋतु-परिवर्तन हुआ करते हैं, वह गर्म, ठण्डी, शीतोष्ण आदि होती रहती है। वैसे ही तुम्हारी नगरी जब शान्ति की आवश्यकता हो तब शान्त रहे, किन्तु जब शत्रु उसके सिर पर हो और उसे गर्म तथा प्रचण्ड होने की आवश्यकता दीखे तब प्रचण्ड हो उठे। पृथिवी में चट्टानों की कठोरता भी है, फूलों की मृदुता भी है, स्थिरता भी है, गति भी है, ऐसी ही तुम्हारी नगरी में होनी चाहिए। पृथिवी पर रक्षक पहाड़ खड़े चौकसी कर रहे हैं, वैसे ही तुम्हारी नगरी में शूरवीर क्षत्रिय रक्षा के लिए सन्नद्ध रहने चाहिएँ। पृथिवी पर जैसे संचयशील समुद्र या सोना-चाँदी की खानें विद्यमान है, वैसे ही तुम्हारी नगरी में संचयशील वैश्य होने चाहिएँ। पृथिवी पर जैसे परहित के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देने वाली वृक्ष-वनस्पतियाँ लहरा रही हैं, वैसे ही तुम्हारी

नगरी में ब्राह्मण-वृत्ति के पुरुष होने चाहिएँ। इन सब शिक्षाओं को तुम पृथिवी के दृष्टान्त से ग्रहण करो, तुम्हारी नगरी परम शोभामयी हो जाएगी। उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, हम आपके आदेश का यथाशक्ति पालन करेंगे।

पुरोहित का स्वर पुनः मुखरित होने लगता है—

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ २॥

"वायु राजा है, अन्तरिक्ष नगरी है। कैसा उन्नत यह राज्य है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर उसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

हे राजन्, तुम्हें वायु के समान बनना चाहिए। वायु जैसे सबको प्राण देने वाला है, ऐसे ही तुम्हें प्रजा के लिए प्राणदायक होना चाहिए। पक्षी-रूपी प्रजाओं को अन्तरिक्ष-रूपी नगरी में उड़ने के लिए जैसे वायु सहायक होता है, उसी प्रकार राष्ट्र में उन्नति के लिए पंख फड़फड़ाती हुई प्रजाओं का तुम्हें सहायक होना चाहिए। साथ ही तुम्हारी नगरी को अन्तरिक्ष की तरह विशाल और उज्ज्वल होना चाहिए। अन्तरिक्ष-नगरी में जैसे वर्षा की पवित्र धाराओं का स्रोत विद्यमान है, वैसे ही तुम्हारी नगरी में भी अमृत की धाराएँ प्रवाहित होनी चाहिएँ। गगन के समान विस्तीर्ण, उज्ज्वल और अमृतमयी तुम्हारी नगरी हो, इसमें वायु के समान राजा राज्य करता हो, यह मेरा एक स्वप्न है, जिसे तुम पूर्ण करो।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपका स्वप्न पूरा होगा।

पुरोहित फिर कहना आरम्भ करता है—

सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ३॥

"सूर्य राजा है, द्यौ-रूपी नगरी है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर उसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

राजन्, तुम्हें सूर्य के समान बनना होगा। सूर्य कितना तेजस्वी है! अपने तेज से सारे सौर जगत् को प्रकाशित कर रहा है। सब ग्रह-उपग्रह उसी के प्रकाश से चमक रहे हैं। इस भूलोक में भी जितना ताप-प्रकाश है, सब उसी से आया है। ऐसे ही तुम्हें तेजःपुञ्ज बनना होगा और अपने तेज से एक-एक प्रजा को प्रकाशित करना होगा। तुम्हारी एक-एक प्रजा एक-एक लोक के समान है। उसमें तुम्हारा प्रकाश पहुँचना चाहिए। तुम्हें सूर्य बनकर अज्ञान, अविद्या, अविवेक आदि के अंधकार को मिटाना होगा। तुम सूर्य बनो, नगरी द्यौ बने और इस प्रकार सदा अपूर्व तेज के साथ उदीयमान होते रहो।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा

ब्रह्मन्, आपका आशीर्वाद पूर्ण होगा।

पुरोहित के शब्द पुनः गूँज उठते हैं—

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ४॥

"चन्द्रमा राजा है, नक्षत्र उसकी प्रजाएँ हैं, उनके साथ वह अपनी नगरी में शासन कर रहा है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

राजन्, तुम जहाँ सूर्य की तरह प्रतापी हुए हो, वहाँ तुम्हें चन्द्रमा के समान मधुर, सौम्य, शीतल और आह्लाद कभी बनना होगा। तुम ऐसे चन्द्रमा बनो कि सब प्रजारूपी शिशु तुम्हारे पास पहुँचने के लिए या तुम्हें अपने बीच पाने के लिए लालायित रहें। जैसे सिंह-व्याघ्र से मनुष्य दूर रहना चाहता है और डरकर भागता है, वैसे प्रजाएँ तुमसे दूर भागना न चाहें। प्रजा के साथ तुम्हारा वात्सल्यपूर्ण सम्बन्ध होना चाहिए। और प्रजाओ, जहाँ तुम्हारे राजा को चन्द्रमा बनना है वहाँ तुम्हें भी नक्षत्र बनकर दिखाना है। एक-एक प्रजा को ज्ञान, कर्म, उत्साह, चारित्र्य आदि में नक्षत्र की तरह रहना चाहिए। जैसे नक्षत्र टिमटिमाते हुए अपनी ज्याति दिखाते हैं, ऐसे ही प्रत्येक प्रजाजन को उत्साह से स्फुरित होते हुए प्रत्येक कार्य में अपना तेज प्रकट करना चाहिए।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके वचन सत्य होंगे।

पुरोहित फिर कहता है—

सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ५॥

"सोम राजा है, ओषधियाँ उसकी प्रजाएँ हैं, उनके साथ वह नगरी बसाए हुए है। ऐसी ही फूलती-फलती नगरी में तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर उसमें प्रवेश करो। वह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

राजन्, तुम्हें भेषजराज 'सोम' बनना होगा और हे प्रजाओ, तुम्हें भी ओषधियाँ बनना होगा, और इस प्रकार सारी नगरी एक फूलती-फलती, हरी-भरी वाटिका बनेगी। ओषधियों का और ओषधियों के राजा सोम का कार्य है संसार में रोग, पीड़ा, दुःख-दर्द को नष्ट करके सुख-शान्ति लाना।ऐसे ही तुम राजा-प्रजाओं को मिलकर नगरी में समस्त रोगों और संतापों को दूर भगाना होगा। ऐसी अवस्था लानी होगी कि कोई भी किसी व्याधि से ग्रस्त न हो और यदि कोई अकस्मात् व्याधिग्रस्त हो भी जाए, तो वह शीघ्र ही स्वस्थ हो जाए। राजन्, तुम सोम बनकर प्रजाओं का संताप हरो, और प्रजाओ तुम 'ओषधि' बनकर प्राणियों का दुःख दूर करो।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी मनोभिलाषा पूरी होगी।

पुरोहित का कण्ठ-रव फिर गूँजने लगता है—

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ६॥

"यज्ञ राजा है, दक्षिणाएँ उसकी प्रजा हैं। दक्षिणाओं से ही यज्ञ की सफलता है। यज्ञ और दक्षिणा से युक्त ऐसी नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर इसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

हे राजन्, राष्ट्र एक यज्ञ है और यज्ञ दक्षिणाओं से ही सफल होता है, इसलिए राष्ट्र की सफलता दक्षिणाओं पर ही निर्भर है। अतः आवश्यक है कि राष्ट्र-नगरी में राजा की ओर से प्रजा की ओर निरन्तर दान की धारा प्रवाहित होती रहे और प्रजा भी परस्पर व्यवहार में दान-भाव को ग्रहण करे। तभी यह नगरी सुख-समृद्धि से युक्त बन सकेगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी आशाएँ फलीभूत होंगी।

पुनः पुरोहित कहना आरम्भ करता है—

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ७॥

"समुद्र राजा है, नदियाँ प्रजाएँ हैं, उनकी अपनी एक नगरी है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर इसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

राजन्, तुम्हें समुद्र जैसा बनना है। समुद्र नदियों से जल लेकर अपने कोष को भरता रहता है, वैसे ही तुम प्रजाओं से कर लेकर अपने राजकोष को विशाल बनाना, किन्तु समुद्र वह सब जलराशि-कोष सदा अपने ही पास नहीं रखे रहता, वह अपने जल को बाष्प बन जाने देता है और बादल बनाकर फिर नदियों पर बरसा देता है। वैसे ही तुम भी प्रजाओं से कर ले-लेकर उन्हीं की सुख-समृद्धि के लिए उसका व्यय करते रहना। तुम समुद्र बनना, प्रजाये नदियाँ बनेंगी। प्रजाओं से धन-प्रवाह तुम्हारी ओर आएगा, तुम प्रजाओं की ओर उसे प्रवाहित करते रहना। तुम्हारी नगरी आदर्श नगरी बन जाएगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके आशीष सत्य होंगे।

पुरोहित के वचन फिर प्रवृत्त होते हैं—

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ८॥

"ब्रह्म राजा है, ब्रह्मचारी उसकी प्रजाएँ है। वह इस ब्रह्माण्डरूपी नगरी में शासन कर रहा है। ऐसी ही नगरी में मैं तुम्हें प्रवेश कराता हूँ। मिलकर इसमें प्रवेश करो। यह नगरी तुम्हें सब सुख और रक्षाएँ प्रदान करती रहे।"

ब्रह्म परमेश्वर है, वह ब्रह्माण्ड-रूपी नगरी पर राज्य कर रहा है। उसकी प्रजा हैं 'ब्रह्मचारी', अर्थात् ब्रह्म के नियमों के अनुसार चलनेवाले लोग। राजन्, तुम्हें भी ब्रह्म के समान महान् बनना होगा और तुम्हारी प्रजाओं को बनना होगा ब्रह्मचारी—ब्रह्म के आदेशों का पालन करनेवाला। तभी तुम्हारा राज्य प्रतिष्ठित होगा।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी सदिच्छाओं को हम पूर्ण करेंगे।

पुरोहित का शब्द फिर ध्वनित होता है—

इन्द्रो वीर्येणोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ९॥

देवों का राजा इन्द्र है, वह सबसे बड़ा कहलाता है, परन्तु उसके इस बड़प्पन का कारण क्या है, यह क्या तुम जानते हो? उसके बड़प्पन का कारण है वीर्य, पराक्रम। इन्द्र के पराक्रम के वर्णन से सब वेद-शास्त्र भरे पड़े हैं। वह बड़ी से बड़ी बाधा की परवाह नहीं करता, सबको कुचलता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वेद के अनुसार वह सैकड़ों असुरों का संहार करनेवाला है। ब्राह्मणकार कहते हैं कि उस का नाम इन्द्र इसीलिए है, क्योंकि वह इस शत्रु का विदारण करता है, उस शत्रु का भी विदारण करता है' —**इदं दृणाति, इदं दृणाति**। ऐसा ही वीर्यवान् और पराक्रमी, हे राजन् तुम्हें भी बनना है। तुम्हारे राज्य पर जो भी शत्रु आक्रमण करने आए उसका अपने वज्र से विदारण कर डालो। ऐसे 'इन्द्र' तुम बनोगे, तभी तुम्हारी नगरी स्वर्गपुरी बन सकेगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके मुखारविन्द से निकले वचन सत्य होंगे।

पुरोहित पुनः कहता है—

देवा अमृतेनोदक्रामन् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ १०॥

देवता सबसे ऊँचे कहलाते है, किन्तु क्या तुम्हें मालूम है कि उनकी इस उच्चता का कारण क्या है? वह है 'अमृत' अमरत्व। उन्होंने वीर-रस का अमृतपान किया है, इसी कारण उन्हें कोई मार नहीं सकता। इसलिए हे प्रजाओ, जैसे तुम्हारे राजा को इन्द्र बनना है, वैसे ही तुम्हें वीरता के 'अमृत' का पान करके देव बनना है। फिर तुम्हें कोई पराजित नहीं कर सकेगा।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते है और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपकी शुभकामना को हम चरितार्थ करेंगे।

पुरोहित का गम्भीर स्वर एक बार फिर सुनाई देता है—

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ११॥

राजा प्रजापति होता है। राजा की उन्नति प्रजाओं पर निर्भर है। प्रजा उन्नत होगी तो राजा भी उन्नत कहलाएगा, प्रजा का अधः पतन होगा तो राजा भी अधः पतित कहलाएगा। इसीलिए हे राजन्, प्रजाओं को ऊँचा उठाने में ही तुम अपना गौरव समझो। प्रजा का पोषण करो, न कि शोषण। मत भूलो कि तुम प्रजापति हो, प्रजारक्षक हो। तुम्हारी प्रजा का कल्याण होगा, तुम्हारा कल्याण होगा, राष्ट्र का गौरव बढ़ेगा, नगरी समृद्ध होगी।

उत्तर में राजा और प्रजा सिर झुका देते हैं और कहते हैं, ऐसा ही होगा ब्रह्मन्, आपके एक-एक आदेश का हम पालन करेंगे।

(दुन्दुभि बज उठती है, जयजयकार होते हैं, गीतों और वाद्यों के साथ राजा-प्रजा नूतन नगरी में प्रवेश करते हैं।)

(यह रचना अथर्ववेद के उन्नीसवें कांड के उन्नीसवे सूक्त के आधार पर लिखी गई है। प्राचीन विनोयोगकारों ने इस सूक्त का विनियोग इसी रूप में किया है कि जब राजा और प्रजा नूतन नगरी में प्रवेश करने लगें तब इसका पाठ करना चाहिए।)

पाद टिप्पणियाँ—

१. (मित्रः) अग्नि (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (उदक्रामत्) ऊँचा उठा हुआ है, (तां पुरं) उसी नगरी में (वः प्रणयामि) मैं तुम्हें ले जाता हूँ, (ताम् आविशत) उसमें प्रवेश करने के लिए आओ, (तां प्रविशत) उसमें प्रवेश करो (सा) वह नगरी (वः) तुम्हें (शर्म व वर्म च) सुख और रक्षा (यच्छतु) प्रदान करे।

२. यद्यपि मित्र का प्रचलित अर्थ सूर्य होता है, तो भी यहाँ मित्र का अर्थ अग्नि लेना चाहिए, क्योंकि वह पृथिवी के साथ पढ़ा गया है और पृथिवी का राजा अग्नि है, और सूर्य का उल्लेख अगले तीसरे मन्त्र में पृथक् आ भी गया है। —सायण

□□

राज्याभिषेक के समय राष्ट्रपति की प्रतिज्ञा

यर्जुर्वेद के दशम अध्याय में राजसूय यज्ञ का वर्णन है। प्रारम्भिक मन्त्रों में राज्य के चुने हुए प्रतिनिधियों की ओर से पुरोहित द्वारा राष्ट्रपति का अभिषेक किया गया है। तदनन्तर पुरोहित उसे राजकीय चौकी पर बैठाता हुआ कहता है—

स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ —यजु० १०.२६

हे राजन्, यह आसन्दी, यह राजगद्दी स्योना है—सुखदायिनी है, इस पर तुम बैठो। यह राजगद्दी सुषदा है, प्रजा के सुखार्थ बैठने योग्य है, इस पर तुम बैठो। यह राजगद्दी क्षत्र की योनि है, प्रजा को क्षतों, चोटों, प्रहारों से बचाने की कुंजी है, इस पर तुम बैठो। राजा के बैठ जाने पर वह प्रसन्नता व्यक्त करता हुआ कहता है—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ —वही, मन्त्र २७

प्रजापालन का व्रत धारण किए हुए, शुभ प्रज्ञाओं एवं शुभकर्मों से युक्त यह निर्वाचित राष्ट्रपति साम्राज्य के लिए प्रजाओं के बीच आकर इस राजगद्दी पर आसीन हुआ है। हम इसका स्वागत करते हैं, अभिनन्दन करते हैं।

अन्त में अभिषिक्त राष्ट्रपति सबके सम्मुख प्रतिज्ञा करता हुआ कहता है—

[१]**सवित्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा, त्वष्ट्रा रूपैः, पूष्णा पशुभिः,**
इन्द्रेणास्मे, बृहस्पतिना ब्रह्मणा, वरुणेनौजसा, अग्निना तेजसा।
सोमेन राज्ञा, विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि ॥
—वही, मन्त्र ३०

हे राष्ट्र के योग्यतम प्रतिनिधियो, आज आप सबने एक होकर राष्ट्रपति का यह गौरवपूर्ण पद देकर मुझे जो सम्मान प्रदान किया है, उसके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ। आज इस सिहांसन पर बैठकर मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि यह पद कितना गुरुतर है और कितना उत्तरदायित्वपूर्ण हैं। मैं जितना ही अधिक इस पद के गौरव का ध्यान करता हूँ, उतना ही अधिक विनम्रता से मेरा मस्तक झुक जाता है। यह पद तो देवों का पद है। इन्द्र, वायु, यम सूर्य, अग्नि वरुण आदि देवों का अंश लेकर राष्ट्रपति का निर्माण होता हैं, [२] यह स्मृतिकारों का कथन अक्षरशः ठीक है, अतः अपने विषय में भी मैं मानता हूँ कि सच्चे अर्थों में मुझे 'देवों का अंश' बनना चाहिए। इसलिए आज मैं आपके सम्मुख उन सब देवों का स्मरण करना चाहता हूँ।

सर्वप्रथम मैं '**सविता**' देव को स्मरण करता हूँ। 'सविता' प्रसविता है,

प्रेरणा का अधिपति है, सबको शुभ प्रेरणा करनेवाला है। मैं प्रण लेता हूँ कि मैं भी सविता बनूँगा। देश की प्रजा को कर्तव्य की प्रेरणा करना मैं अपना परम कर्तव्य समझूँगा। यदि कभी मेरे देखने या सुनने में आयेगा कि मेरे देश के कोई ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से च्युत हो रहे हैं, कोई क्षत्रिय क्षात्रधर्म से च्युत हो रहे हैं, कोई वैश्य वैश्यत्व से च्युत हो रहे हैं, कोई श्रमिक श्रम से च्युत हो रहे हैं, तो उन्हें कर्तव्य-पालन की प्रेरणा पहुँचाना मेरा सबसे पहला कर्तव्य होगा। मैं सविता बनकर प्रजा को सदा अच्छे कर्मों के लिए प्रोत्साहित करूँगा। मैं 'सत्यप्रसव' बनूँगा, सच्चाई की प्रेरणा करूँगा।

सविता के बाद मैं वाग्देवी '**सरस्वती**' का स्मरण करता हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने राज्यकाल में सदा सरस्वती की आराधना करता रहूँगा। अपने देश की भाषा का गौरव बढ़ाने और उस भाषा में सब प्रकार का साहित्य-सर्जन करने को प्रोत्साहित करूँगा। मेरा प्रयत्न होगा कि मेरे देश की भाषा में उँचे से ऊँचा काव्य हो, मेरे देश की भाषा में ऊँचे से ऊँचा विज्ञान हो, संसार की बड़ी से बड़ी भाषाओं में जो भी उच्च साहित्य है उससे मेरे देश की भाषा वंचित न रहे।

सरस्वती के बाद मैं '**त्वष्टा**' को स्मरण करता हूँ। त्वष्टा रचना का देव है, रूप प्रदान करने वाला है। मैं भी त्वष्टा बनूँगा, राष्ट्र में नवीन-नवीन रचनात्मक कार्यों को प्रगति दूँगा। जिन वस्तुओं का मेरे देश में इस समय निर्माण होता है, उनके निर्माण में मैं अधिक उन्नति करूँगा और जिन वस्तुओं के लिए मेरे देश को अन्य देशों पर अवलम्बित रहना पड़ता है, उनमें से भी जिनका निर्माण मेरे देश में सम्भव है, उनके निर्माण के लिए प्रोत्साहन दूँगा। मैं अपने देश के कला-कौशल को इतना विकसित करूँगा कि मेरे देश की बनी कलापूर्ण वस्तुओं का प्रयोग करने में अन्य देशों के लोग गौरव अनुभव करेंगे।

त्वष्टा के बाद मैं '**पूषा**' का स्मरण करता हूँ। 'पूषा' पशु-समृद्धि का देव है। वह हरे-भरे खेतों को देनेवाला है, अन्न से भूखों का पेट भरनेवाला है। वह मार्गरक्षक है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भी 'पूषा' बनूँगा। मैं अपने देश में पशु-पालन का अच्छे से अच्छा प्रबन्ध करूँगा। मैं गाय, बैल, हाथी, घोड़े, भेड़, बकरी आदि उपयोगी पशुओं के पालन के नवीन वैज्ञानिक ढंग का देश में प्रचार करूँगा, देश में स्थान-स्थान पर गौशालाएँ खुलवाकर शुद्ध दूध-मक्खन आदि को प्रत्येक देशवासी के लिए सुलभ कर दूँगा। मैं गौहत्या को भी रोकूँगा। मैं देश में कृषि के विकास का भी बीड़ा उठाऊँगा। खाद, जुताई, सिंचाई आदि के नवीन उपयोगी तरीकों का देश में प्रचलन कराऊँगा। कृषि क्रे वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कृषि-विश्वविद्यालयों को प्रोत्साहित करूँगा। ऐसा यत्न करूँगा कि देश की भूमि सस्यश्यामला होकर अन्न से भर जाए, एक भी देशवासी भूखा न रहे। मैं पूषा से यह भी शिक्षा लेता हँ कि यातायात के लिए मार्गों की तथा उनपर यात्रियों की पूर्ण सुरक्षा की भी समुचित व्यवस्था कराऊँगा।

पूषा के बाद मैं अपने सजातीय '**इन्द्र**' का स्मरण करता हूँ। जैसे मैं आज राष्ट्रपति बना हूँ, वैसे ही इन्द्र देवों का राष्ट्रपति है। वह 'विडौजा' है। मैं भी उस

इन्द्र की तरह सच्चे अर्थों में 'विडौजा' बनूँगा, प्रजा को ही अपना ओज, अपना बल समझूँगा, उसे अपना वध्य शिकार नहीं समझूँगा। इन्द्र वीरता का भी देव है। उसकी वीरता का वेदों में बहुत वर्णन हुआ है। वह वृत्र, अहि, शम्बर, शुष्ण, नमुचि आदि अनेक असुरों का संहारक तथा आर्यों का रक्षक है। वैसे ही मैं भी असुरों का संहार और आर्य प्रजा की रक्षा करूँगा। मैं अपने देश के नर-नारियों को भी वीर बनाऊँगा और उनके लिए सैनिक-शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करूँगा। इन्द्र ऐश्वर्य का अधिपति व ऐश्वर्य-प्रदाता भी है। वैसे ही मैं ऐश्वर्याधिपति बनूँगा और राष्ट्र को समृद्धि एवं ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचाने के लिए यत्नवान् रहूँगा।

इन्द्र के बाद मैं उस '**बृहस्पति**' का स्मरण करता हूँ, जो ब्रह्मत्व का अधिपति है। ब्रह्म का अर्थ है ब्राह्मण-बल, ज्ञान, आस्तिकता, धर्म। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने देश में जहाँ इन्द्रत्व का, क्षात्रबल का विकास कँरूगा, वहाँ साथ ही ब्रह्मबल का भी उत्थान करूँगा। मेरे देश में उच्च कोटि के स्वाध्यायशील ब्राह्मण पैदा हों, मेरा देश ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ा न रहे, मेरे देश के लोग सच्चे आस्तिक और धर्मपरायण हों, इसके लिए मैं सदा यत्न करता रहूँगा और मैं स्वयं भी राजनीति-विज्ञान का कुशल ज्ञाता, ईश्वर का स्मरण रखकर कार्य करनेवाला तथा धर्मनिष्ठ बनूँगा।

बृहस्पति के बाद में ओजस्वी '**वरुण**' का स्मरण करता हूँ। वरुण पाशी है, उसके पास सैकड़ों पाश हैं, जिनसे वह अपराध करनेवाले को बाँधता है। कोई भी असत्य आचरण करनेवाला उसके पाश से मुक्त नहीं हो पाता। वरुण के सहस्रों गुप्तचर हैं, जो सर्वत्र विचर रहे हैं। कोई कहीं भी जाकर छिप जाए, चाहे द्युलोक के भी परले पार पहुँच जाए, उनकी दृष्टि से नहीं छूट पाता। मैं भी वरुण जैसा बनने का प्रयत्न करूँगा। जहाँ सज्जन निर्भय होकर देश में स्वच्छन्द विचरेंगे, वहाँ अपराधियों को मैं पाश से, हथकड़ी-बेड़ियों से बाँधूँगा और तब तक वे मुक्त नहीं हो पाएँगे जब तक अपने अपराध का यथोचित दण्ड नहीं भोग लेंगे। मैं देश की एक-एक गतिविधि से परिचित रहूँगा। चारों और मेरे गुप्तचर छूटे रहेंगे, जो देश के कोने-कोने की खबर मुझे पहुँचाते रहेंगे। मैं भी वरुण की तरह प्रजा के सत्यानृत को देखता रहूँगा और सत्य को प्रोत्साहित करूँगा तथा असत्य का दमन करता रहूँगा।

वरुण के बाद मैं तेजस्वी '**अग्नि**' का स्मरण करता हूँ। मैं अग्नि के समान स्वयं प्रकाशपूर्ण तथा दूसरों को प्रकाश देकर राह दिखानेवाला बनूँगा। मैं बुझे कोयले की तरह निस्तेज होकर नहीं पड़ा रहूँगा, अपितु अग्नि-ज्वाला की तरह चमकूँगा। जैसे अग्नि की ज्वाला को कोई कितना भी नीचा करना चाहे, वह सदा ऊपर को ही उठती है, वैसे ही विघ्न, शत्रु या परिस्थितियाँ मुझे कितना ही नीचा दबाने का प्रयत्न करें, मैं ऊपर ही उठूँगा, ओर राष्ट्र को भी ऊपर उठाऊँगा। अग्नि में जो आहुति डाली जाती है उसे वह अपने पास नहीं रख लेता, किन्तु उसका रूपान्तर करके उसे सार्वजनिक हित के लिए वायुमण्डल में चारों ओर फैला देता है। वैसे ही प्रजा द्वारा जो आहुति मुझमें पड़ेगी, जो कर (टैक्स) प्राप्त होगा,

उसे मैं सार्वजनिक हित के कार्यों में ही व्यय करवाता रहूँगा।

अग्नि के बाद मैं राजा, '**सोम**' का स्मरण करता हूँ। सोम नक्षत्रराट् चन्द्रमा है। चन्द्रमा की तरह मधुर, सौम्य और आह्लादक मैं बनूँगा। एक ओर जहाँ मुझमें अग्नि जैसा प्रचण्ड तेज होगा, वहाँ दूसरी और चन्द्र जैसा मधुर तेज भी होगा। मैं पूर्णिमा के चन्द्र की तरह षोडश कलाओं से समृद्ध बनूँगा। इस आकाशीय सोम के अतिरिक्त एक अन्य सोम पृथिवी पर भी है, जो ओषधियों का राजा है और जिसका रस रोग तथा निर्बलता को हरकर अमरता देनेवाला है। वैसे ही मैं भी मरते हुओं के लिए अमृत-रस बनूँगा, निर्बलों का बल बनूँगा, रोगियों के रोग हरनेवाला बनूँगा। अपने राज्य में सोम-विद्या या ओषधि-विज्ञान को भी विकसित करूँगा। यह सब संदेश मैं सोम राजा से ग्रहण करता हूँ।

अन्त में व्यापकता के देव त्रिविक्रम '**विष्णु**' को स्मरण करता हूँ, जिस देव ने अपने तीन चरणों से त्रिलोकी को माप रखा है। मैं भी त्रिलोकी में कदम रखूँगा, ज्ञान के चरणों से त्रिलोकी में व्यापक हो जाऊँगा। मेरे देश के अध्यवसायी वैज्ञानिक ब्राह्मण त्रिलोकी की कोई वस्तु अज्ञात नहीं छोड़ेंगे। यही क्यों, मेरे देश के वैज्ञानिक ऐसे यन्त्रों का भी अविष्कार करेंगे जिनसे हम त्रिलोकी की यात्रा कर सकेंगे। इस त्रिलोकी के अतिरिक्त मेरी एक और त्रिलोकी है। मेरे देश के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन लोक हैं। वैश्य पृथिवीलोक है, क्षत्रिय अन्तरिक्ष लोक है और ब्राह्मण द्युलोक है। इनमें स्नेह-भाव से मैं व्याप्त रहूँगा, तीनों के हृदयों में अपना स्थान बनाऊँगा।

आज आप सबके सम्मुख मैं इन प्रतिज्ञाओं को लेता हूँ। दसों देवों से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ ही मैं राष्ट्रपति के कार्यभार को वहन करूँगा। प्रभु मुझे बल दे कि मैं अपनी इन प्रतिज्ञाओं पर सदा स्थिर रहूँ।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (प्रसवित्रा सवित्रा) प्रेरक सविता से, (वाचा सरस्वत्या) वाग्देवी सरस्वती से, (रूपैः त्वष्ट्रा) रूपों के अधिपति त्वष्टा से, (पशुभिः पूष्णा) पशुओं के अधिपति पूषा से, (अस्मे इन्द्रेण) अपने सजातीय इन्द्र से, (ब्रह्मणा बृहस्पतिना) ब्रह्मत्व के अधिपति बृहस्पति से, (ओजसा वरुणेन) ओजस्वी वरुण से, (तेजसा अग्निना) तेजस्वी अग्नि से, (राज्ञा सोमेन) राजा सोम से, और (दशम्या देवतया विष्णुना) दसवें देव विष्णु से (प्रसूतः) प्रेरित होकर (प्रसर्पामि) मैं चलूँगा।

२. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ —मनु० ७.४

शिक्षाशास्त्र के सूत्र

वैदिक विचाराधारा के अनुसार बालक शैशव पार कर, मातृमान् और पितृमान् बन आचार्यवान् होने के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट होता है तथा आचार्य रूप अग्नि में अपने आपको समिधा बनाकर ज्ञानज्योति से प्रदीप्त हो जाता है। प्रथम आश्रम शिक्षा का आश्रम है। वेदों का अध्ययन करते हुए उनमें हमें शिक्षा-शास्त्र के कई उपयोगी सूत्र प्राप्त होते हैं।

शिक्षक के गुण

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि और पयः कहा गया है[1]। इससे शिक्षक के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। शिक्षक को **'मृत्यु'** होना चाहिए, उसके अन्दर मार सकने का सामर्थ्य होना चाहिए। विद्यार्थी यदि कोई कुसंस्कार लेकर आया है, तो उन्हें मारे बिना वह उसका निर्माण नहीं कर सकता। जो आदर्श माता-पिता की सन्तान होते हैं तथा सब प्रकार के कुप्रभावों से दूर होते हैं, ऐसे उत्तम विद्यार्थी शिक्षक को सदा नहीं मिल पाते। जिन कुसंस्कारों को साथ लेकर विद्यार्थी आते हैं वे कई प्रकार के हो सकते हैं। कइयों का शब्दोच्चारण दूषित होता है, कई मिथ्या ज्ञान लेकर आते हैं। वायु क्यों चलती है? आँधी क्यों आती है? सूर्य-चन्द्र का ग्रहण क्यों होता है ?भूकंप क्यों आता है ? इस प्रकार की बातों का उत्तर आप नवप्रविष्ट बालकों से पूछिए तो कई मनोरजंक अज्ञान की बातें सुनने को मिलेंगी। उदाहरणार्थ, एक बालक से पूछा गया कि वायु क्यों चलती है ? उसने बताया—एक बहुत बड़ा दैत्य है, जिसका सिर आकाश को छूता है, उसके मुख की फूँक ही यह हवा है; जिस दिशा में जाकर वह फूँक मारता है उसी दिशा से हवा आती है। फिर कई नैतिक दृष्टि के कुसंस्कार भी बालकों में होते हैं, जैसे असत्य भाषण, चोरी आदि। सफल शिक्षक वह है जो मृत्यु बनकर विद्यार्थी के सब कुसंस्कारों को मार सके। मारना भी एक कला है। शिक्षक को अवश्य ही इस कला में निपुण होना चाहिए। इसके लिए उसे एक अच्छा बालमनोविज्ञानवेत्ता होना आवश्यक है।

शिक्षक का दूसरा गुण है **'वरुणत्व'**। वरुण वेद के प्रथित देवों में से एक है। उसके पास सैकड़ों-सहस्रों पाश हैं; उसके अनेकों गुप्तचर हैं, जो सहस्राक्ष होकर सर्वत्र घूमते हैं। उनकी दृष्टि से कुछ भी नहीं छिपता। ज्यों ही कोई व्यक्ति पाप करता है त्यों ही गुप्तचर देख लेते हैं और वरुण अपने पाश से उसे बाँध लेते हैं। शिक्षक में भी यह गुण होना आवश्यकहै। शिक्षक की दृष्टि बहुत पैनी होनी चाहिए। उसे छात्रों की प्रत्येक गतिविधि का परिचय रखना चाहिए। छात्र कौन सी अच्छी या बुरी आदतों में पड़ रहा है, जिनमें उसे उत्साहित या अनुत्साहित करने की आवश्यकता है, यह उसे ज्ञात होना चाहिए। अपने प्रत्येक छात्र पर

ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाला तथा आवश्यकतानुसार अंकुश रखकर छात्र को बुराई से बचाने वाला शिक्षक ही वरुण है।

फिर शिक्षक को '**सोम**' होना चाहिए। सोम का अर्थ है चाँद। शिक्षक चाँद के समान सौम्य, आकर्षक एवं प्रिय हो। जैसे चन्द्र से सब आह्लादित होते हैं, वैसे ही छात्र शिक्षक के सान्निध्य में आह्लाद अनुभव करें। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण होना चाहिए। वेद में सोम का दूसरा अर्थ सोमलता भी होता है। सोमलता का रस अपूर्व वीरता, बुद्धि एवं मनीषा को प्रदान करता है, वैसे ही शिक्षक को छात्र में इन गुणों को भरनेवाला होना चाहिए।

शिक्षक की अगली विशेषताएँ हैं उसका '**ओषधि**' तथा '**पयः**' होना। ओषधि रोगों को दूर करती है, वैसे ही शिक्षक छात्र के शारीरिक एवं मानसिक रोगों को हरण करनेवाला हो। शिक्षक का कार्य केवल पुस्तक का पाठ पढ़ा देना नहीं है, छात्र के शारीरिक एवं नैतिक निर्माण का उत्तरदायित्व भी उसपर है। कई बार छात्र भंयकर दुर्व्यसनों का शिकार हो जाता है; ओषधि बनकर छात्र का उनसे उद्धार करने का गुरुतर कार्य भी शिक्षक का है। शिक्षक 'पयः' या दूध भी है। दूध पुष्टिकारक होता है, वैसे ही शिक्षक को छात्र की सर्वतोमुखी पुष्टि करनेवाला होना चाहिए। छात्र यह अनुभव करे कि शिक्षक के समीप रहकर प्रतिदिन मैं नवीन पुष्टि प्राप्त कर रहा हूँ; मेरा ज्ञान, मनोबल, चरित्रबल आदि उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्ट हो रहा है।

मन्त्रोक्त इन गुणों के अतिरिक्त शिक्षक के कतिपय अन्य गुण भी विविध वैदिक प्रसंगों से सूचित होते हैं। वेद में शिक्षक को '**वाचस्पति**' नाम से स्मरण किया गया है। इससे प्रकट होता है कि जिस वाङ्मय या विषय का वह अध्यापन करता है उस पर उसका प्रभुत्व होना चाहिए। साथ ही वाक्कला में भी उसे निष्णात होना चाहिए, जिससे उस विषय को समझा सके। उत्तम शिक्षक वह है जिसमें ये दोनों विशेषताएँ हों, यह वाचस्पति शब्द से सूचित होता है। शिक्षक के लिए प्रयुक्त होनेवाले वैदिक '**ब्रह्मणस्पति**' तथा '**बृहस्पति**' शब्द भी यही बताते हैं। वेद में शिक्षक को **वसोष्पति** भी कहा है। वसु का अर्थ विद्याधन लें तो यह शब्द शिक्षक की अगाध विद्वत्ता की ओर इंगित करता है। परन्तु केवल विद्याधन ही नहीं, सामान्य धन अर्थ भी लेना यहाँ उचित है। शिक्षक की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी होनी चाहिए, उसे अच्छी दक्षिणा मिलनी चाहिए, जिससे वह निश्चिन्त होकर, सर्वात्मना अपने छात्रों के निर्माण में समय दे सके।

शिक्षक-शिष्य का सम्बन्ध

शिष्य जब शिक्षणालय या गुरुकुल में प्रविष्ट होने के लिए एक शिक्षक के पास पहुँचता है तब शिक्षक उसका उपनयन संस्कार करता है। वेद का कथन है कि "शिक्षक उपनयन-संस्कार करके शिष्य को अपने गर्भ में धारण कर लेता है। उसे तीन रात्रि अपने उदर में रखता है। फिर जब शिष्य जन्म लेता है तब उसके दर्शन के लिए देव एकत्र होते हैं।"[२] यह वर्णन शिक्षक-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है। शिष्य का शिक्षक के अधीन रहना वैसा

ही है जैसे शिशु का माता के गर्भ में रहना। गर्भस्थ शिशु का जैसा निकट सम्बन्ध माता के साथ होता है वैसा ही शिष्य का शिक्षक के साथ होना चाहिए। यज्ञोपवीत देने को उपनयन-संस्कार इसीलिए कहा जाता है क्योंकि इसके द्वारा शिक्षक शिष्य को अपने समीप लाता है। शिष्य तीन रात्रि शिक्षक के गर्भ में वास करता है। यहाँ तीन दिन न कहकर तीन रात्रि कहना साभिप्राय है। रात्रि अज्ञान का उपलक्षण है। शिष्य विविध अज्ञान से घिरा होता है। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर प्रथम रात्रि पार हो जाती है, माध्यमिक शिक्षा पूर्ण होने पर द्वितीय रात्रि तथा उच्च शिक्षा समाप्त होने पर तृतीय रात्रि। यह आज कल की दृष्टि से स्थूल वर्गीकरण है, अन्यथा ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड-विषयक अज्ञान को एक-एक रात्रि माना जाता है। तीन रात्रि गर्भ में रहकर फिर शिष्य जन्म लेता है; स्नातक बनता है। तब देवजन उसके दर्शनार्थ एकत्र होते हैं। इस आलंकारिक वर्णन से वेद निर्दिष्ट करता है कि शिक्षक का शिष्य के प्रति माता का-सा सम्बन्ध हो तथा माता गर्भस्थ शिशु के लिए जो बलिदान करती है, शिक्षक भी शिष्य के लिए वह बलिदान करने के लिए उद्यत रहे।

अथर्ववेद के प्रथम सूक्त में शिष्यों की ओर से शिक्षक को कहलाया गया है कि "आप देव मन के साथ पुनःपुनः हमारे बीच आइए।"[३] इससे सूचित होता है कि वैदिक शिक्षक-शिष्य में ऐसा मधुर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है कि शिष्य शिक्षक को पुनःपुनः अपने मध्य आने के लिए निमन्त्रित करते हैं। दूसरी बात यह है कि शिक्षक को शिष्यों से व्यवहार करते समय सदा 'देव मन' से युक्त होना चाहिए।

कभी शिक्षक दुर्बलतावश अपने मन को शिष्यों के प्रति 'अदेव' न होने दे। इसी सूक्त में आगे कहा है—"हम शिक्षक को निमन्त्रित करते हैं, शिक्षक हमें निमंत्रित करें।"[४] पारस्परिक स्नेह, विनय, आदर, शिष्टाचार एवं माधुर्य का कैसा सुन्दर निदर्शन है!

शिक्षण-शैली

शिक्षक की शिक्षण शैली कैसी हो, इस पर भी प्रस्तुत सूक्त सुन्दर प्रकाश डालता है। शिक्षण-पद्धति नीरस न होकर सरस होनी चाहिए, छात्र को उकता देने वाली न होकर आकर्षक होनी चाहिए। "हे गुरुवर, आप ऐसे खेल-खेल में पढाइए कि जो कुछ मैं सुनूँ वह मुझमें ही रहे।"[५] जो कुछ हम गुरुमुख से सुनें उससे संगत रहें, वह हमें विस्मृत न हो।[६] शिक्षक को चाहिए कि जैसे प्रत्यंचा से दोनों धनुष्कोटियों को तान दिया जाता है, वैसे ही अपनी वाणी से शिष्य की बुद्धि में पाठ्य विषय को ऐसा तान दे, स्पष्ट कर दे कि वह कभी विस्मृत न हो।[७] शिक्षक इन गम्भीर, विशाल द्यावापृथिवी को, इनके अन्दर विद्यमान वस्तुओं को, छात्र के सम्मुख ऐसा गढ़-छीलकर रख दे कि वे उसके सामने हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाएँ, तभी तो छात्र उन्हें हृदयंगम कर सकेगा।[८] "जो कुछ हम सुनें वह विस्मृत न हो," यह कह कर वेद इस ओर ध्यान आकृष्ट करता प्रतीत होता है कि अध्यापक इस शैली से पढ़ाए कि छात्रों को कक्षा में ही पाठ स्मरण हो जाए।

छोटे बालकों के लिए यह शैली विशेष रूप से उपादेय है।

ऋग्वेद का ज्ञान सूक्त शिक्षण के एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर निर्देश करता है। ''एक-सी आँखोंवाले तथा एक-से कानों वाले भी सहाध्यायी छात्र मनोवेग में असमान होते हैं। कुछ छात्र मुखपर्यन्त पानीवाले सरोवर तुल्य होते हैं, तो कुछ छात्र कक्षपर्यन्त पानीवाले सरोवर के तुल्य, और अन्य कुछ छात्र यथेच्छ स्नान करने योग्य, लबालब भरे सरोवरों के तुल्य होते हैं।''[९] इसमें इस तथ्य की ओर प्रकाश डाला गया है कि साथ पढ़नेवाले छात्रों की ग्रहणशक्ति एक-समान नहीं होती, अतः शिक्षक को पढ़ाते समय सभी छात्रों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि सभी स्तर के छात्र विषय को ग्रहण कर सकें। यदि वह तीव्र बुद्धि वाले छात्रों के स्तर से पढ़ाएगा तो शेष छात्र वंचित रह जाएँगे। एक और बात जो इससे ध्वनित होती है वह यह है कि क्योंकि छात्रों का मनोजव या मनोरुचि भिन्न-भिन्न होती है, अतः पाठ्य विषयों के चुनाव में उनकी रुचि का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रत्येक छात्र प्रत्येक विषय में निष्णात नहीं बन सकता, अतः सभी छात्रों को एक-से विषय पढ़ाना उनपर अत्याचार है। पाठ्यक्रम में वैकल्पिक विषयों के निर्वाचन की पर्याप्त सुविधा रहनी चाहिए।

सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ क्रियात्मक ज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिए, क्योंकि ''जिसने पुष्प-फल रहित या क्रियात्मक ज्ञान रहित विद्या को सुना है वह मानो दूध न देने वाली गाय को साथ लिये फिरता है।''[१०] शिक्षण के विषय के अनुरूप विचारात्मक, वर्णनात्मक, संवादात्मक, कथात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।''[११] ऋग्वेद में मण्डूक-सूक्त में उपमा द्वारा उस शैली की ओर संकेत किया गया है, जिसमें पहले शिक्षक कोई वाक्या बोलता है और उसके पीछे शिष्य उसे दोहराते हैं— 'मेंढ़क के पीछे दूसरा मेंढ़क ऐसे ही बोल रहा है जैसे शिक्षक के पीछे शिष्य।'[१२] अधिकतर बालकों के शिक्षण में इस शैली के प्रयोग की आवश्यकता होती है।

शिक्षा का उद्देश्य

विद्यार्थी समित्पाणि होकर आचार्य के समीप विद्याध्ययन के लिए पहुँचता है। वह आचार्यकुल की अग्नि में समिधा डालता हुआ जिस मन्त्र का उच्चारण करता हैं, उसका भाव यह है—''इस बृहत् जातवेदस् अग्नि के लिए मैं समिधा लाया हूँ। हे अग्ने, जैसे तू समिधा से समिद्ध होता है, वैसे ही मैं आयु, मेधा, तेज, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस से समिद्ध होऊँ। मेरा आचार्य जागरूक पुत्रों (शिष्यों) वाला हो। मैं मेधावी, अनिराकरिष्णु (सज्जनों और सद्वृत्तियों को निराकृत न करने वाला), यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी और अन्नाद होऊँ।''[१३] इससे ज्ञात होता है कि शिक्षा का वैदिक उद्देश्य यह है कि छात्र गुरु के सानिध्य में रहकर शरीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का विकास करें। शरीर से वे अन्नाद, स्वस्थ, बलवान्, तेजस्वी और दीर्घायु बनें तथा मन, बुद्धि और आत्मा से दृढ़-सकंल्प, मेधावी, ज्ञान-वान्, यशस्वी एवं ब्रह्मवर्चस्वी बनें।

माता-पिता बालक को गुरुओं के समीप लाकर कहते हैं— "हे गुरुजनो, आप कमलफूलों की माला पहने हुए इस कुमार को अपने गर्भ में धारण कीजिए, जिस से यह आदमी बन जाए।"[१४] एवं सच्चा पुरुष, सच्चा मनुष्य या सच्चा नागरिक बनाना भी शिक्षा का उद्देश्य है। यदि आज के शिष्य, शिक्षक और शिक्षणालय वेद के इन उद्देश्यों को साकार करने में सर्वात्मना जुट जाएँ तो शिक्षणालयों में आज जो नई-नई जटिल समास्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं उन सबका समाधान हो सकता है।

पाठ्य-विषय

छान्दोग्य उपनिषद् के सनत्कुमार-नारद-संवाद से विदित होता है कि नारद जब सनत्कुमार के समीप जिज्ञासु बनकर आए, तब उन्होंने अनेक विद्याएँ पहले ही पढ़ी हुई थीं। वे ऋग्वेद,यजुर्वेद,सामवेद,अथर्ववेद, इतिहासवेद,पुराणवेद, व्याकरण, पितृविद्या,राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और गन्धर्वविद्या में पारंगत थे।[१५] आत्मवित् होने के लिए ही वे गुरु के चरणसेवी हुए थे। आजकल ऐसे मेधावी छात्र खोज करने पर भी नही मिलेंगें जो इतनी विद्याओं को एक-साथ पढ़ सकें। नारद के युग में विविध भाषाओं की समस्या नहीं थी। आज तो प्रादेशिक, सस्कृत, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी, रशियन, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं का ऐसा प्रपंच खड़ा हो गया है कि दो पाठ्य विषय तो भाषाओं के ही हो जाते हैं। विविध विद्याओं में से विद्यार्थी का कठिनाई से दो में ही चंचुप्रवेश हो पाता हैं। वैदिक छात्र तो उपर्युक्त अनेक विद्याओं का सांगोपांग अध्ययन करने के पश्चात् भी ज्ञान-पिपासु बने रहते थे। अध्यात्मविद्या एवं योग का क्रियात्मक ज्ञान ग्रहण कर लेने पर ही उनकी शिक्षा की परिसमाप्ति होती थी, यद्यपि स्वाध्याय उसके बाद भी चलता रहता था। मुण्डक उपनिषद् में अंगिरा ऋषि अपने शिष्य शौनक के सम्मुख दो प्रकार के पाठ्यक्रमों का निर्देश करते हैं- 'अपराविद्या' और 'पराविद्या'। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि विविध ज्ञान-विज्ञान सब अपरा विद्या में आ जाते हैं और पराविद्या वह है जिससे अक्षरब्रह्म का प्रत्यक्ष किया जाता है[१६]।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में कहा है कि ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ समिधा बनते हैं[१७]। इससे सूचित होता हैं कि ब्रह्मचर्य आश्रम में वह इन तीनों के विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का त्रिक ज्ञान-कर्म-उपासना, प्रकृति-जीव-ईश्वर, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, तमस्-रजस्-सत्त्व, प्रातःसवन-माध्यंदिनसवन-सायंसवन, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, शरीर-मन-आत्मा, सत्य-यश-श्री आदि के त्रिकों का भी प्रतीक है। अथर्ववेद में इक्कीस (त्रिःसप्त) विद्याओं क पढ़ने का भी उल्लेख मिलता है[१८]। साररूप में कहें तो वैदिक पाठ्यक्रम में भौतिक विद्या तथा अध्यात्म विद्या का समन्वय है। आज जो शिक्षणालयों में योगाभ्यास की शिक्षा अनिवार्य करने का प्रश्न शिक्षाविज्ञों के सम्मुख है, वह वैदिक शिक्षा-पद्धति के अनुरूप ही है।

शिक्षा में तप का स्थान

प्रधान शिक्षक या आचार्य आश्रम में प्रविष्ट करते समय शिष्य की कटि में मेखला बाँधता है। वह कहता है—मेखला-बन्धन करता हुआ मैं इस ब्रह्मचारी को तप और श्रम से बाँधता हूँ [११]। शिक्षाकाल में ब्रह्मचर्य, तप और श्रम का महत्त्व है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ज्ञान, सत्य एवं सदाचरण की साधना का व्रतग्रहण तथा उसके पालन की अनवरत निष्ठा व तत्परता। ब्रह्मचर्य का प्रचलित स्थूल अर्थ भी इसी में समाविष्ट है। तप का अर्थ है द्वन्द्वसहन, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख आदि को समभाव से प्रसन्नतापूर्वक सहन करना एवं सरल सादा जीवन व्यतीत करना। श्रम से अभिप्राय है शारीरिक व्यायाम तथा हाथ के काम, घरेलू उद्योग-धन्धों की शिक्षा। वैदिक मेखला-बन्धन इन सबका प्रतीक है। शिक्षा-काल में इनके अनुष्ठान से मति, मेधा, इन्द्रिय-शक्ति आदि का भी विकास होता है।

ब्रह्मचर्य-सूक्त में भी लिखा है कि ब्रहाचारी जब स्नातक बनकर बाहर आता है तब जनता उसको कहती है के तुम हमें प्राण, अपान, व्यान, वाक्, मन, हृदय, ब्रह्म, मेधा, चक्षु, यश, अन्न, रेतस्, रुधिर और उदरशक्ति प्रदान करो। इन सब वस्तुओं तथा शक्तियों को उसने ब्रह्मचर्य-आश्रम में तपस्या एवं साधना के साथ संचित किया होता है [२१]। अथर्ववेद में अन्यत्र छात्रो की ओर से कहा गया है कि हम ब्रह्मचर्याश्रम में खूब तप करते हैं और वेदो का श्रवण-मनन करते हुए आयुष्मान् तथा मेधावी बनते है[२२]। ब्रह्मचर्य-काल में वह जिन भौतिक एवं अध्यात्म विद्याओं का अध्ययन करता है, उन्हें तप द्वारा ही अपने अन्दर रक्षित करता है [२३]। इस प्रकार वैदिक दृष्टि में तप और व्रतपालन की बड़ी महिमा है। आज भी शिक्षा-शास्त्री इसका महत्त्व समझते हैं।

इसके अतिरिक्त शिक्षा-विज्ञान के अन्य भी अनेक तत्त्व वेदों में बिखरे हुए हैं, जिनका अन्वेषण एवं संकलन उपयोगी हो सकता हैं।

पाद टिप्पणियाँ—

१. आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन् सत्त्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥ — अथर्व ० ११.५.१४

२. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ —अथर्व० ११.५.३

३. पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। — अथर्व० १.१.२

४. उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्। — मन्त्र ४

५. वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। — मन्त्र २

६. सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। — मन्त्र ४

७. इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। —मन्त्र ३

८. आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च। — अथर्व० ११.५.८

९. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदध्नास उप कक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे । — ऋ० १०.७१.७

१०. अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् । —वही, मन्त्र ५

११. वेदों में इन सब शैलियों का प्रयोग होता है । यथा, नासदीय सूक्त में विचारात्मक शैली, प्राकृतिक वर्णनों में वर्णनात्मक शैली, उर्वशी-पुरूरवा-संवाद आदि में संवादात्मक शैली, इन्द्र-वृत्र-युद्ध आदि में कथात्मक शैली ।

१२. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः । —ऋ० ७.१०३.५

१३. ओ३म् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासं, स्वाहा ।
—पार० गृह्य० २.४.३

१४. आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥—यजु० २.३३

१५. छा० उप० ७.१.

१६. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्स यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते — मु०उ० १.४.५

१७. इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । —अथर्व ११.५.४

१८. अथर्व० १.१.१.

१९. तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि । — अथर्व० ६.१३३.३

२०. सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च । —वही, मन्त्र ४

२१. प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् । चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् । तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ॥ — अथर्व० ११.५.२४,२५,२६

२२. अग्ने तपस्तप्यामह उपतप्यामहे तपः ।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः— अथर्व० ७.६३.२

२३. तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी । —वही, मन्त्र ८

□□

भक्तियोग और कर्मयोग

वैदिक संस्कृति की अनेक आधारभूत विशेषताओं में से एक यह है कि वेद मनुष्य के जीवन में भक्तियोग और कर्मयोग की समस्वरता उत्पन्न करना चाहते हैं। एकमात्र भक्ति या एकमात्र कर्म मनुष्य को लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकते। भक्ति का आशय है स्तुति, प्रार्थना, उपासना द्वारा परमेश्वर से मिलन। महर्षि दयानन्द के शब्दों में ''स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण, कर्म,स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है।'' (स०प्र०, समु० ७)।

वेदों में भक्ति की ऐसी अजस्रस्राविणी तरंगिणी प्रवाहित हुई है कि वह पाठक के समस्त कल्मष को धोकर उसे निर्मल बना देती है। वेदों का स्तोता कभी तेजस्वी अग्नि प्रभु को पुकारता है, कभी परमैश्र्वर्यवान् इन्द्र प्रभु की शरण में जाता है, कभी सर्वभूतमैत्री के आदर्श मित्र प्रभु की वन्दना करता है, कभी वरणीय वरुण प्रभु को वरता हे, कभी ज्योति के स्रोत सविता प्रभु का गुणगान करता है, कभी पुष्टि के अधीश्वर पूषा प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है, कभी रस के निर्झर सोम प्रभु की आराधना करता है। वेदोक्त इन पृथक्-पृथक् नामों से प्रभु के पृथक्-पृथक् गुणों की झांकी उपासक को मिलती है और वह उस कमनीय, गुणगरिमा-मय, सरस्वान् प्रभु का दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है।

अमृतपुत्र मानवों को इन्द्र प्रभु की अर्चना की प्रेरणा करता हुआ वेद कहता है—

[१]अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥
[२]अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत्।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥ —ऋ० ८.६९.८,९

''अर्चना करो, पुनः-पुनः अर्चना करो, हे मेधावियो, अर्चना करो। तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ भी अर्चना करें। जैसे धन-धान्य से पूर्ण करनेवाले, विपत्ति के उन्मूलक राजा की कोई अर्चना करता है, वैसे ही तुम भक्त को पूर्ण-मनोरथ करनेवाले, सर्वविघ्नहर इन्द्र प्रभु की अर्चना करो। गागर बजें, सारंगी बजे, पिंगियाँ बजें, इन्द्र के लिए मन्त्र-गीत गाओ।''

वैदिक उपासक प्रभु का अभिन्नहृदय अन्तरंग मित्र बनने की अभिलाषा रखता हुआ कहता है—

[३]यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ —ऋ० ८.४४.२३

"हे तेजोमय प्रभु, मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ, जिस दिन मैं तृ हो जाऊँगा और तू मैं हो जाएगा। तभी तेरे आशीर्वाद मेरे लिए सत्य सिद्ध होंगे।" जब तक हम दोनों में दूरी बनी हुई है, तब तक मैं तेरे आशीर्वाद से वंचित ही रह रहा हूँ।

प्रभु-मिलन की प्यास से आकुल हुआ वह उद्‌गार प्रकट करता है—

[४]अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥

—ऋ० ७.८९.४

"हे प्रभु, मैं पानी के बीच में बैठा हूँ, फिर भी मुझे प्यास लग रही है। 'पानी में मीन प्यासी' की उक्ति मुझपर चरितार्थ हो रही है। तुम घट-घटवासी हो, तुम सर्वत्र व्याप्त हो। तुम्हारे बीच ही मैं बैठा हूँ, फिर भी तुमसे दूर हूँ। मुझे अपने अंक में बिठा लो, मुझे आनन्द से सराबोर कर दो।"

भक्त भक्तिरस से लहराते हुए अपने हृदय में सोम प्रभु को रस-पान का निमन्त्रण देता हुआ कहता है—

[५]सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्य इव स्व ओक्ये॥

—ऋ० १.९१.१३

"हे भगवन्, मेरे हृदय में आकर मेरे भक्तिरस में रमण करो, जैसे गौएँ घास-चारे में रमण करती हैं और मनुष्य अपने घर में रमण करता है।"

भक्त की सच्चे हृदय की पुकार को प्रभु सुन लेते हैं। वे उसे अपनी नाव में बैठा लेते हैं। प्रभु की नाव में बैठा हुआ वह आनन्द के समुद्र में ऊँची-ऊँची लहरों पर झूलता है और अपने-आपको धन्य मानता है—

[६]आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं
प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव
प्र प्रेङ्‌ख ईङ्‌खयावहै शुभे कम्॥ —ऋ० ७.८८.३

भक्त भगवान् से मिलनेवाले दिव्य आनन्दरसरूप सोम का वर्णन कर रहा है—

[७]स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं
तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं
न कश्चन सहत आहवेषु॥ —ऋ० ६.४७.१

"आहा, यह कैसा स्वादु है! कैसा मधुर है! कैसा तीव्र है! कैसा रसीला है! जो आत्मा इसे पी लेता है, उसे देवासुर-संग्रामों में कोई भी असुर हरा नहीं सकता।"

इसी रस का एक बार स्वाद लेकर भक्तजन आतुरता के साथ पुकार उठते

है—

[८]स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः ॥
—साम० ४६८

"हे प्रभु से झरनेवाले आनन्द-रस, तुम अपनी स्वादिष्ठ धारा के साथ मेरे अन्दर झरो। तुम अपनी मस्त कर देनेवाली धारा के साथ मेरे अन्दर बहो। तुम मुझ आत्मा के पान के लिए प्रस्तुत हुए हो।"

विभिन्न रूपों में प्रभु की उपासना करते हुए भक्तजन वैदिक गीत गाते है—

[९]**अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।**
अम्भो अरुणं रजतं रजः इति त्वोपास्महे वयम्॥
उरुः पृथुः सुभूः भुव इति त्वोपास्महे वयम्।
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्॥
—अथर्व० १३.४.५०-५३

"हे परमेश्वर, तुम 'अम्भः' हो, नीरसो के रस हों, तुम 'अमः' हो, निर्बलों के बल हो, तुम 'महः' हो, महिमामय हो, तुम 'सहः' हो, साहसी हो। इन रूपों में हम तुम्हारी उपासना करते है।"

"हे परमेश्वर, तुम 'अम्भः' हो, प्यासों के पानी हो,तुम 'अरुण' हो, आरोचमान हो, तुम 'रजत' हो, गरीबों की चाँदी हो, तुम 'रजः' हो, ज्योति हो, तुम 'सहः' हो, असहायों के साहस हो। इन रूपों में हम तुम्हारी उपासना करते हैं।"

"हे परमेश्वर, तुम 'उरु' हो, विशाल हो, तुम 'पृथु' हो, सर्वव्यापक हो; तुम 'सुभूः' हो, सत्स्वरूप' हो, तुम 'भुवः' हो, चित्स्वरूप हो। इन रूपों में हम तुम्हारी उपासना करते हैं।"

"हे परमेश्वर, तुम 'प्रथः' हो, प्रख्यात हो; तुम 'वर' हो, वरणीय और वरदाता हो; तुम 'व्यचः' हो, सर्वगत हो; तुम लोक हो, सर्वद्रष्टा हो। इन रूपों में हम तुम्हारी उपासना करते हैं।"

[१०]**चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय**
दशकृत्वः पशुपते नमस्ते। —अथर्व० ११.२.९

"हे परमेश्वर, आपकी महिमा के सम्मुख मैं सिर नवाता हूँ। आपको चार बार नमस्कार है, आपको आठ बार नमस्कार है, आपको दस बार नमस्कार है।"

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। —अथर्व० ११.२.१६

"आपको सायं नमस्कार है, प्रातः नमस्कार है, रात्रि में नमस्कार है, दिन में नमस्कार है।"

यह वैदिक भक्तियोग की एक झांकी-मात्र है। भक्तिरस का पारावार वेदों

में हिलोरें ले रहा है, उसकी विशद अनुभूति पाने के लिए तो साक्षात् वेदोदधि में डुबकी लगाना अभीष्ट है।

वैदिक कर्मयोग

आइए, वैदिक भक्तिरस का प्रसाद चखने के पश्चात् अब वैदिक कर्मयोग का भी दर्शन करें। प्रारम्भ करते हैं ऐतरेयब्राह्मण-प्रोक्त ऋग्वेदीय शुन:शेपाख्यान के निम्न गीत से—

[११]नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति॥
[१२]पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फले ग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
चरैवेति चरैवेति॥
[१४]आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।
चरैवेति चरैवेति॥
[१४]चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्।
चरैवेति चरैवेति॥ —ऐ०ब्रा०७.१५

"जो थककर चूर नहीं हो गया, उसे श्री प्राप्त नहीं होती। अन्य मनुष्य के सहारे जीनेवाला जन पापी होता है। इन्द्र चलनेवालों का ही सखा है, अतः चलते चलो, चलते चलो।"

"चलनेवाले की जंघाएँ पुष्ट होती हैं, चलनेवाले का आत्मा समर्थ और फल पाने वाला होता है। श्रम से मारी गई उसके रास्ते की सब रुकावटें दूर हो जाती हैं। अतः चलते चलो, चलते चलो।"

"बैठ जानेवाले का भाग्य बैठ जाता है। खड़े हो जानेवाले का भाग्य खड़ा हो जाता है। लेट जानेवाले का भाग्य लेट जाता है। चल पड़नेवाले का भाग्य चल पड़ता है। अतः चलते चलो, चलते चलो।"

"चलनेवाला ही मधु पाता है, चलनेवाला ही स्वादु गूलर का फल पाता है। सूर्य की श्रेष्ठता को देखो, जो विचरण करता हुआ कभी अलसाता नहीं। अतः चलते चलो, चलते चलो।"

ऐतरेय ऋषि का कर्मयोग और पुरुषार्थ का यह गीत वैदिक भावना का ही प्रतिनिधित्व करता है।

वैदिक कर्मयोग को स्पष्ट करते हुए स्वामी दयानन्द लिखते हैं—

जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते, वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी न पावेगा। जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। —यजु० ४०.२

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे। आलसी कभी न हो। (स०प्र०, समु० ७)।

वैदिक स्तोता कर्मण्यता की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

[१५]**इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।**
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि
जीवा ज्योतिरशीमहि॥ —ऋ० ७.३२.४६

हे परम प्रभु, तू पिता बनकर हम पुत्रों के लिए कर्मण्यता का उपहार ला। हमें कर्म की शिक्षा दे, जिससे जीवन-मार्ग में हम जीवित-जागृत रहते हुए ज्योति को प्राप्त कर सकें।

[१६]**भद्रं नो अपिवातय मनो दक्षमुत क्रतुम्॥** —ऋ० २०.२५.१

"हे प्रभु, तू हमारे अन्दर मनोबल, उत्साह और कर्म की भावना भर दे।"

[१७]**आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।**
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ —यजु० ३.५४

हमारे अन्दर पुनः-पुनः मनोबल आए, जिससे हम कर्म करें, बल पाएँ, जीवितों की तरह जीएँ और चिरकाल तक सूर्य का दर्शन करते रहें।

[१८]**अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे**
कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्॥ —ऋ० १.११२.२४

हे अध्यापक-उपदेशको, तुम हमारी वाणी को और बुद्धि को कर्मयुक्त करो, अर्थात् हम कोरे वाक्पटु और विद्वान् ही न होकर कर्मशूर भी बनें।

[१६] **मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे**
मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः॥ — ऋ० २.२८.५

ज्ञान का पट बुनते हुए मेरा तार न टूटे, न ही पूर्ण होने से पहले मेरे कर्म की मात्रा भंग हो।

निम्नलिखित मन्त्रांश भी कर्मयोग की प्रबल भावना को व्यक्त करनेवाले हैं—

ऋध्याम कर्मापसा नवेन। —ऋ० १.६१.८

हम नवीन-नवीन कर्म से अपने पूर्वारब्ध कर्म को बढ़ाते रहें।

अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र। —ऋ० १०.४२.३

हे परमात्मन्, मेरी बुद्धि कर्मयुक्त हों

कर्मणे वां वेषाय वाम्। —यजु० १.६

हे नर-नारियो, तुम्हें कर्म आरम्भ करने के लिए प्रेरित करता हूँ, तुम्हें कर्म में पूर्णतः व्याप्त हो जाने के लिए प्रेरित करता हूँ।

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। —अथर्व० ६.२३.३

"प्रेरक प्रभु की प्रेरणा पाकर सब मनुष्य कर्म करें।"

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। —अथर्व० ७.५०.८

मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, बाँए हाथ में विजय निहित है।

हमें कैसा पुत्र प्राप्त हो, यह बताते हुए वेदों में जहाँ पुत्र के अन्य गुण वर्णित किए गए हैं, वहाँ साथ ही उसे कर्मण्य और कर्मनिष्ठ विशेषण से भी स्मरण किया गया है। **सोमो वीरं कर्मण्यम् ददाति** (ऋ० १.९१.२०)—सोम प्रभु हमें कर्मण्य पुत्र प्रदान करे। **अग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम्** (ऋ० १०.८०.१)—अग्नि प्रभु हमें शास्त्रज्ञ और कर्मनिष्ठ पुत्र दें।

परमेश्वर स्वयं कर्मवीर है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, कर्मानुसार फलप्रदान आदि कर्मो को वह अकेला कर रहा हैं। इन्द्र प्रभु शचीपति कहलाता है, शची कर्मण्यता का ही नाम है। **इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्** (ऋ० १.३२.१) मैं इन्द्र के वीरता पूर्ण कमों का गुणगान करता हूँ।। **यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतोऽभूत्** (ऋ० १.३६.१)—वह अपने महान् कर्मों से सुविख्यात है। **इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि** (ऋ० ३.३२.८) इन्द्र के कर्म सज-धज से होते हैं। अनन्त परमेश्वर के अनुरूप मानव को भी कर्मयोगी बनना है—**वरेण्यक्रतुरहम्** (अथर्व० ६.२३.१)। माताओं को भी ज्ञान और कर्म का ताना-बाना डालकर सन्तान के लिए आदर्श चरित्र का वस्त्र बुनना है—**वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति** (ऋ० ५.४७.६)।

कर्म करते हुए मनुष्य को विजय के लिए अग्रसर होना है—**प्रेता जयता नरः** (ऋ० १०.१०३.१३)। कर्मयोगी बनते हुए उसे यह आकांक्षा करनी है कि हमें विजय मिले, अभ्युदय मिले, सत्य मिले,तेज मिले, ज्ञान मिले, आनन्द मिले, यज्ञ मिले, पशु मिलें, प्रजा मिले, वीर मिलें—

[१०] **जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकम् ऋतम्-**
अस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं
वीरा अस्माकम्। —अथर्व० १६.८.१

कर्मयोग को अपनाकर ही मानव एक दिन विजय के उल्लास में यह वैदिक उद्गार प्रकट कर सकेगा। आहा! आज हम विजयी हो गए हैं, आज हमने प्राप्तव्य को पा लिया है, आज हम निष्पाप हो गए है—

अजैष्म-अद्य असनाम चाभूमानागसो वयम्। —ऋ० ८.४७.१८

पाद टिप्पणियाँ—

१. (अर्चत) अर्चना करो, (प्रार्चत) प्रकृष्ट रुप से अर्चना करो; (प्रियमेधासः) हे प्रिय मेधा वालो, (अर्चत) अर्चना करो। (पुत्रकाःउत) तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ भी (अर्चन्तु) अर्चना करें। (पुरं न) पूरक राजा के समान (धृष्णु) विपत्तिधर्षक इन्द्र प्रभु की (अर्चत) अर्चना करो।

२. (गर्गरः) गागर (अवस्वराति) बज रही है, (गोधा) सांरगी (परिसनिष्वणत्) बज रही हैं, (पिंगा) पिंगी (परिचनिष्कदत्) बज रही है। (इन्द्राय) इन्द्र प्रभु के लिए (ब्रह्म) स्तोत्र (उद्यतम्) उद्यत है।

३. (अग्ने) हे तेजस्वी अग्रनायक प्रभु, (यत्) यदि (अहं त्वं स्याम्) मै तू हो जाऊँ, (त्वं वा) और तू (घ) निश्चित ही (अहं स्याः) मै हो जाए, तब (इह) यहाँ, इस जीवन में (ते आशिषः) तेरे आशीष (सत्याः स्युः) सत्य हो जाएँ।

४. (अपां मध्ये) जलों के मध्य में (तस्थिवांसम्) स्थिर हुए (जरितारम्) स्तोता को (तृष्णा अविदत्) प्यास लग रही हैं। (सुक्षत्र) हे उत्तम प्रकार से क्षतों से त्राण करनेवाले प्रभु, तू मुझे (मृड) आनन्दित कर दे, (मृडय) आनन्द से सराबोर कर दे।

५. (सोम) हे सोम प्रभु, आप (नः हृदि) हमारे हृदय में (रारन्धि) रमण करो, (गावः न) जैसे गौएँ (यवसेषु आ) घासों-चारों में रमण रकती हैं, (मर्यः इव) और जैसे मनुष्य (स्वे ओक्ये) अपने घर में रमण करता है।

६. (यत्) जब, मै (वरुणः च) और वरुण प्रभु (नावम्) नाव पर (आरुहाव) चढ़े, (यत्) जब (समुद्रं मध्यम्) समुद्र के मध्य में (प्र ईरयाव) नाव को ले गए और (यत्) जब (अपाम् अधि) जलों के अन्दर (स्नुभिः) उँची-उँची लहरों पर (चराव) विचरने लगे, तब (शुभे प्रेङ्खे) शुभ झूले पर (कम्) सुख-पूर्वक (प्र ईङ्खयावहै) झूलने लगे।

७,८,९. इन मन्त्रों का पदार्थ द्रष्टव्य—निबन्ध-संख्या २ में।

१०. (भवाय) जगदुत्पादक तुझ रुद्र प्रभु के लिए (चतुः) चार बार, (अष्टकृत्वः) आठ बार (नमः) नमस्कार है। (पशुपते) हे प्राणियों के पालनकर्त्ता, (ते) तुझे (दशकृत्वः) दस बार (नमः) नमस्कार है।

११. इन्द्र हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को कह रहा है— (रोहित) हे रोहित, (अनाश्रान्ताय) जो थककर चूर नहीं हो जाता उसके लिए (श्रीः) लक्ष्मी (न अस्ति) नहीं होती (इति शुश्रुम) ऐसा हमने सुना है। (नृषद्वरः जनः) दूसरे मनुष्यों के सहारे जीनेवाला जन (पापः) पापी होता है। (इन्द्रः) मैं परमेश्वर (इत्) निश्चय ही (चरतः) चलनेवाले का (सखा) सखा हूँ। इसलिए (चरैवेति चरैवेति) चलते चलो, चलते चलो।

१२. (चरतः) चलनेवाले की (जङ्घे) जाँघें (पुष्पिण्यौ) परिपुष्ट हो जाती हैं, उसका (आत्मा) आत्मा (भूष्णुः) समर्थ तथा (फलेग्रहिः) फल पानेवाला हो जाता है। (अस्य) इसके (सर्वे पाप्मानः) सब पाप (प्रपथे) विस्तीर्ण मार्ग में (श्रमेण हताः) श्रम से मारे जाकर (शेरे) सो जाते हैं।

१३. (आसीनस्य) बैठे हुए का (भगः) भाग्य (आस्ते) बैठ जाता है, (तिष्ठतः)

खड़े हुए का (उर्ध्वः तिष्ठति) उँचा खड़ा हो जाता है। (निपद्यमानस्य) लेटे हुए का (शेते) लेट जाता है, (चरतः) चलते हुए का (भगः) भाग्य (चराति) चलने लगता है।

१४. (चरन् वै) चलता हुआ ही (मधु विन्दति) मधु प्राप्त करता है, (चरन्) चलता हुआ ही (स्वादुम्) स्वादु (उदुम्बरम्) गूलर प्राप्त करता है। (सूर्यस्य) सूर्य की (श्रेमाणम्) प्रशस्यता को (पश्य) देखो (यः) जो (चरन्) चलता हुआ (न तन्द्रयते) अलसाता नहीं।

१५. (इन्द्र) हे परमात्मन्, (नः) हमें (क्रतुम् आभर) कर्मण्यता प्रदान कर (यथा) जैसे (पिता पुत्रेभ्यः) पिता पुत्रों को कर्मण्यता सिखाता है। (पुरुहूत) हे बहुस्तुत, (अस्मिन् यामनि) इस जीवन-मार्ग में (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे। (जीवाः) जीवित-जागृत रहते हुए हम (ज्योतिः) ज्योति को (अशीमहि) प्राप्त करें।

१६. हे प्रभु (नः) हमारे अन्दर (मनः) मनोबल, (दक्षम्) उत्साह (उत) और (क्रतुम्) कर्म को (अपि वातय) फूँक दे।

१७. (नः) हमारे अन्दर (पुनः) पुनः-पुनः (मनः) मनोबल (आ एतु) आए, (क्रत्वे) कर्म करने के लिए, (दक्षाय) उत्साह के लिए, (जीवसे) जीवितों की तरह जीने के लिए, (ज्योक् च) और चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य का दर्शन करते रहने के लिए।

१८. (अश्विना) हे अश्वी देवो, अध्यापक-उपदेशको, आप दोनों (अस्मे) हमें (अप्नस्वतीं वाचम्) कर्ममयी वाणी (कृतम्) प्रदान करो। (दस्रा) हे अज्ञान का विनाश करनेवालो, (वृषणा) हे ज्ञान की वर्षा करनेवालो, तुम (नः) हमें (अप्नस्वतीं मनीषां) कर्ममयी बुद्धि को (कृतम्) प्रदान करो।

१९. (धियं वयतः) ज्ञान का पट बुनते हुए (मे) मेरा (तन्तुः) तार (मा छेदि) टूटे नहीं, (मा) न ही (पुरा ऋतोः) समय से पहले (अपसः) कर्म की (मात्रा) मात्रा (शारि) टूटे।

२०. (जितम् अस्माकम्) हमें विजय मिले, (उद्भिन्नम् अस्माकम्) हमें अभ्युदय मिले, (ऋतम् अस्माकम्), हमें सत्याचरण मिले, (तेजःअस्माकम्) हमें तेज मिले, (ब्रह्म अस्माकम्) हमें यज्ञ मिले, (पशवः अस्माकम्) हमें ज्ञान मिले, (स्वः अस्माकम्) हमें आनन्द मिले, (यज्ञः अस्माकम) हमें यज्ञ मिले, (पशवः अस्माकम्) हमें पशु मिलें, (प्रजाः अस्माकम्) हमें प्रजाएँ मिलें, (वीराः अस्माकम्) हमें वीर मिलें।

□□

वैदिक यज्ञ-चिकित्सा

भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों में से यज्ञ एक है। यह कहना अधिक ठीक है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। आर्य मानव जब माता के गर्भ में होता है, तभी यज्ञ द्वारा संस्कृत होना प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के वातावरण में ही वह जन्म लेता है, यज्ञ द्वारा ही पालित-पोषित होता है, यज्ञ में ही समग्र जीवन व्यतीत करता है, अन्त में यज्ञ द्वारा ही अपनी इहलोकलीला को समाप्त करता है। जीवन में उसे दैनिक अग्निहोत्र, पंचयज्ञ, षोडष संस्कार तथा अन्य कई श्रौत यज्ञ तो करने होते ही हैं, परन्तु शास्त्रकारों ने यहाँ तक कहा है कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञरूप समझे। छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है—

पुरुषो वाव यज्ञः। —छान्दो० ३.१६

'मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है।' उसकी आयु के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं वे मानो प्रातः सवन हैं, अगले चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं, अगले अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इसप्रकार यह ११६ वर्ष चलनेवाला यज्ञ है। मनुष्य को चाहिए कि इसे मध्य में ही आधि-व्याधियों से खण्डित न होने दे।

भारतीय विचारधारा के रोम-रोम में ओतप्रोत यह यज्ञ दो दृष्टियों से अपनी महत्ता रखता है—एक तो भावना की दृष्टि से, दूसरे बाह्य लाभों की दृष्टि से। भावना की दृष्टि से यज्ञ मनुष्य के अन्दर त्याग, समर्पण, परोपकार, ऊर्ध्वगामिता, आन्तरिक शत्रुओं का दमन, तेजस्विता, देव-पूजा, शान्ति, संगठन आदि भावनाओं को उद्बुद्ध करता है। बाह्य लाभों की दृष्टि से यह वायुमण्डल को शुद्ध करता है और रोगों तथा महामारियों को दूर करता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने यज्ञ का ऐसे वैज्ञानिक सूक्ष्म अध्ययन किया था कि वे प्राकृतिक रूप से वर्षा न होने पर वृष्टि-यज्ञ द्वारा वर्षा करा लिया करते थे; वे खेतों में खड़ी हुई फसल में कीड़े लग जाने पर उनके विनाश के लिए यज्ञ का प्रयोग करते थे, और यज्ञ के धूम द्वारा पौधों को खाद भी देते थे; किसी स्त्री के सन्तान न होने पर पुत्रेष्टि द्वारा वे उसे सन्तान प्राप्त करा सकते थे। ये सब यज्ञ के बाह्य लाभ कहे जा सकते हैं। वेदों में यज्ञ द्वारा चिकित्सा का भी वर्णन मिलता है, यह इस लेख में दर्शाया जाएगा।

रोगोत्पादक कृमियों का विनाश

अथर्ववेद १.२.३१.३२ तथा ५.२३,२९ में अनेक प्रकार के रोगोत्पादक कृमियों का वर्णन आता है। वहाँ इन्हें यातुधान, क्रव्याद, पिशाच, रक्षः आदि नामों से स्मरण किया गया है। ये श्वासवायु, भोजन, जल आदि द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रविष्ठ होकर या मनुष्य को काटकर शरीर में रोग उत्पन्न करके उसे यातना पहुंचाते है, अतः ये 'यातुधान' हैं। शरीर के मांस को खा जाने के कारण ये 'क्रव्याद' या 'पिशाच' कहलाते है। इनसे मनुष्य को अपनी रक्षा करनी

आवश्यक होती है, इसलिए ये 'रक्षः' या 'राक्षस' है। यज्ञ द्वारा अग्नि में कृमि-विनाशक ओषधियों की आहुति देकर इन रोगकृमियों को विनष्ट कर रोगों से बचा जा सकता है। अथर्व १.८ में कहा है—

[१]इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्री पुमानक इह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥
[२]यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ, गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो, जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

''अग्नि में डाली हुई यह हवि रोगकृमियों को उसी प्रकार दूर बहा ले जाती है, जिस प्रकार नदी पानी के झागों को। जो कोई स्त्री या पुरुष इस यज्ञ को करे, उसे चाहिए कि वह हवि डालने के साथ मन्त्रोच्चारण द्वारा अग्नि का स्तवन भी करे। हे प्रकाशक अग्ने, गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए भक्षक रोगकृमियों के जन्मों को तू जानता है। वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ तू उन रोगकृमियों को सैकड़ों वधों का पात्र बना॥''

इस वर्णन से स्पष्ट है कि मकान के अन्धकारपूर्ण कोनों में, सन्दूक-पीपे आदि सामान के पीछे, दीवार की दरारों में तथा गुप्त से गुप्त स्थानों में जो रोगकृमि छिपे बैठे रहते हैं, वे कृमिहर ओषधियों के यज्ञिय धूम से विनष्ट हो जाते हैं।

अथर्व० ५.२९ से इस विषय पर और भी अच्छा प्रकाश पड़ता है—

[३]अक्ष्यौ निविध्य हृदयं निविध्य जिह्वां नितृन्द्धि प्र दतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि॥ ४॥

''हे यज्ञ, जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने इस मनुष्य को अपना ग्रास बनाया है, उसे तू विनष्ट कर दे। उसकी आँखे फोड़ दे, हृदय चीर दे, दाँत तोड़ दे।

[४]आमे सुपक्वे शबले विपक्वे ,यो मा पिशाचो अशने ददम्भ० ॥ ६ ॥
क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाऽकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः० ॥ ७॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्० ॥ ८ ॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा, वियातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ ९ ॥

''कच्चे, पक्के, अधपके या तले हुए भोजन में प्रविष्ट होकर जिन मांसभक्षक रोगकृमियों ने इस मनुष्य को हानि पहुँचायी है, वे सब रोगकृमि हे यज्ञाग्नि, तेरे द्वारा सन्तति-सहित विनष्ट हो जायें, जिससे कि यह नीरोग हो। दूध में, मठे में, बिना खेती के पैदा हुए जंगली धान्य में, कृषिजन्य धान्य में, पानी में, बिस्तर पर सोते हुए, दिन में या रात में जिन रोगकृमियों ने इसे हानि पहुँचायी है, वे सब हे यज्ञाग्नि, तेरे द्वारा सन्तति-सहित विनष्ट हो जायें, जिससे यह हमारा देह नीरोग हो''

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार बाहर गुप्त स्थानों में छिपे हुए

रोगकृमि यज्ञ द्वारा विनष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार दूध, पानी, अन्न, वायु आदि के माध्यम से शरीर के अन्दर पहुँचे हुए रोगकृमि भी नष्ट हो सकते हैं और शरीर स्वस्थ हो सकता है।

ज्वर-चिकित्सा

यज्ञाग्नि द्वारा ज्वर तथा ज्वर के सहकारी कास, सिर-दर्द, अंगों का टूटना आदि भी दूर हो सकते हैं, यह अथर्व० १.१२ तथा ५.२२ सूक्तों से ज्ञात होता है—

[५]अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं, नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम, यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता॥

—अथर्व० १.१२.१

"हे ज्वर, अंग-अंग में ताप के साथ व्याप्त हुए तेरा प्रतिकार हम हवि के द्वारा करते हैं। अंगों को जकड़नेवाले जिस ज्वर ने इस रोगी के अंगों को जकड़ लिया है, उसके लिए हवि के द्वारा हम पाशों को तैयार करते हैं।"

[६]मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं, परुष्परुराविवेशा यो अस्य।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो, वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च॥

—अथर्व० १.१२.३

"हे सूर्य, हवि के साथ मिलकर तू इस रोगी को शिरःपीड़ा से मुक्त कर। जो इसे खाँसी ने सताया हुआ है उससे इसे छुड़ा। जो श्लेष्मजन्य, वातजन्य या पित्तजन्य ज्वर इसके अंग-अंग में व्याप्त हो गया है, वह शरीर से निकलकर वृक्षों और पर्वतों से टक्कर खाता फिरे।"

[७]अग्निस्तक्मानमपबाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥
[८]अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोषि, उच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया, अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि॥

—अथर्व० ५.२२.१.२.

"यज्ञाग्नि यहाँ से ज्वर को दूर भगा देवे। सोमरस, यज्ञिय सिल-बट्टे, पवित्र बल को देनेवाला सूर्य, वेदि, कुशा, प्रज्ज्वलित समिधाएँ ये समस्त यज्ञांग ज्वर-निवारण में सहायक हों॥ इस विधि से द्वेषकारी सब ज्वरजन्य उपद्रव दूर हो जाएँ। हे ज्वर, जो तू अपने ताप से तप्त करता हुआ, पीड़ित करता हुआ, सबकों पीले शरीरवाला कर देता है, वह तू यज्ञाग्नि द्वारा निर्वीर्य हो जा, शरीर से बाहर निकल जा।"

[९]यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासाऽवेपयः।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परिवृङ्ग्धि नः॥

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥

—अथर्व० ५.२२.१०,१३

"हे ज्वर, जो तू शीतरूप है, या उष्णरूप है, खाँसी से प्रकम्पित करता है, तेरे ये सब हथियार बड़े भयानक हैं, उससे हमें बचाये रख॥ हे यज्ञाग्नि, जो तीसरे दिन चढ़नेवाला, चौथे दिन चढ़नेवाला, प्रतिदिन चढ़नेवाला, ग्रीष्म में होनेवाला, वर्षा में होनेवाला, शीत या उष्ण ज्वर है, उसे तू नष्ट कर॥"

उन्माद-चिकित्सा

अथर्व० ६.१११ में यज्ञाग्नि द्वारा उन्माद रोग की चिकित्सा का वर्णन मिलता है—

[११]इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं, यथाऽनुन्मदितोऽसति॥ १॥

"हे यज्ञाग्नि, यह जो उन्माद-रोग से ग्रस्त पुरुष कसकर बँधा हुआ असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है, उसे तू इस रोग से मुक्त कर दे। जब वह तेरी कृपा से इस रोग से छूट जाये तब भी वह तुझे तेरा हविर्भाग प्रदान करता रहे, अर्थात् यज्ञ करता रहे, जिससे फिर कभी उन्मत्त न हो।"

[१२]अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि॥ २॥

"हे मनुष्य यदि उन्माद के कारण तेरा मन उद्दीप्त हो गया है, तो यज्ञाग्नि उसे शान्त कर देवे। यज्ञचिकित्सा को जाननेवाला मैं तेरा इलाज करता हूँ, जिससे तू उन्मादरहित हो जाए।"

इन मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई मनुष्य उन्मत्त हो जाए, उसकी अवस्था ऐसी बिगड़ जाए कि वह असम्बद्ध बातें बोलता रहे, काटने-मारने को दौड़ता हो, यहाँ तक कि उसे रस्सी से बाँधकर रखने की आवश्यकता पड़े, तो उस हालत में भी वह यज्ञचिकित्सा से स्वस्थ हो सकता है। यज्ञाग्नि में डाली हुई ओषधियों की सुगन्ध उसके विकृत मस्तिष्क और उत्तेजित मन को ठीक कर सकती है। जो एक बार उन्माद रोग से ग्रस्त हो चुका होता है, उसके लिए आगे भी भय रहता है कि कहीं फिर उन्मत्त न हो जाए, परन्तु यहाँ वेद ने यह उपाय बताया है कि ठीक होने के पश्चात् यदि वह इस रोग के लिए हितकारी ओषधियों से नियमपूर्वक यज्ञ करता रहे तो भविष्य में फिर कभी इस रोग से ग्रस्त नहीं होगा।

गण्डमाला-चिकित्सा

अथर्व० ६.८३ में गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन है। वहाँ सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के सेवन से तथा यज्ञाग्नि में आहुति द्वारा यह रोग दूर हो

सकता है। ऐसा कहा गया है—

[१३]अपचितः प्र प्रतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु॥
एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे।
सर्वासामग्रभं नाम-अवीरघ्नीरपेतन॥
असूतिका रामायणी अपचित् प्र पतिष्यति।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा।
मनसा यदिदं जुहोमि॥ १-४॥

"हे गण्डमाला की ग्रन्थियो, तुम इस रोगी के शरीर से निकलकर उड़ जाओ, जैसे बाज पक्षी अपने घोंसले से उड़ता है। सूर्य तुम्हारी चिकित्सा करे, चन्द्रमा तुम्हें दूर भगा दे। तुममें से एक कुछ-कुछ लाल-श्वेत वर्णवाली है, एक सफेद है, एक काली है, दो लाल हैं। एक-एक करके तुम सबका मैं नाम लेता हूँ। इस वीर पुरुष का संहार न करती हुई तुम इसके शरीर से दूर हो जाओ। हे रोगी, तू विश्वास रख, जिससे अभी पीप का स्राव होना आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसी तेरी यह गण्डमालाग्रन्थि निश्चय ही गिर जाएगी, तेरी पीड़ा दूर हो जाएगी, व्रण नष्ट हो जाएगा। हे रोगी, तू मनोयोग के साथ इस आहुति का सेवन कर, जिसे मैं मनोयोगपूर्वक यज्ञाग्नि में डाल रहा हूँ।"

इस वर्णन से स्पष्ट है कि गण्डमाला का रोगी यदि गण्डमालाग्रन्थियों पर विशेष ओषधियों का यज्ञधूम लेवे तो ग्रन्थियाँ नष्ट हो सकती हैं। साथ में सूर्यकिरणों और चन्द्रकिरणों का सेवन भी सहायक चिकित्सा के रूप में करना चाहिए।

अथर्व० ७.७४ में भी गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन करते हुए अन्तिम मन्त्र में यज्ञाग्नि को स्मरण किया है—

[१४]व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो, विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं, प्रजावन्त उप सदेम सर्वे॥ ४॥

—अथर्व० ७.७४

"हे व्रतपति जादवेदः यज्ञाग्नि, रोगनिवारण आदि व्रतों से युक्त तू प्रतिदिन हमारे घरों में प्रज्ज्वलित होता रह। हम समिधाओं से प्रज्ज्वलित तेरे समीप सब परिजनों-सहित बैठा करें।"

क्षयरोग या राजयक्ष्मा की चिकित्सा

अन्य रोगों की तो गणना ही क्या, यज्ञ द्वारा राजयक्ष्मा की भी चिकित्सा हो सकती है, यह वैदिक सन्दर्भों से प्रकट होता है। सर्वप्रथम हम अथर्व० ७.७६ का प्रसंग लेते हैं—

[१५]यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥
पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च ॥ ४ ॥
विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

"जो क्षयरोग पसलियों को तोड़ डालता है, फेफड़ों में जाकर बैठ जाता है, पृष्ठवंश के उपरिभाग में स्थित हो जाता है, उस अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होने-वाले क्षयरोग को हे यज्ञिय हवि, तू शरीर से बाहर निकाल दे। पक्षी की भाँति उड़नेवाला अर्थात् छूत द्वारा फैलने वाला यह रोग एक से दूसरे पुरुष में प्रविष्ठ हो जाता है। चाहे उसने जड़ जमा ली हो, चाहे जड़ न जमायी हो, हवि-चिकित्सा दोनों की ही उत्तम चिकित्सा है। हे अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होनेवाले क्षयरोग, हम तेरे उत्पादक कारणों को जानते हैं, परन्तु जिस पुरुष के घर में हम हवन करते है उसे तू कैसे मार सकता है?"

इन मन्त्रों से क्षयरोग के निवारण में यज्ञ-हवन की महत्ता स्पष्ट है। इस विषय पर अथर्ववेद ३.११ के कुछ मन्त्र और भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। यज्ञ-चिकित्सा करनेवाला वैद्य कहता है—

[१६]मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

"हे रोगी, चाहे तेरे शरीर में क्षय रोग अज्ञात अवस्था में है, चाहे प्रकट अवस्था में है, हवि द्वारा मैं तुझे उस रोग से मुक्त कर दूँगा, जिससे तू चिरकाल तक जीवित रहे। हे वायु और अग्नि, यदि यह रोगी पूरी तरह से गठिया रोग की पकड़ में आ गया है, तो भी तुम इसे उससे छुड़ा दो।"

[१७]यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

"यदि इसकी आयु क्षीण हो चुकी है, यदि यह निराश हो चुका है, यदि यह मृत्यु के बिल्कुल समीप पहुँच चुका है, तो भी हविचिकित्सा द्वारा मैं इसे मृत्यु की गोद से लौटा लाता हूँ। मैंने इसे सौ वर्ष जीने के लिए बल प्रदान कर दिया है।"

[१८]सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाऽऽहार्षमेनम्।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

"इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देनेवाली, सौ शरद् ऋतुएँ निर्विघ्न पार करानेवाली, सौ वर्ष की आयु देनेवाली हवि के द्वारा मैं इस पुरुष को क्षयरोग के चंगुल से छुड़ा लाया हूँ, जिससे आगे भी (हविर्गन्ध से युक्त) वायु सौ वर्षों तक

इसे सब रोग-कष्टों से पार करता रहे।''

[१९]शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥ ४ ॥

हे हविचिकित्सा द्वारा क्षयरोग से आरोग्य लाभ किए मनुष्य, तू दिनोदिन बढ़ता हुआ सौ शरदों तक, सौ हेमन्तों तक जीवित रह। वायु, अग्नि, सूर्य और बादल ने सौ वर्षो की आयु देने वाली हवि की सहायतासे पुनः तुझे सौ वर्षो की आयु प्राप्त करा दी है।''

ये सब मन्त्र ऋग्वेद १०.१६१ में भी आये हैं। इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि क्षय रोग चाहे प्रारम्भिक अवस्था में हो, चाहे बहुत बढ़ गया हो, यहाँ तक कि उसके कारण रोगी बिल्कुल मरणासन्न हो गया हो, तो भी हवि-चिकित्सा के द्वारा ठीक हो सकता हैऔर वह स्वस्थ होकर सौ वर्ष तक जीने योग्य हो सकता है। परन्तु हवि-चिकित्सा के साथ-साथ शुद्धवायु-सेवन, सूर्यकिरण-स्नान, शुद्ध जल का प्रयोग आदि हो तभी हविचिकित्सा लाभदायक होती है, यह भी प्रकट है।

गर्भदोष-निवारण

ऋग्वेद (१०.१६२) में यज्ञाग्नि द्वारा गर्भ-दोषों के निवारण का उल्लेख किया गया है। यह प्रकरण अथर्ववेद (२०.९६) में भी है—

[२०]ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ १ ॥

''हे नारी, जो तेरे गर्भ के अन्दर रोग या रोगकृमि उत्पन्न हो गया है, और योनि में बवासीर जैसे मस्से हो गए है, उन्हें वेदमन्त्रों से युक्त रोगविनाशक यज्ञाग्नि वहाँ से दूर कर देवे।''

[२१]यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ २ ॥

''जो तेरे गर्भ में रोग उत्पन्न हो गया हैं और योनि में मस्से हो गए है, उन्हें वेदमन्त्रों के साथ प्रयुक्त यज्ञाग्नि नष्ट कर देवे''

[२२]यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ ३ ॥

''जो रोग या रोगकृमि तेरे गर्भशय में जाते हुए वीर्य की उत्पादक शक्ति को नष्ट करता है, जो अन्दर स्थित हुए गर्भ की हत्या करता है, जो गर्भाशय से बाहर आते हुए चंचल गर्भ की हत्या करता है, जो पैदा हुए शिशु की हत्या करता है उसे हम यज्ञाग्नि द्वारा विनष्ट कर देते हैं।''

इन मन्त्रों से यह द्योतित होता है कि यज्ञ-हवन द्वारा अनेक प्रकार के गर्भ-दोष भी दूर हो सकते हैं। जिन स्त्रियों में गर्भ ठहरने ही नही पाता, या ठहरने के बाद ही दो-चार महीनों के बाद ही गिर जाता है, या पूरे नौ-दस

महीने की अवधि तक स्थिर रहकर भी प्रसव ठीक नहीं हो पाता, या प्रसव हो भी जाए तो शिशु ऐसा रोगाक्रान्त पैदा होता है कि शीघ्र ही मर जाता है, ऐसी स्त्रियाँ हविचिकित्सा से लाभ प्राप्त कर सकती हैं, ऐसा वेद का आशय है।

प्रसूतिक्रम आसानी से हो जाने के लिए भी किन्हीं विशेष ओषधियों की यज्ञिय सुगन्ध उपयोगी हो सकती है, यह अथर्व १.११.१ के निम्न मन्त्र से प्रकट होता है—

[२३]वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतौ-अर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नारी-ऋतप्रजाता, विपर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥

"हे पोषक यज्ञाग्नि, इस प्रसूति के समय रोग-शत्रुओं का नियमन करनेवाला (अयर्मा अरीन् नियच्छति। निरुक्त० १.२३) यज्ञ का विधाता होमनिष्पादक ऋत्विज् तेरे लिए अग्नि में हवि डालता हुआ वषट्कार करे। नारी बाहर की ओर किनछे और अपने अंगो को ढीला छोड़ दे, जिससे आसानी से प्रसूति हो जाए।"

अन्य रोगों का निवारण

अब तक हमने ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किए हैं, जिनमें यज्ञ द्वारा किन्ही विशेष रोगों के विनाश होने का वर्णन है। अब कुछ ऐसे मन्त्र उद्धृत करेंगे, जिनमें किसी विशेष रोग का नाम न लेकर सामान्य रूप से यह कहा गया है कि यज्ञाग्नि से रोग दूर होते हैं।

[२४]यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये॥ —अथर्व० ६.८५.३

"जिस प्रकार बाँध चारों ओर जानेवाले जलों की गति को रोक देता है, उसी प्रकार हे रोगी, सर्वजन-हितकारी यज्ञाग्नि के द्वारा मैं तेरे रोग के प्रसार को रोक देता हूँ।"

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः॥ —अथर्व० ७.५३.६

"हे रोगी, तेरे अन्दर हम प्राण को प्रेरित करते हैं, तेरे रोग को दूर करते हैं। यह वरणीय और श्रेष्ठ यज्ञाग्नि हम सब को सर्वत्र दीर्घायुष्य प्रदान करे।"

[२५]कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्॥ —ऋ० १.१२.७

"हे मनुष्य, जो यज्ञाग्नि मेधावी के तुल्य सत्य धर्मोबाला, देदीप्यमान और रोगों को नष्ट करनेवाला है, उसका तू यज्ञ में स्तवन कर।"

[२६]घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः॥
—अथर्व० १९.५८.१

"मनोयोग के साथ और चक्षु, वाक् आदि इन्द्रिय-देवों के व्यापार के साथ

अग्नि में डाली हुई घृत की धारा अन्य ओषधियों की हवि के साथ वर्ष-भर हमें बढ़ाती रहे। हमारें श्रोत्र, चक्षु, प्राण रोगादि से छिन्न न होवें, हम आयु और तेज से छिन्न न होवें।''

[२७]स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे।
सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति॥ —ऋ० ३.१०.३

"हे यज्ञाग्नि, जो मनुष्य तुझमें विभिन्न ओषधियों की समिधाओं का आधान करता है, उसे सुवीर्य प्राप्त होता है, वह परिपुष्ट होता है।''

इन तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि विभिन्न ओषधि-वनस्पतियों के समित्-पत्र-पुष्प-फल-मूल-निर्यास आदि की हवि से मनुष्य बल, पोषण, रोग-निरोधक-शक्ति प्राप्त कर सकता है, और प्राप्त तथा अप्राप्त विविध रोगों से बचकर दीर्घायुष्य पा सकता है।

यज्ञ द्वारा रोग निवारण की प्रक्रिया

अब हम यह देखेंगे कि यज्ञ द्वारा रोगनिवारण कैसे होता है। जब हम यज्ञाग्नि में घृत, अन्न, ओषधियों आदि की आहुति देते हैं तब उनकी रोगनिवारक गन्ध वायुमण्डल में फैल जाती है। उस वायु को श्वास द्वारा हम अपने फेफड़ों में भरते हैं। वहाँ उस वायु का रक्त से सीधा सम्पर्क होता है। वह वायु अपने में विद्यमान रोगनिवारक परमाणुओं को रक्त में पहुँचा देती है। उससे रक्त में जो रोगकृमि होते हैं, वे मर जाते हैं। रक्त के अनेक दोष वायु में आ जाते हैं, और जब हम वायु को बाहर निकालते हैं, तब उसके साथ वे दोष भी हमारे शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ द्वारा संस्कृत वायु में बार-बार श्वास लेने से शनैः-शनैः रोगी स्वस्थ हो जाता है। इस प्रक्रिया को वेद में निम्न शब्दों में दर्शाया जाता है—

[२९]द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रपः॥
[३०]आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥

—ऋ० १०.१३७.२.३, अथर्व० ४.१३.२.३

''ये श्वास-निःश्वासरूपी दो वायुएँ चलती हैं, एक बाहर के वायुमण्डल से फेफड़ों के रक्तसमुद्र तक, और दूसरी फेफड़ों से बाहर के वायुमण्डल तक। इनमें से पहली हे रोगी, तुझे रोग-निवारक बल प्राप्त कराये, दूसरी रक्त में जो दोष है उसे अपने साथ बाहर ले जाये। हे वायु, तू अपने साथ औषध को ला। हे वायु, तू रक्त में जो मल है उसे बाहर निकाल। तू सब रोगो की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचरता है।''

[३१]वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्राण आयूंषि तारिषत्॥

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥

—ऋ० १०.१८६.१-३

"वायु हमारे शरीर के अन्दर ओषध को ले जाये, जो हमारे हृदय के लिए, शान्तिकर और सुखकर हो। वह हमारी आयु को बढ़ाए। हे वायु, तू हमारे पितृतुल्य, भ्रातृतुल्य और मित्रतुल्य है, वह तू हमें जीवन प्रदान कर। हे वायु, जो तेरे घर में अमृतमय औषध का भण्डार निहित है, उसमें से कुछ अंश हमें भी प्रदान कर, जिससे हम चिरंजीवी हों।"

आयुर्वेदिक ग्रन्थों का प्रमाण

यज्ञों द्वारा रोग-निवारण का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी मिलता है। महर्षि चरक क्षयरोग की चिकित्सा के प्रकरण में कहते हैं—

यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥

—चरक, चिकित्सास्थान ८.१२२

अर्थात् प्राचीनकाल में जिन यज्ञों के प्रयोग से राजयक्ष्मा को जीता जाता था, आरोग्य चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि उन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करे।

आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रयोग लिखे हैं, जिनमें अग्नि में ओषधियाँ डालकर उनकी धूनी लेने से रोगों को दूर करने का वर्णन है। उन्हें भी यज्ञचिकित्सा का ही रूप समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ प्रयोग हम नीचे देते हैं—

अगुरुघनसारसल्लककररुहनतनीरचन्दनैर्युक्तः।
सर्जरसेन समेतो धूपो रुग्दाहकं हन्ति॥

—(बृहन्निघण्टु र०)

अगर, कपूर, लोबान, नखी तगर, सुगन्धबाला, चन्दन और राल इनकी धूप देने से दाह शान्त होता है।

अश्वगन्धोऽथ निर्गुण्डी, बृहती पिप्पलीफलम्।
धूपोऽयं स्पर्शमात्रेण ह्यर्शसां शमने ह्यलम्॥

—(बृ०नि०र०)

असगन्ध, निर्गुण्डी, बड़ी कटेली, पीपल इनकी धूप से बवासीर की पीड़ा शान्त होती है।

शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुपिष्टस्ताम्रसम्पुटे।
घृतेन धूपितो हन्ति शोथघर्षाश्रुवेदनः॥

—(वंगसेन)

सहंजने के पत्तों के रस को ताम्रपात्र में डालकर तांबे की मूसली से घोटें और उसे घी में मिला लें। इनकी धूप देने से आँखों की पीड़ा, अश्रुस्राव, किरकिराहट व शोथ का नाश होता है।

काकुभकुसुमविडंगं लांगलिभल्लातकं तथोशीरम्।
श्रीवेष्टकसर्जरसं चन्दनमथ कुष्ठमष्टमं दद्यात्॥
एष सुगन्धो धूपः सकृत् कृमीणां विनाशकः प्रोक्तः।
शय्यासु मत्कुणानां शिरसि च गात्रेषु यूकानाम्॥

—(योगरत्नाकर)

अर्जुन के फूल, वायविडंग, कलियारी की जड़, भिलावा, खस, धूप सरल, राल चन्दन और कूठ समान भाग लेकर बारीक कूट लें। इसकी धूप से कृमि नष्ट हो जाते है। यदि खाट को इसकी धूप दी जाए तो खटमलों का और शिर तथा अंगो को दी जाए तो जूँओं का विनाश होता हैं।

काकमाचीफलैकेन घृतयुक्तेन बुद्धिमान्।
धूपयेत् पिल्लरोगार्तं पतन्ति कृमयोऽचिरात्॥

--(गदनिग्रह)

मकोय के एक फल को घृत लगाकर उसे आग पर डालकर आँख में उसकी धूनी देने से तुरन्त आँख से कृमि निकलकर पिल्ल रोग नष्ट हो जाता है।

निम्बपत्रं वचा कुष्ठं पथ्या सिद्धार्थकं घृतम्।
विषमज्वरनाशाय गुग्गुलुश्चेति धूपनम्॥

—(बृ०नि० र०)

नीम के पत्ते, बच, कूठ, हर्र, सफेद सरसों और गूगल के चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से विषमज्वर नष्ट होता है।

निम्बपत्रवचाहिंगू—सर्पिर्लवणसर्षपैः।
धूपनं कृमिरक्षोघ्नं व्रणकण्डूरुजापहम्॥

—(बृ०नि० र०)

नीम के पत्ते, बच, हींग, सैंधानमक और सरसों के समभागमिश्रित चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से व्रण के कृमि, खाज और पीव नष्ट होते हैं।

इस प्रकार के अनेक प्रयोग आयुर्वेद के ग्रन्थों में हैं। प्राचीन आयुर्वेदज्ञ आचार्यो ने ये परीक्षण किये थे। अनुसंधान और परीक्षण से हम अन्य भी अनेक प्रयोगों का आविष्कार कर सकते हैं। परन्तु अग्नि में ओषधियों के मिश्रण को

डालने मात्र से जितना फल सम्भव हैं, उससे शतगुणित फल यज्ञ द्वारा उस विधान को करने से प्राप्त हो सकता हैं। रोगी श्रद्धा के साथ मन में पवित्र विचारों को लेकर यज्ञ में बैठता है। वह मन में इस विश्वास को धारण किए होता है कि इस यज्ञिय हवि से मेरा रोग अवश्य दूर होगा। चिकित्सक की भावना और उत्साह रोगी के हृदय में और भी आशा का संचार कर देते हैं। मन्त्रपाठपूर्वक यज्ञ प्रारम्भ होता है। एक-एक शब्द रोगी के हृदय पर असर करता है। थोड़े-थोड़े अन्तर के पश्चात् प्रत्येक स्वाहाकार के साथ अग्नि से हविर्धूम उठता है और श्वास वायु के साथ रोगी के अन्तस्थल को स्पर्श करता हुआ रोग को दूर भगाता है। यज्ञिय वातावरण की शान्ति, पवित्रता रोगकल्मष को दूर करने के लिए सोने में सुगन्ध का काम करती हैं। ये सब लाभ यज्ञविहीन शुष्क क्रिया द्वारा भला कहाँ सम्भव हैं?

उपसंहार

अस्तु, शास्त्रीय प्रमाणो से हमने यह प्रतिपादित करने का यत्न किया है कि यज्ञ द्वारा समस्त रोगों का निवारण सम्भव हैं। किस रोग में किन पदार्थो की हवि हितकर होगी इसका वैद्य-विद्वन्मडली को अधिकाधिक अनुसंधान करना चाहिए।

अथर्ववेद में गूगल, कुष्ठ, पिप्पली, पृश्निपर्णी, सहदेवी, लाक्षा, अजश्रृंगी आदि कतिपय ओषधियों का माहात्म्य-वर्णन मिलता है। हवन-सामग्री में गूगल का प्रयोग प्रायः किया जाता है। उसके विषय में अथर्व० १९.३८ में कहा गया है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

अर्थात् जिस मनुष्य को गूगल औषध की उत्तम गन्ध प्राप्त होती है, उसे रोग पीड़ित नहीं करते, और आक्रोश उसे नहीं घेरता।

यज्ञ द्वारा रोग-निवारण शास्त्रकारों की कोरी कल्पना नहीं है। प्राचीन काल में रोग फेलने के समयों में बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे और जनता उनसे आरोग्य-लाभ करती थी। इन्हें भैषज्ययज्ञ कहते थे। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि।
तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते॥ —गो०ब्रा०उ० १.१९

अर्थात् जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं, वे भैषज्य-यज्ञ कहलाते हैं, क्योंकि रोगों को दूर करने के लिए होते हैं। ये ऋतुसन्धियों में किए जाते हैं, क्योंकि ऋतुसन्धियों में ही रोग फैलते हैं।

वर्तमान काल में भी वर्षा, शरद् और वसन्त के आरम्भ में बड़े व्यापक रूप में रोग और महामारियाँ फैलती हैं, जिनके निवारण के लिए जनता और सरकार का करोड़ों रूपया व्यय होता है, तो भी वे बीमारियाँ पूर्णतः नहीं रुक पातीं। यज्ञ

एक ऐसा उपाय है जिससे स्वल्प व्यय में महान् लाभ प्राप्त किया जा सकता है। जब सर्दी-जुकाम, मलेरिया, चेचक आदि रोग फैलने का समय हो, तब यदि घर-घर में उन रोगों के निवारण के लिए आयुर्वेदज्ञों द्वारा निर्दिष्ट उपयोगी ओषधियों से प्रतिदिन यज्ञ किए जाया करें तो सारा वायुमंडल उन रोगों के प्रतिकूल हो जाए और कहीं वे रोग न फैलें।

भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रोग उद्भूत होते हैं। किसी ऋतु में वात प्रकुपित होता है, किसी में पित्त, किसी में कफ। उन-उन प्रकोपों के शमन के अनुकूल हवन-सामग्री का प्रयोग करना उचित है। वेद में भी ऋत्वनुकूल हवन-सामग्री का विधान है—

देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ॥

पाद टिप्पणियाँ—

१. (इदं हविः) यह हवि (यातुधानान्) पीड़ा देनेवाले रोगकृमियों को (अवहत्) दूर ले जाती है, (नदी फेनम् इव) जैसे नदी झाग को। (यः) जो (स्त्री पुमान्) स्त्री या पुरुष (इदम्) इस हवि को (अकः) करता है, अग्नि में डालता है, (इह) इस यज्ञ में (स जनः) वह मनुष्य (स्तुवताम्) मन्त्रोच्चारण द्वारा स्तुति भी करे।

२. (जातवेदः अग्ने) हे प्रकाशक अग्नि, (यत्र) जहाँ (गुहा सताम्) गुप्त स्थानों में छिपे हुए (अत्रिणाम् एषाम्) इन भक्षक रोगकृमियों के (जनिमानि) जन्म-स्थानों को (वेत्थ) तू जानता है वहाँ (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ (वावृधानः) बढ़ता हुआ तू (एषाम्) इन रोगकृमियों के (तान्) उन सब समूहो को (शततर्हं जहि) सैकड़ों विनाशों से विनष्ट कर दे।

३. (अक्ष्यौ निविध्य) आँखें फोड़ दे, (हृदयं निविध्य) हृदय छेद दे, (जिह्वां नितृन्धि) जीभ काट दे, (दतः प्रमृणीहि) दाँत तोड़ दे। (यतमः पिशाचः) जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने (अस्य जघास) इस मनुष्य को अपना ग्रास बनाया है, (यविष्ठ अग्ने) हे अत्यन्त प्रवृद्ध यज्ञाग्नि, (तं प्रति शृणीहि) उसे तू विनष्ट करदे।

४. (यः पिशाचः) जिस कच्चा मांस खा जाने वाले रोगकृमि ने (आमे) कच्चे, (सुपक्वे) खूब पके, (शबले) अध-पके, (विपक्वे) तले हुए, (अशने) भोजन में स्थित होकर (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाई है, (यः) जिसने (अकृष्टपच्ये अशने धान्ये) बिना खेती के पकनेवाले भोज्य धान्य में स्थित होकर (ददम्भ) हानि पहुँचाई है; (यातूनां कव्यात्) पीड़ादायक रोगकृमियों में से जिस मांसभक्षी कृमि ने (अपां पाने) पानी पीते समय अथवा (शयने शयानम्) बिस्तर पर सोते हुए (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुँचाई है, (यातूनां क्रव्यात्) पीड़ादायक रोगकृमियों में से जिस मांसभक्षी कृमि ने (दिवा) दिन में, या (नक्तम्) रात्रि में (शयने शयानम्) बिस्तर पर सोते हुए (मा ददम्भ) मुझे हानि पहुंचाई है (तत् पिशाचाः) वे सब पिशाच रोगकृमि (प्रजया) सन्तानों सहित (आत्मना) अपने आपमें (वियातयन्ताम्) यज्ञाग्नि द्वारा विनष्ट हो जाएँ, जिससे (अयम्) यह मेरा देह (अगदः अस्तु) नीरोग हो।

५. हे ज्वर, (अङ्गे-अङ्गे) अंग-अंग में (शोचिषा) ताप के साथ (शिश्रियाणम्)

आश्रय जमाए हुए (त्वा) तुझपर (नमस्यन्तः) वज्र-प्रहार करते हुए हम (हविषा) हवि के द्वारा (विधेम) तेरा प्रतिकार करें। (ग्रभीता) जकड़ने-वाले (यः) जिस तूने (अस्य) इस शरीर के (पर्व) अंगों को (अग्रभीत्) जकड़ लिया है उस तेरे लिए हम (हविषा) हवि द्वारा (अङ्कान्) अंकुओं को और (समङ्कान्) सांकलों को (विधेम) तैयार करें।

६. हे यज्ञाग्नि, तू (एनम्) इस रोगी को या रुग्ण देह को (शीर्षक्त्या) सिर दर्द से (मुञ्च) छुड़ा, (उत) और (यः कासः) जो खाँसी (अस्य) इसके (परुः परुः) पोर-पोर में (आविवेश) घुस गई है, उससे इसे छुड़ा। (यः) जो (अभ्रजाः) श्लेष्मजन्य, (वातजाः) वातजन्य ज्वर है (यः च) और जो (शुष्मः) पित्तजन्य शोषक ज्वर है, वह (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (पर्वतान् च) और पहाड़ों को (सचताम्) प्राप्त करे, उनसे जाकर टकराये, अर्थात् विनष्ट हो जाए।

७. (अग्निः) यज्ञाग्नि, (सोमः) सोम-रस, (ग्रावा) यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले सिल-बट्टे, (पूतदक्षाः वरुणः) पवित्र बल को देनेवाला सूर्य, (वेदिः) यज्ञ-वेदि, (बर्हिः) कुशा, (शोशुचानाः समिधः) प्रज्ज्वलित समिधाएँ, ये सब (तक्मानस्) ज्वर को (इतः) इस रुग्ण शरीर से (अप बाधताम्) दूर धकेल दें। (अमुया) इस विधि से (द्वेषांसि) रोगरूप शत्रु (अप भवन्तु) दूर हो जाएँ।

८. (तक्मन्) हे ज्वर, (अयं यः) यह जो तू (उच्छोचयन्) शरीर को उद्दीप्त करता हुआ, (अग्निः इव) आग के समान (अभि दुन्वन्) चारों ओर से तप्त करता हुआ, (विश्वान्) सब रोगियों को (हरितान् कृणोषि) पीला कर देता है, वह तू शरीर को छोड़कर चला जा। (अध हि) और निश्चय ही (तक्मन्) हे ज्वर, तू (अरसः हि भूयाः) निर्वीर्य हो जा, (अध) और यज्ञ-हवि के प्रयोग से तू (न्यङ्-न्यङ्) तिरछे (अधराङ् वा) अथवा नीचे की ओर (परेहि) भाग जा।

९. हे ज्वर, (यत् त्वम्) जो तू (शीतः) शीत चढ़ानेवाला है, (अथो रूरः) या उष्णरूप है, जो (कासा सह) खाँसी के साथ (अवेपयः) कँपा देता है, वह तू यज्ञाग्नि के प्रयोग से नष्ट हो जा। (तक्मन्) हे ज्वर, (ते हेतयः) तेरे हथियार (भीमाः) भंयकर हैं, (ताभिः) उनके साथ (नः) हमें (परिवृङ्ग्धि) छोड़ दे।

१०. हे यज्ञाग्नि, तू (तृतीयकम्) तीसरे दिन चढ़नेवाले, (वि-तृतीयम्) चौथे दिन चढ़नेवाले, (सदन्दिम्) सदा चढ़े रहनेवाले, (उत) और (शारदम्) शरद् ऋतु में होनेवाले, (शीतम्) शीत के साथ चढ़नेवाले, (रूरम्) उष्णतावाले, (ग्रैष्मस्) ग्रीष्म ऋतु में होनेवाले तथा (वार्षिकम्) वर्षा ऋतु में होनेवाले (तक्मानम्) ज्वर को (नाशय) नष्ट कर दे।

११. (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (इमम्) इस (मे पुरुषम्) मेरे पुरुष को (मुमुग्धि) उन्माद से छुड़ा दे, (अयं यः) यह जो (बद्धः) बँधा हुआ, (सुयतः) कसकर जकड़ा हुआ (लालपीति) बहुत अधिक प्रलाप कर रहा है। (अतःअधि) इस रोगमुक्ति के बाद मी, हे यज्ञाग्नि, यह (ते) तेरे लिए (भागधेयम् कृणवत्) भाग देता रहे, अर्थात् अग्निहोत्र करता रहे, (यथा) जिससे (अनुन्मदितः) उन्मादरहित (असति) बना रहे।

१२. हे मनुष्य, (यदि ते मनः) यदि तेरा मन (उद्युतम्) उद्दीप्त हो गया है, तो (अग्निः) यज्ञाग्नि (ते) तेरे उस मन को (निशमयतु) बिल्कुल शान्त कर देवे।

(विद्वान्) उन्मादचिकित्सा का ज्ञाता मैं (भेषजं कृणोमि) तेरी चिकित्सा करता हूँ, (यथा) जिससे, तू (अनुन्मदितः असिस) उन्मादरहित हो जाए।

१३. (अपचितः) हे गण्डमाला की ग्रंथियो, तुम (प्रपत) उड़ जाओ, (सुपर्णः वसतेःइव) जैसे बाज पक्षी घोंसले से उड़ता है। (सूर्यः) सूर्य (भेषजं कृणोतु) तुम्हारी चिकित्सा करे, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (वः अपोच्छतु) तुम्हें दूर भगा दे॥ (एका) तुममें से एक (एनी) कुछ-कुछ लाल श्वते रंगवाली है, (एका) एक (श्येनी) सफेद है, (एका) एक (कृष्णा) काली है, (द्वे) दो (रोहिणी) लाल हैं। (सर्वासाम्) सबका (नाम अग्रभम्) नाम लेता हूँ। तुम (अवीरघ्नीः) इस मेरे वीर को न मारनेवाली होती हुई (अपेतन) शरीर से दूर हो जाओ। (असूतिका) जिससे पस का स्राव शुरू नहीं हुआ है ऐसी, (रामायणी) नाडी पर उभरी हुई (अपचित्) गण्डमाला-ग्रंथि (प्र पतिष्यति) गिर जाएगी। (ग्लौः) अप्रसन्नता, पीड़ा (प्र-पतिष्यति) दूर हो जाएगी। (सः गलुन्तः) वह घाव (नशिष्यति) नष्ट हो जाएगा॥ हे गण्ड-माला के रोगी, तू (मनसा) मनोयोग से (स्वाम् आहुतिम्) अपनी हवि को (जुषाणः) सेवन करता हुआ (वीहि) गति कर, (यद् इदम्) जिस हवि को मैं (मनसा) मनोयोग से (जुहोमि) होम कर रहा हूँ॥

१४. (व्रतपते) हे व्रतपति यज्ञाग्नि, (व्रतेन समक्तः) रोगनिवारणरूप व्रत से युक्त (त्वम्) तू (विश्वाहा) सदा (सुमनाः) मानों शुभ मनवाला होता हुआ (इह) यहाँ रोगनिवारण-स्थल में (दीदिहि) प्रज्ज्वलित हो। (जातवेदः) हे प्रकाशक यज्ञाग्नि (समिद्धम्) प्रज्ज्वलित हुए (तं त्वा) उस तुझ यज्ञाग्नि के (प्रजावन्तः) सन्तानोंसहित (वयं सर्वे) हम सब (उप सदेम) समीप बैठा करें।

१५. (यः) जो क्षयरोग (कीकसाः) पसलियों को (प्रशृणाति) तोड़ डालता है, (तलीद्यम् अवतिष्ठति) फेफड़ों में बैठ जाता है, (यःकःच) और जो (ककुदि श्रितः) पृष्ठवंश में स्थित हो जाता है (तं सर्वम्) उस सब (जायान्यम्) अति स्त्री-प्रसंग से होनेवाले क्षयरोग को,हे यज्ञचिकित्सक वैद्य, तू (निर्हाः) शरीर से बाहर निकाल दे॥ (पक्षी जायान्यः) पक्षी के समान उड़नेवाला अर्थात् छूत द्वारा फैलनेवाला अतिस्त्री-प्रसंगजन्य क्षयरोग (पतति) उड़कर एक से दूसरे के पास पहुँचता है, (सः) वह (पूरुषम् आविशति) दूसरे पुरुष में प्रविष्ट हो जाता है। (तत्) वह हवि (अक्षितस्य) जो शरीर में बसा नहीं है, ऐसे, तथा (सुक्षितस्य) जो पूरी तरह बस गया है ऐसे (उभयोः) दोनों प्रकार के क्षयरोगों की (भेषजम्) दवा है॥ (जायान्य) हे अतिस्त्रीप्रसंगजन्य क्षयरोग, हम (ते जानम्) तेरे उत्पादक कारण को (विद्म) जानते हैं, (यतः) जिससे (जायान्य) हे क्षयरोग, तू (जायसे) उत्पन्न होता है। (कथं ह तत्र) कैसे वहाँ (त्वं हनः) तू रोगी को मार सकता है (यस्य गृहे) जिसके घर में,हम (हविः कृण्मः) हवन करते हैं।

१६. हे रोगी, मैं (त्वा) तुझे (जीवनाय कम्) सूखपूर्वक जीने के लिए (हविषा) हवि द्वारा (अज्ञातयक्ष्मात्) अज्ञात रोग से, (उत् राजयक्ष्मात्) और राजयक्ष्मा रोग से भी (मुञ्चामि) छुड़ा दूँगा। (यदि वा) अथवा यदि (एनम्) इस रोगी को (एतत् ग्राहिः जग्राह) इस वात-व्याधि ने जकड़ लिया है, तो भी (इन्द्राग्नी)

हे वायु और अग्नि, तुम (एनम्) इसे (तस्याः) उससे (प्रमुमुक्तम्) छुड़ा दो।

१७. (यदि क्षितायुः) यदि रोगी क्षय रोग से क्षीण आयुवाला हो गया है, (यदि वा परेतः) अथवा यदि जीवन से निराश हो चुका है, (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) अथवा यदि बिल्कुल मौत के पास ही पहुँच चुका है, तो भी मैं (तम्) उसे (निर्ऋतेः उपस्थात्) मृत्यु की गोद से (आहरामि) लौटा लाता हूँ। मैंने (एनम्) इसे (शतशारदाय) सौ वर्ष जीने के लिए (अस्पार्षम्) हवि द्वारा सबल कर दिया है।

१८. (सहस्राक्षेण) इन्द्रियों को हजार गुणा शक्ति देनेवाली, (शतशारदेन) सौ शरद् ऋतु पार करानेवाली, (शतायुषा) सौ वर्ष की आयु देनेवाली (हविषा) हवि से, मैं (एनम्) इस क्षय रोग के रोगी को (आहार्षम्) मृत्यु के पास से लौटा लाया हूँ, (यथा) जिससे (इमम्) इसे (इन्द्रः) हवि की सुगन्ध से युक्त वायु, आगे भी (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (विश्वस्य दुरितस्य) सब कष्टों से (पारं नयाति) पार करता रहे।

१९. हे हवि द्वारा क्षयरोग से छूटे हुए मनुष्य, तू (वर्धमानः) दिनोंदिन बढ़ता हुआ (शतं शरदः) सौ शरद् ऋतुओं तक, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक (उ) और (शतं वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (जीव) जीवित रह। (इन्द्राग्नी) वायु एवं यज्ञाग्नि, (सविता) सूर्य, और (बृहस्पतिः) बादल ने (इमम्) इसे (शतायुषा हविषा) सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि से (पुनः) पुनः (शतं दुः) सौ वर्ष की आयु प्राप्त करा दी है।

२०. हे नारी, (ते गर्भम्) तेरे गर्भ में (यः अमीवा) जो रोगकृमि, तथा (योनिम्) योनि में (यः दुर्णामा) जो बवासीर के मस्से (आ शये) आ गये हैं, उन्हें (ब्रह्मणा संविदानः) वेदमन्त्रों से समन्वित (रक्षोहा अग्निः) रोगहन्ता यज्ञाग्नि (इतः बाधताम्) यहाँ से दूर कर देवे।

२१. हे नारी, (यः ते गर्भम्) जो तेरे गर्भ में (अमीवा) रोगकृमि, तथा (योनिम्) योनि में (दुर्णामा) बवासीर का मस्सा (आ शये) उत्पन्न हो गया है (तं क्रव्यादम्) उस मांसभक्षी को (ब्रह्मणा सह) वेदमन्त्रों के साथ प्रयुक्त यज्ञाग्नि (निर् अनीनशत्) निर्मूल कर देवे।

२२. हे नारी, (यः) जो रोगकृमि (ते) तेरे (पतयन्तं हन्ति) गर्भाशय में जाते हुए वीर्य को नष्ट करता है, (यः) जो रोगकृमि (निषत्स्नुं हन्ति) स्थिर हुए गर्भ की हत्या करता है, (यः) जो रोगकृमि (सरीसृपम् हन्ति) चंचल गर्भ की हत्या करता है, (यः) जो रोगकृमि (ते जातम्) तेरे उत्पन्न हुए शिशु की (जिघांसति) हत्या करना चाहता है, (तम्) उसे (इतः) यहाँ से (नाशयामसि) हवि द्वारा नष्ट कर देते हैं।

२३. (पूषन्) हे पोषक यज्ञाग्नि, (ते अस्मिन् सूतौ) तेरी इस प्रसूति के समय (अर्यमा) रोग-शत्रुओं का नियमनकर्त्ता, (वेधाः) यज्ञ-विधाता (होता) होमनिष्पादक ऋत्विज् (वषट् कृणोतु) वषट् करे। (नारी) नारी (सिस्रताम्) बाहर की ओर किनछे, (ऋतप्रजाता) अंगों को (वि जिहताम्) ढीला छोड़ दे।

२४. (यथा) जैसे (वृत्रः) बाँध (विश्वधा यतीः) चारों ओर जानेवाली (इमाः आपः) इन जलधाराओं को (तस्तम्भ) रोक देता है, (एव) इसी प्रकार

(वैश्वानरेण अग्निना) सर्वजनहितकारी यज्ञाग्नि से मैं (ते यक्ष्मम्) तेरे रोग-प्रसार को (वारये) रोक देता हूँ।

२५. हे रोगी (ते प्राणम् आ सुवामसि) हम तेरे अन्दर प्राण को प्रेरित करते है, (ते यक्ष्मम्) तेरे रोग को (परा सुवामि) दूर करता हूँ। (अयम् वरेण्यः अग्निः) यह वरणीय यज्ञाग्नि (नः) हम सबको (विश्वतः) सब ओर से (आयुःदधत्) दीर्घायुष्य प्रदान करे।

२६. हे मनुष्य, तू (अध्वरे) यज्ञ में (कविम्) ऊपर गति करनेवाले, (सत्यधर्माणम्) सत्य धर्मोंवाले, (देवम्) देदीप्यमान, (अमीवचातनम्) रोग-विनाशक (अग्निम्) यज्ञाग्नि की (उपस्तुहि) स्तुति कर, वेदमन्त्रों द्वारा इसका गुण-वर्णन कर।

२७. (समनाः) मन के व्यापार-सहित, (सदेवा) इन्द्रिय-देवों के व्यापार-सहित, (हविषा) हवि के साथ अग्नि में डाली गयी (घृतस्य जूतिः) घृत की वेगवती आहुति, हमें (संवत्सरम्) वर्ष-भर (वर्धयन्ती) बढ़ाती रहे, जिससे (नः) हमारा (श्रोत्रम्) कान, (चक्षुः) नेत्र, (प्राणः) प्राण (अच्छिन्नः अस्तु) अच्छिन्न हो, (वयम्) हम (आयुषः) आयु से, और (वर्चसः) तेज से (अच्छिन्नाः) छिन्न न हों।

२८. (अग्ने) हे यज्ञाग्नि, (यः) जो मनुष्य (घ) निश्चय ही (जातवेदसे ते) तुझ जातवेदाः के लिए (समिधा) सुगन्धित वृक्षों की समिधाएँ (ददाशति) देता है, (सः) वह (सुवीर्यं धत्ते) सुवीर्य प्राप्त करता है, (सः) वह (पुष्यति) परिपुष्ट होता है।

२९. (इमौ द्वौ वातौ वातः) ये दो वायुएँ चल रही हैं, एक (आ सिन्धोः) बाहर से फेफड़ों के रक्तसमुद्र तक, और दूसरी (आ परावतः) फेफड़ों के समुद्र से बाहर के वायुमण्डल तक। (अन्यः) इनमें से एक (ते) तेरे लिए (दक्षम्) बल को (आ वातु) अपने साथ बहाकर लाये, और (अन्यः) दूसरी (यद् रपः) जो मल है उसे (परा वातु) बाहर निकाल देवे।

३०. (वात) हे बाहर से अन्दर आने वाली वायु, तू (भेषजम् आ वाहि) औषध को बहाकर ला, (वात) हे अन्दर से बाहर जानेवाली वायु,तू (यत् रपः) जो मल है उसे (वि वाहि) बाहर निकाल। (त्वं हि) तू निश्चय ही (विश्वभेषजः) सब रोगों की दवा है, और (देवानां दूतः) देवों का दूत होकर (ईयसे) विचरता है।

३१. (वातः) बाहर से अन्दर आनेवाली वायु (भेषजम् आ वातु) अपने साथ औषध को लाये, जो (नःहृदे) हमारे हृदय के लिए (शम्भु) शान्तिकर तथा (मयोभु) आरोग्यकर हो। (नः) हमारी (आयुः) आयु को (प्रतारिषत्) बढ़ाये ॥ (वात) हे वायु, तू (नः पिता असि) हमारा पिता है, (उत भ्राता) और भाई है, (उत नः सखा) और हमारा सखा है, (सः) वह तू (नः) हमें (जीवातवे) दीर्घ जीवन के लिए (कृधि) समर्थ बना ॥ (वात) हे वायु (यत्) जो (ते गृहे) तेरे घर में (अदः) यह (अमृतस्य निधिः) अमृत का खजाना (हितः) रखा हुआ है, (ततः) उसमें से कुछ अंश (नः देहि) हमें भी प्रदान कर (जीवसे) जिससे हम दीर्घजीवी होवें ॥ ☐☐

वैदिक योगसिद्धियाँ

पातंजल योगदर्शन के विभूतिपाद में योग की कुछ विभूतियों या सिद्धियों का वर्णन किया गया है। तदनुसार योगी भूत और भविष्य की बातों को जान सकता है, सब प्राणियों की बोली से उनके आशय को समझ सकता है, पूर्व जन्म का ज्ञान कर सकता है, दूसरे के चित्त का हाल जान सकता है। वह इच्छानुसार अन्तर्धान हो सकता है, मृत्यु कब होगी यह जान सकता है, हाथी आदि का बल प्राप्त कर सकता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को देख सकता है, ढकी-छिपी या भूमि के अन्दर गड़ी वस्तु का प्रत्यक्ष कर सकता है, दूर से दूर स्थित पदार्थ का अवलोकन कर सकता है, बिना चीर-फाड़ किये शरीर की आन्तरिक स्थिति को जान सकता है, भूख प्यास को जीत सकता है, अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर सकता है, पानी-कीचड़-काँटो पर बेखटके चल सकता है, अणिमा-लघिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर इच्छानुसार छोटा, बडा, हल्का या भारी हो सकता है। वह चन्द्रमा आदि दूरस्थ पदार्थो तक पहुँच सकता है, इच्छाओ को पूर्ण कर सकता है, सबको वश में कर सकता है, दुष्कर कार्यों में भी समर्थ हो सकता है, अद्भुत रूप, लावण्य और अपरिमित बल पा सकता है, देह को वज्र के समान कठोर कर सकता है। पृथिवी आदि के धर्मों की बाधा को दूर कर वह चाहे तो पानी में घुसकर भी गीला होने से तथा अग्नि में घुसकर भी जलने से बच सकता है।

ये तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक सिद्धियाँ किस रूप में कहाँ तक संभव या असंभव हैं, इस विषय में प्रामाणिकता के साथ कहने का अधिकारी कोई योगी ही हो सकता है। कई विद्वानों का मन्तव्य है कि पातंजल योगदर्शन की सिद्धियों से सम्बद्ध सूत्रों का वह अभिप्राय है ही नहीं, जैसा समझा जाता है, या जैसा व्यासभाष्य और भोजवृत्ति में बताया गया है। वे इन सूत्रों की ऐसी व्याख्या करते हैं, जिससे इन सिद्धियों में कोई अनोखापन नहीं रहता। इन्हें वे सर्वसामान्य की समझ में आनेवाला साधारण-सा रूप देने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं जो इन सिद्धियों में पूर्णतः विश्वास करते हैं। किसी पक्ष में कोई निर्णय देने का अधिकारी अपने आप को न समझते हुए भी हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि सर्वसाधारण लोग किसी बात को नहीं कर सकते या उनकी समझ में वह बात नहीं आती, केवल इसी हेतु से उस बात को असंभव कह देना उचित नहीं है। कुछ सिद्धियों का प्रदर्शन करने वाले लोग आज भी विद्यमान हैं। आज भी ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने प्राणों को रोककर महीना-दो-महीने जमीन में गड़े रह सकते हैं। उनका कथन हैं कि अभ्यास से यह अवधि कई वर्षो तक बढ़ाई जा सकती है। आज भी ऐसे अभ्यासी हैं जो कुछ समय तक हृदय की गति को रोककर डाक्टरों को चकित कर देते हैं। ऐसे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भी हैं जो एक समय में बीसियों लोगों के प्रश्नों का एक-साथ

हल करने में अपने मन को लगा सकते हैं। एक व्यक्ति को अरबों की संख्या का गुणन का प्रश्न मौखिक हल करने को दिया गया, उसके साथ ही अनेक लोगों ने अपने-अपने पृथक् सैद्धान्तिक प्रश्न भी उत्तर देने के लिए उसे बता दिए। वह एक-साथ सबका हल सोचता रहा। अन्त में उसी क्रम से, जिस क्रम से उससे प्रश्न पूछे गए थे, उसने सब प्रश्नों का उत्तर ठीक-ठीक दे दिया और गुणन के प्रश्न का भी ठीक-ठीक हल बता दिया। यदि इस प्रकार के प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति आज न मिलते तो इन सब बातों को भी असंभव ही कहा जाता।

कथाओं और किंवदन्तियों में तो योगियों की आश्चर्यजनक सिद्धियों की चर्चा प्राय: सुनने को आती ही रहती हैं। महाभारत के उस योगी की कथा पाठकों को स्मरण ही होगी जिसने वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी को सिर पर बींट कर देने के अपराध में अपने कुपित दृष्टिनिक्षेप-मात्र से नीचे गिरा दिया था, और एक पतिव्रता योगिनी को यह घटना घर बैठे ज्ञात हो गई थी, तथा योगी जब उसके घर भिक्षा माँगने आया और उस साध्वी के देर से भिक्षा लेकर निकलने पर लालपीला होने लगा, तब "मुझे वह पक्षी मत समझना" यह कहकर उसने योगी को लज्जित कर दिया था। ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में भी योगसिद्धि की कई किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। उनके वेदभाष्य आदि ग्रन्थों में आये कतिपय वचनों से भी ज्ञात होता हैं कि वे योगसिद्धियों में विश्वास रखते थे, यद्यपि उनके प्रदर्शन द्वारा लोकवंचना करने को वे उचित नहीं समझते थे।

योगवेत्ताओं का कथन है कि योगाभ्यासियों के मार्ग में सिद्धियाँ विघ्नरूप होती हैं। जो उनके लुभावने रूप पर ललचाकर साधना को छोड़ देते हैं और सिद्धियों को ही अन्तिम प्राप्तव्य वस्तु समझकर उनका प्रदर्शन करने लगते हैं, वे योगभ्रष्ट कहलाते हैं। सच्चे योगी तो इन सिद्धियों को लक्ष्य-प्राप्ति के बीच का पड़ाव मात्र समझते हैं और इनके प्रदर्शन से बचते हैं। सम्भवत: यही कारण है कि अनेक विख्यात योगियों के विषय में संसार को यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि इन कथित सिद्धियों में से कोई सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हैं या नहीं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि योगी की ऊँचाई-नीचाई की जाँच सिद्धियों के पैमाने से करना ठीक नहीं है। यह भी संभव हैं कि कोई अत्यंत महान् योगी हो, परन्तु वह इन सिद्धियों में से कोई भी करके न दिखा सकता हो, दूसरी ओर एक साधारण योगी जिसने सिद्धियों पर ही अपने सारे अभ्यास को केन्द्रित कर लिया है कई सिद्धियों का प्रदर्शन कर सकता हो। सिद्धि वही योगी करके दिखा सकेगा जिसने उसके लिए अभ्यास किया है। जो इन वस्तुओं को काम की वस्तु न समझकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता है, वह अनायास इन्हें करके दिखा नहीं सकता। हाँ, यह ठीक है कि यदि वह इनका अभ्यास करने लगे तो बहुत शीघ्र ही इन्हें प्राप्त कर सकता है और संसार को भी दिखा सकता है तथा लोक-कल्याण के लिए भी इनका उपयोग कर सकता है। योगदर्शन में इन सिद्धियों को समाधि में विघ्नरूप ही कहा है, भले ही ये सांसारिक दृष्टिकोण से सिद्धियाँ कहाती हैं—**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय:** (३.३७)।

अस्तु अब हम ऋग्वेद का एक सूक्त विद्वान् पाठकों के समक्ष विचारार्थ

प्रस्तुत करना चाहते है, जिसमें कुछ सिद्धियों का वर्णन प्रतीत होता है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का १३६ वाँ सूक्त है, जिसमें सात मन्त्र हैं। इनके ऋषि क्रमशः जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिक्रत, एतश तथा ऋष्यशृङ्ग हैं। इन ऋषियों ने इन मन्त्रों के अर्थो का साक्षात्कार कर योगाभ्यास द्वारा इनमें वर्णित सिद्धियों को प्राप्त करके मन्त्रार्थो का जनता में प्रचार किया होगा, अतएव ये इन मन्त्रो के ऋषि कहलाते हैं। सूक्त का ऋषि 'केशी' या 'केशिनः' है। प्रकृति में केशी सूर्य का नाम है। रश्मिरूप केशोंवाला होने से तथा प्रकाशमान होने से सूर्य को केशी कहते हैं—**केशी, केशा रश्मयः, तैः तद्वान् भवति, काशनाद् वा** (निरुक्त १२.२५)। अग्नि और वायु को भी केशी कहते हैं, क्योकि वायु धूलरूप या जलकणरूप केशों वाला तथा अग्नि धुएँ रूप केशोंवाला है—**अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते, धूमेन अग्निः, रजसा च मध्यमः** (निरुक्त १२.२६)। बहुवचनान्त केशिनः का अर्थ सूर्य की किरणें भी होता है। ये सब तो प्राकृतिक अर्थ हैं। मनुष्यों में योगी-मुनि केशी कहलाएगा। इसका प्रमाण यह है कि इस सूक्त में केशी शब्द तो केवल तीन ही मन्त्रों में है, शेष चार मन्त्रों में 'मुनि' या 'मुनयः' प्रयुक्त हुआ है। योगी-मुनि के पक्ष में केशी का शब्दार्थ होता है 'केशोंवाला या जटाजूटधारी, अथवा अध्यात्म प्रकाश की किरणों से प्रकाशमान'। यहाँ हमें इस मुनि अर्थ से ही प्रयोजन हैं, अतः उसी पक्ष मे मन्त्रों की व्याख्या करेंगें और यह भी देखेंगे कि इन मन्त्रों में किस-किस सिद्धि का संकेत मिलता है।

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ १॥

अर्थ—(केशी अग्नि बिभर्ति) योगी मुनि अग्नि को धारण कर सकता है। (केशी विषं बिभर्ति) योगी मुनि विष को धारण कर सकता है। (केशी रोदसी बिभर्ति) योगी मुनि आकाश-पृथिवी को अर्थात् आत्मलोक तथा देहलोक को धारण कर सकता है। (केशी दृशे विश्वं स्वः बिभर्ति) योगी मुनि देखने, अनुभव करने के लिए समस्त दिव्य प्रकाश को प्राप्त कर सकता है। (इदं ज्योतिः केशी उच्यते) यह आत्मज्योति केशी कहलाती है।

इस मन्त्र से निम्न बातें सूचित होती हैं—

१. योगी को ऐसी सिद्धि प्राप्त हो सकती है कि वह हाथ से आग को पकड़ ले या आग में प्रविष्ट हो जाये, तो भी जले नहीं। योगदर्शन से यह सिद्धि '**तद्-धर्मानभिघातश्च**॥ ३.४५' सूत्र द्वारा प्रकट की गयी है, जिसके व्यासभाष्य में कहा गया है—'**नाग्निरुष्णो दहति**' अर्थात् उष्णता धर्मवाली अग्नि योगी को जलाती नहीं। शरीर पर अकरकरा आदि औषधों का लेप कर लेने पर तो साधारण मनुष्य भी अग्नि में नहीं जलता, जैसा कि जादूगर लोग प्रायः खेल दिखाया करते हैं, परन्तु योगी बिना किसी औषध का लेप किये ही न जलने की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

२. योगी विषपान कर सकता है। उसके शरीर पर विष कोई बुरा प्रभाव नहीं करेंगा, वह पच जायेगा। मीरा का विषपान प्रसिद्ध है—'जहर का प्याला

राणा जी भेज्या, पीबत मीरा हाँसी रे'। ऋषि दयानन्द को अनेक बार विष दिया गया, जिसे वे योगबल से निष्प्रभाव करते रहे।

३. तीसरी बात मन्त्र में यह कही है कि योगी आकाश और पृथिवी को धारण कर सकता है। आकाश से आत्मलोक तथा पृथिवी से देहलोक अभिप्रेत हैं—**अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्**' अथर्व० ५.९.७। योगी अपने आत्मलोक एवं देहलोक पर विजय पा सकता है तथा दूसरों के भी आत्मलोक तथा देहलोक को प्रभावित कर सकता है।

४. चौथी बात यह कही गई है कि योगी मनुष्य पदार्थों को देखने के लिए दिव्य प्रकाश या दिव्य ग्रहण-सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन में इस सिद्धि का वर्णन '**ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते**, ३.३६' इस सूत्र द्वारा किया गया है। यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर योगी सूक्ष्म,व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत आदि को जान सकता है, सुन सकता है, त्वचा से अनुभव कर सकता है, देख सकता है, चख सकता है, सूँघ सकता है।

इन चारों सिद्धियों का वर्णन करने के अनन्तर अन्त में मन्त्र में यह बताया गया है कि यह केशी है कौन। योगी के शरीर के अन्दर विद्यमान आत्मज्योति ही 'केशी' है, क्योंकि वस्तुतः सब सिद्धियाँ उस आत्मा को ही प्राप्त होती हैं।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत॥ २॥

अर्थ—(वातरशनाः) जिन्होंने वायु को रस्सी की तरह पकड़ लिया है ऐसे (मुनयः) योगी मुनिजन (पिशङ्गा मला वसते) पिंगल वर्ण के मटमैले केशों को, जटाजूटों को, धारण करते हैं। (यद्) जब (देवासः अविक्षत) उनमें दिव्य शक्तियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं तब वे (वातस्य ध्राजिम् अनुयन्ति) वायु की गति के साथ-साथ उड़ने लगते हैं।

इस मन्त्र में योगी के वायु के साथ-साथ आकाश में उड़ने की सिद्धि का संकेत हैं। जैसे नट लोग रस्सियों पर दौड़ते और नृत्य करते हैं, वैसे योगी वायु-रूपी रस्सी के सहारे आकाश में उड़ सकता है। योगदर्शन में आकाशगमन की यह सिद्धि निम्न सूत्र में वर्णित है—**कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् लघुतूल-समापत्तेश्चाकाशगमनम्** (३.४२) अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और हल्की रुई से तदाकारता कर लेने से योगी आकाश में गमन कर सकता है। इस सूत्र का व्यासभाष्य इस प्रकार है—

यत्र कायस्तत्राकाशं, तस्यावकाशदानात्। कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिः। तत्र कृतसंयमो जित्वा तत् सम्बन्धं लघुषु तूलादिषु आपरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्भवति। लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति। ततस्तु ऊर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति। ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति।

आशय यह है कि 'जहाँ शरीर है वहाँ आकाश भी अवश्य है, क्योंकि आकाश शरीर को स्थित होने के लिए खाली स्थान देता है। आकाश और शरीर

का जो यह सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और हल्की रुई आदि में परमाणुपर्यन्त संयम करने से योगी रुई के समान हल्का हो जाता है। हल्का हो जाने से वह पैरो से पानी के उपर चल सकता है। फिर मकड़ी के जाले पर विहार कर सकता है। फिर सूर्य की किरणों के सहारे चढ़-उतर सकता है। तदुपरान्त उसमें यह शक्ति आ जाती है कि इच्छानुसार निर्विघ्न आकाश में विहार कर सके।'

जैसे यहाँ मकड़ी के जाले तथा सूर्य की किरणों के सहारे आकाश-गति का वर्णन है, वैसे मन्त्र में वायु के सहारे आकाश में उड़ना कहा गया है।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥ ३॥

अर्थ—(मौनेयेन उन्मदिताः वयम्) मुनित्व से निरतिशय आनन्द को प्राप्त हुए हम (वातान् आ तस्थिम) वायु पर आरूढ़ हो गए हैं। (मर्तासः) हे मनुष्यो, (यूयम्) तुम (अस्माकं शरीरा इत्) हमारे शरीरों को ही (अभिपश्यथ) देखते हो।

योगीजन कह रहे हैं कि हमने योगाभ्यास द्वारा वायु पर आरूढ़ होने की सिद्धि प्राप्त कर ली है, परन्तु तुम तो केवल हमारे शरीरों को ही देख सकते हो। एवं इस मन्त्र में भी गत मन्त्र के समान वायु के साथ-साथ आकाश में उड़ने का वर्णन है।

अन्तरिक्षेण पतति विपूवा रूपावचाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥ ४॥

अर्थ—(सौकृत्याय हितः) शुभ कर्मों के लिए नियुक्त (देवस्य देवस्य सखा) प्रत्येक देवजन के साथ मित्रभाव रखनेवाला (मुनिः) मुनि (विश्वा रूपा अवचाकशत्) सब रूपों को देखता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाश-मार्ग से उड़ता है।

इस मन्त्र में फिर योगी के आकाशविहार का वर्णन है। वह सब मनुष्यों के साथ मैत्रीभाव रखता हुआ उनके कल्याणर्थ आकाश में घूमता है और आकाश से भूमि की सब अवस्थाओं को देखता जाता है। जहाँ कहीं किसी को कष्ट में पड़ा हुआ देखता है, उसकी सहायता करता है।

वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥ ५॥

अर्थ—यह मुनि (वातस्य अश्वः) वायु का भोक्ता है, (वायोः सखा) वायु का साथी है। (अथो) और (देवेषितः मुनिः) परमेश्वर से प्रेरणा प्राप्त यह मुनि (उभौ समुद्रौ आक्षेति) दोनों समुद्रों में निवास कर सकता है (यश्च पूर्वः उत अपरः) जो कि पूर्व और अपर अर्थात् निचला और उपरला समुद्र है।

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि योगी बहुत दिनों तक निराहार केवल वायु के सहारे जीवित रह सकता है। साथ ही उसके विषय में यह भी कहा जा सकता

है कि वह पूर्व और अपर दोनों समुद्रों में निवास कर सकता है। पूर्व समुद्र से निचला पार्थिव समुद्र तथा उत्तर समुद्र से उपरिवर्ती मेघ अभिप्रेत हैं। योगी जितनी देर चाहे समुद्र के पानी में डुबकी लगाए रह सकता है, तथा जब चाहे बादलों की सैर कर सकता है।

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्।

केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥ ६ ॥

अर्थ—(अप्सरसाम्) विद्युतों के, (गन्धर्वाणाम्) सूर्यकिरणों को धारण करने वाले ग्रहोपग्रहों के, तथा (मृगाणाम्) पशुओं के (चरणे) विचरणस्थान में (चरन्) घूमता हुआ (केशी) मुनि (केतस्य विद्वान्) ज्ञान का पण्डित, (सखा) सबका मित्र, (स्वादुः) मधुर-स्वभाव तथा (मदिन्तमः) अतिशय आनन्ददायक होता है।

यहाँ योगी मुनि की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि वह अप्सराओं, गन्धर्वों तथा मृगों के विचरणस्थान में विहार कर सकता है। अप्सरा का अर्थ विद्युत् है—अप्सु सरन्तीति अप्सरसः। गन्धर्व का अर्थ है—सूर्य-किरणों को धारण करनेवाले ग्रहोपग्रह—गाः सूर्यरश्मीन् धरन्तीति गन्धर्वाः। मृग पशुवाची प्रसिद्ध ही है। एवं योगी विद्युतों के स्थान बादल में, ग्रहोपग्रहों की भ्रमण-कक्षा में तथा पशुओं के विचरण-स्थान बीहड़ वनों, गिरि-कन्दराओं आदि में विहार कर सकता है। वह योगी ज्ञान-सम्पन्न, सबका मित्र, सबसे मधुर व्यवहार करनेवाला तथा आनन्ददायक होता है।

वायुरस्मा उपामन्थत् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा।

केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणापिबत् सह ॥ ७ ॥

अर्थ—(यत्) जब (केशी) योगी मुनि (रुद्रेण सह) रुद्र के साथ (पात्रेण) पात्र द्वारा (विषस्य अपिबत्) विष का पान करता है, तब (कुनन्नमा पिनष्टि स्म) कुनन्नमा उस विष को पीसती है, (वायुःअस्मै उपामन्थत्) वायु इस योगी के लिए उस विष को मथती है।

यहाँ पुनः योगी के विषपान का वर्णन है, जिसका संकेत प्रथम मन्त्र में ही हो चुका है। योगी पात्र में भरकर विष पी जाता है। रुद्र उसका साथ देते हैं। रुद्र प्राणों का नाम है—**प्राणा वाव रुद्राः** (छान्दो०उप०१.१६.३) कुनन्नमा अर्थात् दन्तपंक्ति उस विष को चबा-चबाकर पीसती है—**कुं पार्थिवमन्नं पिष्ट्वा भृशं नमयति मृदूकरोतीति कुनन्नमा दन्तपंक्तिः**। जिह्वासहचरित मुखवर्ती वायु उसे मथता है। इस प्रकार मुख में चबाया तथा मथा जाकर वह विष योगी के उदर में पहुँचता है और वहाँ योगी उसे अपने योगबल से पचा लेता है।

इस मन्त्र के साथ सूक्त समाप्त होता है। संक्षेप में इस सूक्त में वर्णित योगसिद्धियाँ निम्न हैं—अग्नि को हाथों में पकड़ लेना, विष पी लेना, आत्मलोक और देहलोक को धारण करना, सूक्ष्म-व्यवहित-दूरस्थ-भूतकालिक-भविष्यकालिक आदि वस्तुओं को जान-लेना, वायु के साथ-साथ आकाश में

उड़ना, पानी के अन्दर देर तक रह सकना, बादल-ग्रहोपग्रह आदि में विचरना। उक्त मन्त्रों के सूर्यादि-परक अर्थ भी बहुत सुन्दर हैं, किन्तु प्रकृत में मुनि-परक या सिद्धिपरक अर्थों से ही प्रयोजन होने के कारण उन्हीं तक सीमित रहा गया है। वेदों के अन्य कई सूक्त या मन्त्र भी सिद्धिपरक व्याख्यात हो सकते हैं। आशा है विद्वज्जन इस दिशा में विचार करेंगे।

स्वामी दयानन्द के विचार

योग के चमत्कारों, योग की विभूतियों अथवा योग की सिद्धियों के विषय में परम योगी महर्षि स्वामी दयानन्द के क्या विचार थे, इस सम्बन्ध में आर्य विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। यहाँ वस्तुस्थिति स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किये जा रहे है।

बाबू माधोप्रसाद को लिखे एक पत्र में स्वामी जी लिखते हैं—"देखो, पूर्वकाल में हमारे ऋषि-मुनियों को कैसी पदार्थविद्या आती थी कि जिससे आत्मा के बल से सबके अन्त:करण के भेद को शीघ्र ही जान लिया करते थे। जैसे बाहर की पदार्थ-विद्या से सिद्ध किये हुए रेल, तारादि विद्या को मूर्ख लोग जादू समझते हैं, वैसे ही भीतर के पदार्थों के योग से योगी लोग अनेक अद्‌भुत कर्म कर सकते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग जितनी विद्या बाहर के पदार्थों से सिद्ध करते हैं, उससे कई गुणी अधिक भीतर के पदार्थों से सिद्ध कर सकते हैं।"

बम्बई में दिये गये प्रवचन में स्वामी जी ने कहा था—"भीतर के पदार्थ बहुत महान् और गुह्य हैं और इस स्थूल जगत् में जो गुण और चमत्कार देखने में आते है उससे करोड़ों गुणे गुण और चमत्कार भीतर विद्यमान हैं। बाहर के चमत्कार इन्द्रियों से ग्रहण किए जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य स्थिर होकर शोध करे तो उससे बहुत अधिक चमत्कार भीतर के उसे देखने में आयेंगे।"

यजुर्वेद १६.६७ के भाष्य में स्वामीजी ने आकाश-गमन की सिद्धि का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

पदार्थ—हे मनुष्यो, जैसे किए हुए योग के अंगों के अनुष्ठान एवं संयम से सिद्ध अर्थात् धारण, ध्यान और समाधि में परिपूर्ण (अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (अन्तरिक्षम्) आकाश को (उद् आ अरुहम्) उठ जाउँ, वा (अन्तरिक्षात्) आकाश से (दिवम्) प्रकाशमान सूर्यलोक को (आ अरुहम्) चढ़ जाऊँ, वा (नाकस्य) सुख करानेहारे (दिवः) प्रकाशमान उस सूर्य लोक के (पृष्ठात्) समीप से (स्वः) अत्यन्त सुख और (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाश को (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त होउँ, वैसा तुम भी आचरण करो।

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं, उसके पीछे कहीं से न रुकनेवाली

गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं।

यजुर्वेद के इसी अध्याय के ७१ वें मन्त्र के भाष्य में योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनकी नेत्रादि इन्द्रियों से देखने आदि व्यापारों को कर सकता है, ऐसा वर्णन है। इस मन्त्र के भाष्य के भावार्थ का अंश इस प्रकार है—

"योगी पुरुष तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम) के बल को प्राप्त हो अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर, नेत्र आदि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है।"

यजुर्वेद १९.६१ के भाष्य के भावार्थ में लिखा है कि—"निवृत्तिमार्ग में परम योगी योगबल से सब सिद्धियों को प्राप्त होता है।" यजु० १९.७४ के भाष्य से स्वामीजी का यह अभिप्राय भी विदित होता है कि मोक्षप्राप्ति के लिए योगी को योग-सिद्धियाँ पाकर भी उनके अभिमान को छोड़ देना चाहिए। उक्त मन्त्र के भाष्य के शब्द इस प्रकार है—"जो युक्ताहारविहार करने हारे वेदों को पढ़, योगाभ्यास कर, अविद्यादि क्लेशों को छुड़ा योगसिद्धियों को प्राप्त हो और उनके अभिमान को भी छोड़के कैवल्य को प्राप्त होते हैं वे ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं।"

अणिमा आदि सिद्धियों को स्वामीजी मानस मानते हैं, ऐसा पूनाप्रवचन के प्रवचन-संख्या ११ से ज्ञात होता है। उन्होंने अपने भाषण में कहा था—"योगी विभूति को सिद्ध करता है ऐसा योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा, लघिमा, गरिमा इत्यादि विभूतियाँ हैं। ये धर्म योगी के चित्त में पैदा होते हैं। सांसारिक लोग 'ये योगी के शरीर में पैदा होते है' ऐसा मानते हैं। वह बराबर नहीं है। अणिमा अर्थात् अतिसूक्ष्म पदार्थों से भी मन सूक्ष्म होकर पदार्थों का परिमाण करता है। इसी प्रकार अति स्थूल पदार्थों से भी बड़ा होकर उसका ज्ञान मन से होता है, उसे गरिमा कहते है। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनका सामर्थ्य नहीं है।"

ऊपर लिखित योगसिद्धि विषयक स्वामी जी के विचारों की तुलना पाठकों को श्री स्वामीजी के साथ हुई कर्नल आल्काट तथा मेडम ब्लैवेट्स्की की वार्ता में वर्णित स्वामीजी के योगसम्बन्धी विचारों के साथ भी करनी चाहिए। उस वार्ता से ज्ञात होता है कि स्वामीजी मानते थे कि पतंजलि ने जिन योग-विभूतियों का वर्णन किया है वे सब योगी द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं, योगी दूर-स्थित अपने योगी भ्राताओं से विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है, दूसरे के भावों को जान सकता है, बिना ही बाह्य साधनों के रेलवे के इंजन से भी अधिक तीव्र गति के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति कर सकता है, पानी पर चल सकता हैं, धरती के आधार को छोड़कर हवा में रह सकता है, अपनी आत्मा को अपने शरीर से पृथक् कर थोड़ी अवधि के लिये या अनेक वर्षों तक अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके रह सकता है।

पाद टिप्पणियाँ—

१. द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भगवद्दत, सन् १९५५, पृष्ठ १४४-४५)।

२. द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९८८, पृष्ठ ५१७-१८।

३. द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृ० ३९५।

४. द्रष्टव्य—कर्नल आल्काट की पुस्तक ''ओल्ड डायरी लीव्ज'' अथवा वेदवाणी पत्रिका के जनवरी १९८६ के दयानन्द विशेषांक में ''स्वामी दयानन्द और योग'' शीर्षक से प्रकाशित डा० भवानीलाल भारतीय द्वारा अनूदित अंश।

❑❑

पौराणिक और वैदिक रुद्र

वेदों में जिन देवों का वर्णन प्राप्त होता है उनके स्वरूप में उत्तर काल में वेदोक्त स्वरूप की अपेक्षा बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया। किन्हीं देवों का कोई गुण या कर्म वेद में प्रधान था, तो आगे चलकर वह गौण हो गया। कुछ देव, जिनका वेदों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, उत्तरकाल में उपेक्षित-से हो गए और तद्‌भिन्न देव मुख्य हो गए। ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, काव्यग्रन्थ आदि में शनैः-शनैः हुआ यह परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वेद में अनेक देव होते हुए भी वे सब एक ही ईश्वरीय सत्ता को सूचित करते हैं, यह वेद स्वयं घोषित का रहा है—**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** ऋ० १.१६४.४६। परन्तु बाद में विभिन्न देव स्वतन्त्र होते चले गए और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की देवत्रयी ने स्थान ले-लिया। यद्यपि पुराण आदि परवर्ती साहित्य में भी ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनमें इस त्रयी को एक ही परब्रह्म के तीन रूप माना गया है, तो भी उनका स्वतंत्र रूप ही वहाँ अधिक पल्लवित हुआ है। यहाँ हम रुद्र या शिव के परवर्ती रूप का उसके वैदिक रूप के साथ संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेदों में रुद्र या शिव परमेश्वर का ही एक नाम है। प्रतिदिन संध्या में हम इस मन्त्र से परमेश्वर को नमन करते हैं—**नमः शंभवाय च मयोभवाय च, नमः शंकराय च मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च** (यजु० १६.४१)। यह यजुर्वेद के रुद्राध्याय का मन्त्र है, जिसमें परमेश्वर को अन्य नामों के अतिरिक्त शिव और शंकर नामों से भी स्मरण किया गया है। इस मन्त्र का उच्चारण करते समय सम्भव है कि किसी को यह गीत याद आ जाए-शिवशंकर भोले-भाले तुमको लाखों प्रणाम। चित्रपट पर अंकित जटाजूटधारी, कैलासवासी, चन्द्रशेखर, बंभोले शिवशंकर की वह प्रतिकृति भी नेत्रों के सम्मुख आ जाए तो आश्चर्य नहीं, जिसमें वह गले में साँप लपेटे हैं, कपालों की माला धारण किए हुए हैं, कन्धे पर गजचर्म ओढ़े हुए हैं, भभूत रमाए हैं, डमरू और त्रिशूल हाथ में लिए हैं, पास ही उनकी नन्दी बैल की सवारी खड़ी है। हम देखेंगे कि क्या शिव का यही वैदिक रूप है ?

अमरकोश १.१.३०-३४ में शिव के वाचक निम्नलिखित ४८ नाम पठित किए गए हैं-शंभु, ईश, पशुपति, शिव, शूली, महेश्वर, ईश्वर, शर्व, ईशान, शंकर, चन्द्रशेखर, भूतेश, खण्डपरशु, गिरीश, गिरिश, मृड, मृत्युंजय, कृत्तिवासस्, पिनाकिन्, प्रथमाधिप, उग्र, कपर्दी, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, कपालभृत्, वामदेव, महादेव, विरूपाक्ष, त्रिलोचन, कृशानुरेतस्, सर्वज्ञ, धूर्जटि, नीललोहित, हर, स्मरहर, भर्ग, त्र्यम्बक, तिपुरान्तक, गंगाधर, अन्धकरिपु, क्रतुध्वंसिन्, वृषध्वज, व्योमकेश, भव, भीम, स्थाणु, रुद्र, उमापति। इनमें से कुछ नामों के साथ वेदोत्तरकालीन कल्पनाएँ जुड़ी हुई हैं, तो भी अधिकांश नाम वैदिक ही हैं।

वेद में शिववाची शब्दो में मुख्य नाम रुद्र है। निरुक्तकार यास्क निरुक्त ७.१३ में लिखते हैं कि कुछ आचार्य प्रधान देवों के विशेषणों को भी पृथक् देवता गिन लेते हैं, परन्तु मैंने ऐसा नही किया। यास्क ने अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार निरुक्त में देवों की गणना में रुद्र को ही परिगणित किया है, उसके पशुपति आदि विशेषण पृथक् देवरूप में स्वीकार नहीं किए। परमेश्वर का नाम रुद्र इस कारण है, क्योंकि वह अन्यायियों को रुलाता है; सज्जनों की आधि-व्याधियों को एवं उनके सांसारिक दुःखों को दूर करता है; ब्रह्मप्रतिपादक वेदवाणियों से जाना जाता है; सत्योपदेश, आत्मविद्या आदि प्रदान करता है और अवरोधक तामसिकता आदि को विदीर्ण करता है।[१]

शिव रुद्र का ही एक नाम है। जगत् का कल्याण करने के कारण उसे 'शिव' कहते हैं[२]। इसी कारण वह शंकर भी कहलाता है। रुद्र के 'भव' और 'शर्व' नाम भी वैदिक हैं।[३] वह जगत् की उत्पत्ति करने के कारण 'भव' और जगत् का संहार करने के कारण 'शर्व' कहलाता है।[४] वेद में रुद्र को 'पशुपति' भी कहा गया है।[५] पर वहाँ वह नन्दी बैल का स्वामी होने से पशुपति नहीं, किन्तु समस्त पशुओं या प्राणियों का रक्षक होने से पशुपति कहाता है। उसके मुख्य पशु गिनाए गए हैं—गाय, घोड़ा, पुरुष, बकरी और भेड़।[६] पशुओं (प्राणियों) की चिकित्सा करके वह उन्हे सुख प्रदान करता है।[७] यह आश्चर्य का विषय है कि वेद में तो रुद्र को इन पशुओं का रक्षक कहा गया है, परन्तु कुछ लोगों ने इन पशुओं की रुद्र को बलि देने के लिए गोमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध, अजमेध और अविमेध यज्ञों की कल्पना कर ली, एवं वेद के पशुरक्षक रुद्र को पशुभक्षक रुद्र बना दिया।

रुद्र को वेद में गिरिशन्त, गिरित्र, गिरिश, गिरिचर, गिरिशय नामों से भी वर्णित किया गया है।[८] यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता के भाष्यकार उवट एवं महीधर के अनुसार कैलास गिरि का वासी होने के कारण रुद्र को इन नामों से स्मरण किया गया है।[९] परन्तु गिरि से कैलास पर्वत का ग्रहण उत्तरवर्ती मान्यता के आधार पर भाष्यकारों ने यहाँ अपनी ओर से कर लिया है। गिरि शब्द निरुक्त के अनुसार पर्वत और मेघ दोनों का वाचक है।[१०] एवं पर्वत, मेघ आदि वस्तुओं में विद्यमान, पर्वत और मेघ के समान उच्च पद पर स्थित तथा पर्वत और मेघ द्वारा सुख देनेवाला[११] होने से रुद्र के शिरिशन्त, गिरित्र, गिरिश आदि नाम होते हैं। यह द्रष्टव्य है कि उवट तथा महीधर ने भी गिरि के कैलासपर्वत के अतिरिक्त मेघ और वेदवाणी अर्थ भी किए हैं।[१२] वाणीवाची 'गिर्' शब्द का सप्तम्यन्त रूप भी 'गिरि' बनता है, अतः गिरिश आदि का अर्थ सप्तमी का अलुक् मानकर 'वेदवाणी में स्थित या वर्णित' भी हो जाता है। ऋग्वेद में विष्णु के लिए 'गिरिष्ठाः' और 'गिरिक्षित्' शब्द आए हैं, जिनका अर्थ सायण ने किया है पर्वत के समान उन्नत लोक में स्थित या मन्त्रादिरूप वेदवाणी में सर्वदा वर्तमान।[१३] वैसे ही गिरिश आदि शब्दों में भी लिया जा सकता है।

वेद का रुद्र 'त्र्यम्बक' भी है।[१४] परवर्ती व्याख्या के अनुसार शिव ने मस्तक में तृतीय नेत्र उद्घाटित कर तदुत्पन्न अग्नि से कामदेव को भस्म किया

था, अतः वे त्र्यम्बक या त्रिनेत्र कहलाते हैं। यजुर्भाष्य में उवट ने त्र्यम्बक का अर्थ नहीं खोला है। महीधर ने त्रिनेत्र अर्थ ही लिया है।[१५] दयानन्द सरस्वती जीवात्मा, कारण जगत् और कार्य-जगत् तीनों का रक्षक परमेश्वर और तीनों कालों में एकरस ज्ञान वाला परमेश्वर अर्थ लेते हैं।[१६] पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, अग्नि-वायु-सूर्य, सत्त्व-रजस्-तमस्, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, भूत-भविष्य-वर्तमान, शरीर-मन-आत्मा, कौमार-यौवन-वार्द्धक्य, मन-वचन-कर्म, ज्ञान-कर्म-उपासना, आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक सुख आदि त्रिकों का रक्षक और व्यवस्थापक होने से भी परमेश्वर का नाम त्र्यम्बक हो सकता है। यह भी द्रष्टव्य हैकि वेद में रुद्र को त्रिनेत्र नही, किन्तु सहस्रनेत्र[१७] कहा गया है।

वेद का रुद्र 'कृत्तिवासा:'[१८]भी है। वेदोत्तरकाल में कृत्ति का अर्थ गजचर्म मानकर रुद्र को गजचर्मधारी के रूप में चित्रित कर दिया गया, किन्तु निरुक्त के अनुसार कृत्ति का एक अर्थ यश भी होता है।[१९] अतः रुद्र परमेश्वर यशस्वी होने से 'कृत्तिवासा:' कहलाता है। रुद्र का अर्थ सेनापति करने पर 'कृत्तिवासा:' का अर्थ 'रक्षार्थ गजचर्म का कवच धारण करनेवाला' भी लिया जा सकता है। स्वामी दयानन्द ने सेनाध्यक्ष के पक्ष में कृत्ति का अर्थ 'चर्मवत् दृढ वस्त्र' या 'मृगचर्मादिमयी अंगरक्षिणी' लिया है।[२०]

वेदों में रुद्र का वर्णन धनुष-बाण-तूणीर-धारी और पिनाक-पाणि के रूप में भी आया है।[२१] पिनाक निरुक्त के अनुसार धनुर्दण्ड को कहते है।[२२] रुद्र को कहा गया है कि छोड़ने के लिए तूने अपने हाथ में जो बाण पकड़ा हुआ है उसे तू हमारे लिए मंगलमय बना, तू उससे पुरुषों की और जगत् की हिंसा मत कर।[२३] उससे प्रार्थना की गई है कि तू दोनों धनुष्कोटियों से डोरी को उतार ले, जो तेरे हाथ में बाण हैं, उन्हें दूर फेंक दे[२४] और जो तेरा तरकश है, उसे भी तू हमसे दूर कर दे।[२५] ये वर्णन सेनापति-पक्ष में तो सीधे ही लग जाते हैं, किन्तु परमेश्वर-पक्ष में यह वर्णन उसी प्रकार आलंकारिक माना जाएगा, जिस प्रकार पुरुषमेधाध्याय में पुरुष परमेश्वर का हजारों सिर, हजारों आंखों और हजारों पैरों वाले के रूप में वर्णन। अन्यायियों के रोदक निराकार रुद्र के धनुष, बाण, तूणीर, पिनाक आदि के वर्णन का अभिप्राय उसकी दण्ड देने की शक्ति को द्योतित करता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा है कि ज्वर, खाँसी आदि ही रुद्र के बाण हैं, जिनसे वह दुष्टों का संहार करता है।

वैदिक रुद्र 'नीलग्रीव', 'शितिकण्ठ', 'नीललोहित' और 'कपर्दी' भी हैं।[२७] पौराणिक परम्परानुसार समुद्रमंथन के समय क्षीरसागर में से निकले हुए विष को कण्ठ में धारण कर लेने के कारण महादेव जी के कण्ठ का कुछ भाग नीला पड़ गया था, अतः वे नीलग्रीव नाम से प्रसिद्ध हुए। शेष कण्ठ अपेक्षाकृत श्वेत रहने के कारण वे शितिकण्ठ कहलाए।[२८] इन्हें नीललोहित इस कारण कहते हैं, क्योंकि इनका कण्ठ नीला तथा शेष शरीर लाल है।[२९] जटाजूट धारण करने के कारण ये कपर्दी कहलाते हैं, किन्तु इन वर्णनों का परमेश्वर-परक अर्थ देखने के लिए अथर्ववेद की वह कल्पना सम्मुख रखनी चाहिए, जिसके अनुसार भूमि ज्येष्ठ ब्रह्म के पैर हैं, अन्तरिक्ष मध्यभाग है और द्युलोक मूर्धा हैं।[३०] मध्यभाग में

गले से लेकर कटि तक का भाग आ जाता है, अत: अन्तरिक्ष ही रुद्र का गला होगा, जो मेघों के कारण नीला है तथा बिजली और सूर्यकिरणों से श्वेत भी है। रुद्र परमेश्वर का ब्रह्माण्डरूप यह विराट् शरीर कहीं नीला, काला या हरा है और कहीं लाल है, अत: अनेक वर्ण वाला होने से रुद्र नीललोहित कहलाता है। मूर्धारूप द्युलोक पर सूर्यकिरणों का जटाजूट होने से वह कपर्दी है। यह सब वर्णन आलंकारिक है। वस्तुत: तो परमेश्वर अशरीरी[३१] है।

वेदों के अनुसार रुद्र को शंभु, ईश, ईश्वर, महेश्वर, ईशान, भूतेश, सर्वज्ञ, हर, महादेव, भीम, उग्र और मृड भी कह सकते हैं।[३२] तेजस्वी (त्वेष)[३३] रूप में वर्णित होने से वह भर्ग भी कहला सकता है। रुद्र का दरिद्र[३४] नाम भी वेद में आता है, क्योंकि सर्वेश्वर होते हुए भी वह अपरिग्रही है।

परन्तु अमरकोश के पूर्वपठित नामों में से कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिनका मूल वेदों में नहीं मिलता। शिव के सिर पर चन्द्रकला और गंगा के स्थित होने का संकेत नहीं है। गले में साँप लपेटने का भी उल्लेख वेदों में नहीं आता, इसके विपरीत रुद्र अहिहन्ता है।[३५] अहि-वध से मेघों के वध अथवा कुटिल यातुधान-यातुधानियों के वध का तात्पर्य प्रतीत होता है। नर-कपालों की माला धारण करने का भी उल्लेख वेदों में नहीं है। रुद्र के प्रलयंकर होने के कारण बाद में उसे कपालधारी या नरमुण्डधारी कल्पित कर लिया गया। वेद में तो इन्हें निष्क (स्वर्णहार)[३६] धारण करनेवाला कहा है, क्योंकि इनके द्युलोकरूप मूर्धा ने सूर्यकिरणरूप स्वर्णहार पहना हुआ है। कामदेव को भस्म करने एवं त्रिपुरासुर और अंधकासुर का वध करने की कथा भी वेद में नहीं है। वेद के रुद्र क्रतुध्वंसी (यज्ञ-विध्वंसक) नहीं हैं, अपितु उन्हें मेधपति और यज्ञसाधक कहा गया है।[३७] नन्दी वृषभ की सवारी करने की भी वेदों में कोई चर्चा नहीं आती। रुद्र स्वयं वृषभ (सुखवर्षी या वृष्टिकर्त्ता)[३८] अवश्य है। रुद्र की पत्नी रोदसी[३९] का उल्लेख वेद में आता है, किन्तु वह हिमालय-पुत्री पार्वती या उमा है ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। रुद्रपत्नी रोदसी रुद्र के साथ रहनेवाली उसकी अनन्त शक्ति है।[४०] अधिदैवत दृष्टि से मेघवर्ती विद्युत् रोदसी है, जो मानों सुरम्य अलंकारों को धारण करके मारुत रथ (वायुरथ) पर स्थित होती है। रुद्र के शूली, खण्डपरशु, मृत्युञ्जय, प्रमथाधिप, वामदेव, श्रीकण्ठ, कृशानुरेतस्, धूर्जटि, व्योमकेश, वृषध्वज एवं स्थाणुनाम वेद में नहीं आते।

वेदों के अनुसार रुद्र मनुष्यों का पिता है।''[४१] उसके पास आतुरों का कष्ट हरने के लिए ओषधियों का भण्डार है, जिससे वह सौ वर्ष की आयु प्रदान कर सकता है।[४२] वह वैद्यों का वैद्य है।[४३] शुद्ध वर्षाजलरूपी औषध उसके पास है।[४४] वह सबको मनुष्यों के योग्य भोजन देता है।[४५] वह द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष का स्वामी है।[४६] वह पापों से पार करके सुख प्रदान करता है।[४७] पापियों को उसके अस्त्र और उसकी सेनाएँ विनष्ट करती है।[४८] वह सबका भरण-पोषण करनेवाला, सुखवर्षक और ज्ञानी है।[४९] उसका साम्राज्य दिव्य और पार्थिव सभी वस्तुओं पर है।[५०] जब उसे कर्मफल-प्रदानार्थ किसी का वध करना होता है, तब आकाशीय विद्युत्, बड़े-बड़े मुख वाले भयंकर कुत्ते, आक्रोशक

हिंस्र जन्तु, हिंसक गीध, मक्खी, मगरमच्छ, अजगर, खाँसी, ज्वर, विष आदि को साधन बनाता है।[५१]

इस प्रकार रुद्र या शिव वेद में परमेश्वर का ही एक नाम है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय एवं जगत् की सम्पूर्ण व्यवस्था उसके अधीन है। वह सबके द्वारा नमस्करणीय है।[५२]

पाद टिप्पणियाँ—

१. रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः। यद्वा रुत् संसाराख्यं दुःखं, तत् द्रावयति अपगमयति विनाशयतीति रुद्रः। यद्वा रुतः शब्दरूपा उपनिषदः, ताभिः द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः। यद्वा रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्या आत्मविद्या वा, तामुपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः। यद्वा रुणद्धि आवृणोति इति रुत् अन्धकारादि तत् दृणाति विदारयतीति रुद्रः'— ऋ० १.११४.१ का सायणभाष्य। रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः (स० प्र०, समु०१; यजुर्भाष्य ३.१६)। रुद् रोगं द्रावयति (ऋग्भाष्य ६.४९.१०)। रुतः सत्योपदेशान् राति ददाति (ऋग्भाष्य १.११४.३)

२. शिवो नामासि (यजु० ३.६३) शिवो नः सुमना भव (यजु० १६.५१)। शं यः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्यै नृभ्यो नारिभ्यो गवे (ऋ० १.४३.६)।

३. 'भवाशर्वौ मृडतम्', 'भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः'
—(अथर्व०११.२.१,१६)

४. भवत्यस्माद् जगदिति भवः (भू सत्तायाम्)। शृणाति हिनस्ति सर्वं जगत् प्रलयकाये इति शर्वः (शॄ हिंसायाम्)।

५. दशकृत्वः पशुपते नमस्ते (अथर्व० ११.२.९)।

६. तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः (वही)। पशु शब्द यहाँ प्राणी अर्थ में समझना चाहिए, क्योंकि पशुओं में पुरुष भी परिगणित है।

७. गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजं सुखं मेषाय मेष्यै (यजु० ३.५९)।

८. यजु० १६.२-४, २२, २९।

९. गिरौ पर्वते कैलासाख्ये अवस्थितः शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः। गिरौ कैलासाख्येऽवस्थितः त्रायते भक्तनिति गिरित्रः। गिरौ चरति गिरिचरः, अध्वन्यानां वस्त्राद्यपहर्तुं पर्वतादिविषमस्थानचारी। गिरौ कैलासे शेतेऽसौ गिरिशयः—महीधर।

१०. द्रष्टव्य—निरु० २.२२.।

११. गिरिणा मेघेन शं तनोति। गिरिषु पर्वतेषु मेघेषु वा शेते—दयानन्द भाष्य, यजु० १६.३,४।

१२. यथा, यद्वा गिरि वाचि अवस्थितः सुखं तनोतीति। यद्वा गिरौ मेघेऽवस्थितो वृष्टिद्वारेण सुखं तनोतीति—उवट, यजुर्भाष्य १६,२।

१३. 'गिरिष्ठाः गिरिवत् उच्छ्रितलोकस्थायी। यद्वा गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः। गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते'—सायणभाष्य, ऋ० १.५४.२,३।

१४. अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् (यजु० ३.५८)। त्र्यम्बकं यजामहे (ऋ०

७.५९.१२; यजु० ३.६०)।

१५. त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य। त्र्यम्बकं नेत्रत्रयोपेतं रुद्रम्—महीधर-भाष्य, यजु० ३.५८, ६०।

१६. 'त्रयाणां जीवकारणकार्याणाम् अम्बको रक्षकः (ऋग्भाष्य ७.५९.१२)। अमति येन ज्ञानेन तदम्बं, त्रिषु कालेषु एकरसं ज्ञानं यस्य (यजुर्भाष्य ३.६०)'—दयानन्द।

१७. 'नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्त्रक्षायामर्त्य'। 'सहस्त्रक्षेण वाजिना रुद्रेण' 'सहस्त्राक्षमतिपयं पुरस्ताद् रुद्रम्'—अथर्व० ११.२.३, ७, १७।

१८. द्रष्टव्य —यजु० ३.६१, १६, ५१।

१९. कृत्तिः कृन्ततेः, यशो वा अन्नं वा। —निरु० ५.६७।

२०. 'कृत्तिवासाः कृत्तिश्चर्म तद्वत् दृढानि वासांसि धृतानि येन सः (रुद्रः शूरवीरः सेनाध्यक्षः), यजुर्भाष्य ३.६१। कृत्तिं मृगचर्मादिमयीम् (अंग रक्षिणीम्), यजुर्भाष्य १६.५१ —दयानन्द।

२१. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्व (ऋ० २.३३.१०)। इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे (ऋ० ७.४६.१)। अवततधन्वा पिनाकावसः (यजु० ३.६१)। हस्ते बभूव ते धनुः (यजु० १६.११)। शतेषुधे (यजु० १६.१३)। पिनाकं बिभ्रदागहि (यजु० १६.५१)। धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्त्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम् (अथर्व० ११.२.१२)।

२२. रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य। —निरु ३.२१।

२३. यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् (यजु० १६.३)।

२४. प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्र्योर्ज्याम्। याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप (यजु० १६.९)।

२५. अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम्। यजु० १६.१२

२६. यस्य तक्मा कासिका हेतिः। (अथर्व० ११.२.२२)

२७. नीलग्रीवो विलोहितः (यजु० १६.७)। नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च (यजु० १६.२८)। नीललोहित (यजु० १६.४७)। इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने (ऋ० १.११४.१)।

२८. 'विषभक्षणेन नीला नीलवर्णा ग्रीवा कण्ठैकदेशो यस्य स नीलग्रीवः। शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य स शितिकण्ठः'—यजु० १६.२८ का महीधरभाष्य।

२९. कण्ठे नीलः अन्यत्र लोहितः—यजु० १६.४७ का महीधरभाष्य।

३०. यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व० १०.७.३२)

३१. अकायमव्रणमस्नाविरम्। (यजु० ४०.८)

३२. नमः शंभवाय च (यजु० १६.४१)। ईशानादस्य भुवनस्य भूरे; (ऋ० २.३३.९) भूतपती पशुपती नामे वाम् (अथर्व० ११.२.१)। भव सद्यः सर्वान् परिपश्यसि (अथर्व० ११.२.२५)। मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम् (ऋ० १.११४.११)। स रुद्रः

स महादेवः (अथर्व० १३.४.४)। स नो मृड पशुपते नमस्ते (अथर्व० ११.२.११)।

३३. अरुषं .... त्वेषं रूपमवसे निह्वयामहे। (ऋ० १.११४.६)

३४. दरिद्र नीललोहित (यजु० १६.४७)।

३५. अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्यः। (यजु० १६.५)

३६. ऋ २.३३.१०

३७. गाथपतिं मेधपतिम् (ऋ० १.४३.२)। त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधम् (ऋ० १.११४.४)।

३८. ऋ० २.३३.४,६,८,१५।

३९. रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमाहुवामहे। आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी। (ऋ० ५.५६.८)

४०. यस्मिन् यस्मिन् द्रव्ये या याः शक्तयः सन्ति तास्ताः तेषां द्रव्याणां पत्न्य इवेत्युच्यन्ते—दयानन्दभाष्य ऋ० १.२२.९।

४१. आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु। (ऋ० २.३३.१)

४२. हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि (ऋ०१.११४.५॥ त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः (ऋ० २.३३.२)।

४३. भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि (ऋ० २.३३.४)।

४४. रुद्रं जलाषभेषजम् (ऋ० १.४३.४)।

४५. रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनम् (ऋ० १.११४.६)।

४६. भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम्। (अथर्व० ११.२.२७)

४७. पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति (ऋ० २.३३.३)।

४८. अथर्व० ११.२.२६-३१

४९. बभ्रो वृषभ चेकितान (ऋ० २.३३.१५)

५०. स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति (ऋ० ७.४६.२)

५१. अथर्व० ११.२.२,२२,२५,२६,३०।

५२. तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः। (अथर्व० ११.२.२३)

□□

ऋग्वेद में प्रकृति-चित्रण और उससे प्राप्त संदेश

वेदों को चाहे धर्मग्रन्थ मानें, चाहे अध्यात्मग्रन्थ मानें, चाहे विविध विद्याओं का निधिग्रन्थ मानें, यह निर्विवाद है कि वेदों की विषय-प्रतिपादन-शैली काव्यमयी है। वेदों में स्तुति हो, प्रार्थना हो, उपासना हो, गम्भीर दार्शनिक चिन्तन हो, मानव का कर्तव्य=बोधन हो, उद्‌बोधन हो, सत्कार्य की प्रशंसा हो, दुष्कार्य की निन्दा हो, पाप या पापी के प्रति आक्रोश हो, युद्ध का भीषण संहार हो, विजय-दुन्दुभि का नाद हो, स्वराज्य की अर्चना हो, उषा, सूर्य और रात्रि का उदय-वर्णन हो, तम:संहार की झाँकी हो, पर्जन्य की अमृतधार हो, विद्युद्‌गर्जना एवं विद्युद्दीप्ति का ताण्डव नर्तन हो, नदियों का कल-कल निनाद हो, वायु का झंझा-प्रवाह हो, पक्षियों का कल-कूजन हो, सघन वनों की हरियाली हो, सरस शान्ति का गीत हो, विकट क्रान्ति का उद्‌घोष हो, पवित्र यज्ञ का सन्देश हो, अग्निज्वालाओं का ऊर्ध्वगमन हो, सोमरस का प्रस्रावण हो—सर्वत्र काव्यमयी शैली के दर्शन होते हैं। इस लघु लेख में ऋग्वेद के कुछ प्रकृति-चित्रणों की झांकी दिखाकर हम यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि उन प्रकृति-चित्रणों से मानव के लिए वेद क्या सन्देश मुखरित कर रहा है। किसी भी काव्य का प्रकृति-चित्रण यदि चित्रणमात्र है, उससे पाठक को कोई सन्देश प्राप्त नहीं होता, जागरूकता प्राप्त नहीं होती, वह हृत्तन्त्री के तारों को हिला नहीं देता, दिव्य चेतना का प्रवाह प्रवाहित नहीं कर देता तो वह कितना ही मंजुल क्यों न हो उसका कोई विशेष मूल्य नहीं हैं।

१. अरण्य-वर्णन

सर्वप्रथम हम ऋग्वेद के अरण्य-वर्णन के एक सूक्त (१०.१४६) को ले रहे हैं। इसमें एक वनवासिनी और एक नागरिक की वार्ता है। यह अरण्यानी-सूक्त कहलाता है । अरण्यानी का अर्थ निरुक्तकार ने अरण्य की पत्नी लिखा है। अरण्य जंगल को कहते है। जंगल की पत्नी नहीं हो सकती, क्योंकि वह अचेतन है। मुख्यार्थबाध होकर लक्ष्यार्थ अरण्यस्थ पुरुष या वानप्रस्थ हो जाता है। सीधा अरण्यस्थ पुरुष या वानप्रस्थ न कहकर अरण्य कहने में यह स्वारस्य है कि अरण्यस्थ पुरुष या वानप्रस्थ की अरण्य या वन के साथ एकात्मता और उसके जीवन की वनमयता व्यंग्यार्थरूप में सूचित होती है। वानप्रस्थ की पत्नी से कोई नागरिक आकर प्रश्न करता है—हे वनदेवी, तुम क्यों वनों में छिपी रहती हो, ग्राम या नगर की पूछ क्यों नहीं करतीं, क्या तुम्हें यहाँ भय-सा नहीं मालूम पड़ता ? वनवासिनी देवी का उत्तर सुनने योग्य है। वह कहती है—

[२]वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते॥ —ऋ० १०.१४६.२

हे भद्र, तुम भय की बात करते हो, पर यहाँ तो बिना तानपूरे के ही संगीत का आनन्द मिलता है। देखो, यहाँ जब वृषारव नामक झींगुर अपने तीव्र स्वर की तान छेड़ता है और चिक्-चिक् शब्द करनेवाला दूसरी जाति का झींगुर उसके पास आकर बैठता है, तब ऐसा प्रतीत होता है मानो जंगलरूपी गायक वीणाओं पर स-रे-ग-म-प-ध-नि रूप सप्त स्वरों को बजा रहा हो। यहाँ वेद के कवि की कैसी सुन्दर कल्पना है! उत्प्रेक्षालंकार का कैसा चमत्कार है! वृषारव और चिच्चिक इन अन्वर्थक शब्दों के प्रयोग में कैसा पदौचित्य है!

[४]आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ —ऋ १०.१४६.६

वानप्रस्थ देवी वन-वीथी की महिमा का गान करती हुई कहती है—'देखो, यह वन-वीथी अंजन वृक्ष के फूलों की सुगन्ध से कैसी सुरभित है! यहाँ बिना किसान के ही प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है, यह पशुओं की माता है, इसकी भला कौन स्तुति नहीं करेगा?'

'बह्वन्नाम्, अकृषीवलाम्' में विभावना[५] अलंकार का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा है जिसमें बिना कारण के ही कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है। वन का स्त्रीलिंग में तथा माता के रूप में चित्रण भी मनोहारी है। नागरिक का प्रश्न था—क्या तुम्हें भय नहीं लगता? वनपंक्ति को माता के रूप में चित्रण करने से नागरिक के प्रश्न का उत्तर स्वतः मिल जाता है। भला माता से भय किसे लगता है!

वनशृंखला के इस मनोमोहक चित्रण से मानव को यह संदेश दिया गया है कि तृतीय आयु में उसका कर्तव्य है कि वह घर का भार पुत्र एवं पुत्रवधू को सौंपकर वानप्रस्थ के एकान्त एवं सुरम्य वातावरण को ही अपनी निवासस्थली बनाये।

२. विश्वामित्र-नदी संवाद

विश्वामित्र है सबसे मैत्री रखनेवाला मनुष्य। वह सुदास् राजा का पुरोहित है। सुदास् का अर्थ है शुभ दान करनेवाला। विश्वामित्र सुदास् राजा से दक्षिणा में गाड़ी-भर अन्न-धन लेकर अपने आवास-वन को लौट रहा है। वह देखता है कि जो बरसाती नदियाँ आते समय कम जलवाली होने के कारण सुतरणा थीं, वे अब उमड़-उमड़कर बह रही हैं और उन्होंने भयंकर रूप धारण कर लिया है। विपाट् और शुतुद्रि को देखकर उसके मन में काव्यधारा फूट पड़ती है। विपाट् है चौड़े पाटवाली नदी, शुतुद्रि है वह वेगवती नदी जो ऐसी तेजी से बह रही है मानों उसे कोई चाबुक के प्रहार से दौड़ा रहा हो।

[७]प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥
—ऋ० ३.३३.१

ये विपाट् और शुतुद्रि नदियाँ अपने जलप्रवाह के साथ दौड़ी चली जा रही

हैं। इनके अन्दर मानो चेतना है और कुछ कामना है। उसी कामना को लिये हुए पर्वतों की गोद से बिछुड़कर एक-दूसरी से आगे निकलने की स्पर्धा में ये घुड़दौड़ में छोड़ी हुई घोड़ियों के समान विमुक्तबन्धन होकर दौड़ लगा रही हैं। शुभ्रवर्णा गौमाताएँ जैसे जिह्वा से अपने बछड़ों को चाटती हैं, वैसे ही ये अपनी लहरों से तट-प्रान्तों को चाट रही हैं।

विपाट् और शुतद्री नदियों के सम्बन्ध में आगे वह कहता है कि ये ऐसी तेजी से चली जा रही है मानो रथारूढ़ हों। ये एक दूसरे के साथ गलबहियाँ ले रही हैं, एक-दूसरे को मिलन द्वारा आनन्द-सिक्त कर रही हैं (मन्त्र २)। यहाँ नदियों में चेतना-जैसा वर्णन सौन्दर्य को कैसा बढ़ा रहा है!

वहीं पर सिन्धु भी है। सिन्धु विशिष्ट प्रवाह वाली नदी को कहते हैं। इन सब नदियों के बीहड़ संगम को देखकर विश्वामित्र नदियों से कहता है कि थोड़ी देर के लिए तुम अपना प्रवाह रोक लो, जिससे मैं पार हो जाऊँ (मन्त्र ५)। नदियाँ उत्तर देती हैं कि हमें तो वज्रबाहु इन्द्र ने बादल का छेदन करके प्रवाहित किया है, सुपाणि सविता देव हमें आगे-आगे ले-जा रहा है, हम तो उसी के अनुशासन में चल रहे हैं, तुम्हारे कहने से कैसे रुक जाएँ (मन्त्र ६)। अन्त में विश्वामित्र नदियों को बहिन कहकर सम्बोधन करता है—हे बहिनो, तुम मुझ स्तुतिकर्ता की प्रार्थना सुन लो, मैं बहुत दूर से रथ और अन्न-धन से भरा ठेला लेकर आ रहा हूँ, तुम झुक जाओ, मेरे रथ के पहिए की कील से नीची हो जाओ—

[९]ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः॥

—ऋ० ३.३३.९

'बहिन' सम्बोधन नदियों पर जादू का काम करता है। वे भाई के लिए अपने प्रवाह को नीचा कर लेती हैं। विश्वामित्र पार हो जाता है।

अचेतन नदियों के साथ मनुष्य का संवाद कराना ही इस बात को सिद्ध करता है कि यह काव्यमय वर्णन है। वर्णन में वेद का कवि अत्यन्त सफल रहा है। जहाँ नदियों के अलंकृत वर्णन में रमणीयता है वहाँ इससे यह भी संदेश प्राप्त होता है कि बहिन बनाकर बड़ी-से-बड़ी विद्वेषिणी शत्रु-सेनाओं को भी अपने अनुकूल किया जा सकता है।

३. सिन्धु का द्विविध वर्णन

ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.७५) में सिन्धु नदी का द्विविध वर्णन उपलब्ध होता है। एक है इसका उग्र रूप और दूसरा है सौम्य रूप। पहले उग्ररूप देखिए—

[१०]दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्॥

—ऋ० १०.७५.३

उग्र रूप सिन्धु का पुल्लिग में वर्णन किया गया है। देखो, यह सिन्धु-नद बैल के समान डकराता हुआ बह रहा है। इसकी गर्जना आकाश में भी व्याप्त हो रही है और भूमि पर भी। यह अपनी प्रदीप्त लहरों के द्वारा अनन्त वेग को धारण कर रहा है। जब यह प्रचण्ड शब्द करता हुआ बहता है तब ऐसा लगता है मानों बादल से गरज के साथ वर्षाएँ हो रही हों। यहाँ बैल की उपमा और गर्जती वर्षाओं की उत्प्रेक्षा में जो चारुता है उसे पाठक सहज ही अनुभव कर सकते हैं।

सिन्धु का सौम्य रूप वर्णन करते हुए उसे एक युवति के रूप में चित्रित किया गया है—

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥

—वही, मन्त्र ८

यह सिन्धु-रूपिणी युवति उत्कृष्ट घोड़ोंवाले रथ पर सवार है, इसने सुन्दर साड़ी पहनी हुई है, हिरण्यालंकार धारण किये हुए हैं, सुसज्जित है, क्रियामयी है, कोमल ऊन के वस्त्र पहने हुए है, शीलवती है, सुमना है, माधुर्यवर्धक रूप को धारण किये हुए है।

यहाँ नदी को तेजी से बहने के कारण रथ पर सवार, सुन्दर प्रवाहवाली होने से सुन्दर साड़ीवाली, प्रवाह में बहते हुए सुनहरे पुष्पों के कारण हिरण्ययी, प्रवाहित होते हुए ऊन जैसे रंग-बिरंगे कोमल वानस्पत्य द्रव्यों के कारण ऊर्णामयी और शालीनता से बहने के कारण शीलवती कहा गया है। सिन्धु में युवतित्व का आरोप कितना चामत्कारिक बन पड़ा है! उग्र रूप को दर्शाने के लिए पुरुष-रुप चित्रण करने में और सौम्य रूप को दर्शाने के लिए युवतिरूप चित्रण करने में जो स्वारस्य है उसे भी प्रत्येक सहृदय अनुभव कर सकता है।

यह चित्रण पुरुषों के लिए बलवत्ता, प्रचण्डता और आक्रामकता का तथा नारियों के लिए माधुर्य का संदेश दे रहा है।

४. वायु का रथ

वायु के भी दो रूप होते है—एक प्रबल झंझावात या आँधी का रूप और दूसरा शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन का रूप। आँधी का रूप वर्णन करता हुआ वेद कहता है कि यह वायु रथ पर सवार होकर तेजी से चल रहा है—

[१२]वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्॥

—ऋ० १०.६८.१

वायु के रथ की महिमा को देखो, वह कैसी तोड़-फोड़ मचाता हुआ जा रहा है! गरजती हुई इसकी आवाज है। आकाश को छूता हुआ, दिक्प्रान्तों को लाल करता हुआ और भूमि की धूल को इधर-उधर बिखेरता हुआ उड़ा चला जा रहा है।

झंझावात का यह कैसा सुन्दर स्वभावोक्ति अंलकार है! वायु को रथारुढ़ कल्पित करने में भी अद्भुत सौष्ठव है। इस वर्णन से योगसाधक के प्राणायाम द्वारा समस्त शारीरिक एवं मानसिक मलों के ध्वस्त होने की सूचना भी वेद का कवि दे रहा है। साथ ही मनुष्य विपदाक्रान्त होने पर वायु के समान विघ्न-बाधाओं को तोड़ता-फोड़ता हुआ, गरजता हुआ, शत्रु-दल को धूल से लथपथ तथा रक्तरंजित करता हुआ चले, यह संदेश भी इस झंझा-वर्णन से प्राप्त हो रहा है।

इसके साथ ही अगले ही मन्त्र में वायु का एक सुन्दर-सलोना वर्णन भी कवि कर रहा है। जब पवन चलता है तब उसके साथ स्थावर वृक्ष-वनस्पतियाँ आदि भी उसी दिशा में झूल जाती हैं। नदी, झील, समुद्र,सरोवरों की जल-राशियाँ भी वायु के साथ आ मिलती हैं। जलवाची अप् शब्द स्त्रीलिंगी है। कवि कल्पना करता है कि जैसे किसी युवक को पत्नी प्राप्त होती है वैसे ही पवन राजा को जलराशि रूप रानी मिल गयी है। उसके साथ एक रथ पर बैठकर बतियाता हुआ सम्पूर्ण भुवन का राजा यह पवन-देव आनन्द के साथ मंद चाल से चला जा रहा है—

[१३]सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः सयुक् सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा॥

—ऋ० १०.१६८.२

इस वर्णन से मनुष्य को यह संदेश मिलता है कि उसे जीवन में सदा उग्र रूप ही नहीं रखना है अपितु अपना मन्द मुस्कानवाला, आनन्दमय, आनन्ददायक, सद्व्यवहारपूर्ण मधुर रूप भी दर्शाना है।

५. ब्राह्मण मण्डूक

मण्डूक संस्कृत में मेंढ़क को कहते हैं। वर्षा ऋतु में ताल-तलैया में इनका टर-टर शब्द करना बड़ा सुहावना लगता है। सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण करनेवालों का कहना है कि मेंढ़क पर्जन्य से पानी माँगने के लिए भी टरटराते हैं और वर्षा से तृप्त हो जाने पर भी। इनकी दोनों ध्वनियों में स्पष्ट अन्तर होता है। वेद में मण्डूक वेदपाठी ब्राह्मण को भी कहा गया है।

निरुक्तकार यास्क मण्डूक शब्द के निर्वचन दर्शाते हुए लिखते हैं—**मण्डूका मज्जूका मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणः, मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः, मण्डयतेरिति वैयाकरणाः, मण्ड एषामोक इति वा** (निरु० ९.५)। अर्थात् मण्डूक शब्द डुबकी लगाना अर्थवाली मस्ज् धातु से बना है। मेंढ़क सरोवर के पानी में डुबकी लगाते हैं और वेदपाठी वटु ज्ञान-रस में। अथवा, मण्डूक की निष्पत्ति मोदार्थक मदी धातु से या तृप्त्यर्थक मन्द (मदि) धातु से होती है। मेंढ़क जल में प्रमुदित या तृप्त होते हैं, और वेदपाठी वटु विद्यावृष्टि में। अथवा, भूषणार्थक मडि धातु से मण्डूक शब्द सिद्ध होता है। मेंढकों का चर्म भूषित होता है, वेदपाठी वटुओं का चित्त भूषित होता है। अथवा, मण्ड और ओकस् के योग से

मण्डूक शब्द बनता है। मेंढकों का ओकस् अर्थात् सरोवररूप घर कमल-पुष्प आदि से मण्डित होता है, और वेदपाठी वटुओं का विद्यागृह भित्तियों पर खुदी हुई वेद की ऋचाओं से मण्डित होता है।

ऋग्वेद के एक सुक्त (७.१०३) में मेंढ़कों और वेदपाठी ब्राह्मणों का एक-साथ सुन्दर चित्रण हुआ है। उसका प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

१४ संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥

—ऋ० ७.१०.३.१

निरुक्त के अनुसार यहाँ वर्षाकाल में आनन्दसूचक शब्द करते हुए मेंढ़कों के पक्ष में 'ब्राह्मणाः व्रतचारिणः' में लुप्तोपमा है। जो मेंढ़क वर्षभर भूमि के अन्दर सोये पड़े हुए थे, जैसे व्रतचारी ब्राह्मण समाधि में निद्रित रहते हैं, वे ही अब वर्षाकाल के बादल से तृप्त की गई वाणी को बोलने लगे हैं। 'ब्राह्मणाः व्रतचारिणः' में व्यंग्योत्प्रेक्षा भी हो सकती है। मेंढ़क वर्ष-भर भूमि में ऐसे सोये थे, मानो व्रतचारी ब्राह्मण हों, क्योंकि व्रतचारी ब्राह्मण ही समाधि में इतनी लम्बी अवधि तक शयन कर सकते हैं।

मन्त्र वेदपाठी ब्राह्मणों की ओर भी वैसी ही सुन्दरता के साथ लागू होता है। तब 'मण्डूकाः' में लुप्तोपमा होगी। मौन व्रतधारी ब्राह्मण, जो कि वर्ष-भर तपस्या कर रहे थे अब मेंढ़कों के समान पर्जन्यतर्पित वाणी को बोलने लगे हैं, अर्थात् मौन तोड़कर सस्वर वेदपाठ में तत्पर हो गये हैं।

सारे सूक्त में ही मेंढ़कों एवं वेदपाठियों का रमणीय चित्रण है, परन्तु इस सूक्त का एक ही मन्त्र हम और लेंगे—

१६ गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः॥

—ऋ० ७.१०३.६

वर्षा से संतृप्त होकर जब मेंढ़क शब्द करते है तब इनमें से कोई गाय-जैसी आवाज में बोलता है, कोई बकरे की-सी आवाज में बोलता है। इनमें कोई चितकबरा है, कोई हरे वर्ण का है। ये सभी अलग-अलग रूप-रंगोंवाले हैं, तो भी 'मण्डूक' इस समान नाम को धारण करते हैं और चारों ओर अपनी वाणी को प्रसारित करते हैं।

अब इस मन्त्र को वेदपाठियों की ओर लगाइये। इन वेदपाठी ब्राह्मणों में से कोई वेद के 'गौ' शब्द पर अनुसंधान कर रहा है, कोई 'अज' शब्द पर अनुसन्धान कर रहा है। इनमें से कोई पृश्नि अर्थात् सूर्य के समान गौरवर्ण है, दूसरा कृष्णवर्ण है। विभिन्न रूपवाले होते हुए भी 'मण्डूक' (वेदपाठी ब्राह्मणवटु) इस समान नाम से व्याहृत होते हैं और वेदपाठ करते हुए चारों ओर अपनी सस्वर वेदवाणी को प्रतिध्वनित करते हैं। यहाँ श्लेषालंकार की छवि दर्शनीय है।

स्पष्ट ही यह वैदिक वर्णन काव्यमयी भाषा में मेंढकों के समान उमंग में

भरकर वेदपाठ,वेदाध्ययन और वेदानुसंधान का संदेश मुखरित कर रहा है।

६. चिरयुवति उषा

ऋग्वेदीय उषा के काव्यमय वर्णन पर सहृदय काव्यपारखी जन मनोमुग्ध हैं। वह द्युलोक की पुत्री, चिरयुवति सुन्दरी के रूपमें चित्रित हुई है। उषा और रात्रि गोरी-काली दो बहिने हैं, जो आँख-मिचौनी करती हुई एक-दूसरी के बाद आती-जाती रहती हैं—

[१७]एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ॥

—ऋ० १.११३.७

देखो, यह द्यौ की पुत्री, श्वेत साड़ी पहने हुए युवति उषा झांकती हुई प्राची के आकाश में दिखाई दे रही है। यह सम्पूर्ण पार्थिव धन की अधिष्ठात्री है। हे उषा-सुन्दरी, सौभाग्यवती तुम प्रतिदिन इसी प्रकार छिटकती रहो।

[१८]उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥

—ऋ० १.११३.१६

उठो भाइयो,जीवनदायी प्राण हमें प्राप्त हुआ है। अन्धकार दूर हो गया है, ज्योति आ रही है। उषादेवी ने सूर्य के आगमन के लिए मार्ग खाली कर दिया है। हम उस स्थिति में पहुँच गये हैं जहाँ ज्योति का उपयोग करके लोग अपनी आयु को बढ़ा लेते हैं।

[१९]एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥

—ऋ० १.१२४.३

देखो, यह ज्योति की साड़ी पहने, द्यौ की पुत्री, मनस्विनी उषा देवी सामने दृष्टिगोचर हो रही है। यह भली-भाँति सत्य के ही पथ का अनुसरण करती है। ज्ञानवती के समान कभी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करती।

उषा के ये चित्रण नारी के लिए विशेष सन्देशवाहक बन रहे हैं। इनमें नारी की सादी उज्ज्वल वेषभूषा, धनवत्ता, मनस्विता, ज्ञानवत्ता, परिवार और समाज में तामसिकता को हटाकर ज्ञान और सदाचार की ज्योति को जागृत करना, मर्यादा में रहना आदि कर्तव्य सूचित हो रहे हैं।

७. सूर्योदय पर एक कल्पना

सूर्योदय पर एक वैदिक कल्पना बड़ी सुन्दर है। सूर्य ज्यों ही क्षितिज से ऊपर आता है उसकी किरणें भूमि-आकाश में फैल जाती हैं। वेद कहता है कि रात्री का अंधकार छाया हुआ है, किरणें सूर्यमण्डल में बन्द पड़ी हैं। उन्हें यह कैसे सह्य हो कि हमारे होते हुए भूमि अंधकार-मग्न रहे! सुन्दर उड़ान लेनेवाले, मेधाप्रिय किरणरूप ऋषि सूर्य से याचना करते हैं कि हमें मानों आपने जाल में

बाँधा हुआ हैं, जिससे हम शक्ति रखते हुए भी भूमण्डल को प्रकाशित नहीं कर पाते। कृपया हमें जाल से मुक्त कर दीजिए, और हमारे द्वारा भूतल का अँधेरा दूर कीजिए, सब प्राणियों की आँखों को प्रकाश से भर दीजिए—

[२०]वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान्॥

—ऋ० १०.७३.११

यहाँ 'निधयेव बद्धान्' में उत्प्रेक्षालंकार और किरणों में ऋषित्व के आरोप में रूपकालंकार का चमत्कार दर्शनीय है। किरणों को चेतनरूप में प्रकट करके उनके मुख से बन्धन-मुक्ति की प्रार्थना में कैसा स्वारस्य है!

साथ ही यह वर्णन गुरुकुल के छात्रों पर भी घटित हो रहा है। वे विद्या पढ़कर बुद्धिमान् ऋषि हो चुके हैं, किन्तु फिर भी आचार्य ने उन्हें स्नातक नहीं बनाया है। वे सुपर्ण हैं, अपनी प्रतिभा के बल पर किसी भी विषय में ऊँची उड़ान लेनेवाले हैं। वे आचार्य के पास पहुँचकर निवेदन करते हैं कि भगवन्, आपने कृपा करके हमें विद्वान् बना दिया, अब भी क्यों मानो जाल में बाँधकर हमें यहाँ रखा हुआ है? आप हमें स्नातक बनाकर बन्धन-मुक्त कीजिए, जिससे हम संसार में फैले हुए अज्ञानान्धकार को दूर करें तथा आपकी कीर्ति का प्रसार करें।

८. सूर्य-वर्णन

सूर्योदय की इस भूमिका के पश्चात् आइए, अब हम वेद के स्वभावोक्ति अलंकार के सौन्दर्य से परिपूर्ण सूर्य-वर्णन का आनन्द लें—

[२१]चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥

—ऋ० १.११५.१

देखो, यह प्रकाशकरश्मियों की अद्भुत सेना उदित हुई है, जो मित्र (वायु), वरुण (जल) और अग्नि को प्रकाशित करनेवाली है। इसने द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर दिया है। यह रश्मियों को बखेरनेवाला सूर्य जंगम-स्थावर सबका जीवनाधार है।

[२२]दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि॥

—ऋ० ७.६३.४

द्यौ-रूपिणी देवी का स्वर्णाभूषण यह सूर्य उदित हो रहा है, दूर इसका लक्ष्य है, जगमगाता हुआ यह आकाश की नौका है। निश्चय ही सूर्य से प्रेरित मनुष्य अपनी-अपनी उद्देश्यपूर्ति में तत्पर हो गए है और कर्म करने लगे हैं।

यहाँ सूर्य में स्वर्णाभूषणत्व (रुक्मत्व) का तथा प्रभात से सायं-पर्यन्त आकाश में चलनेवाली नौका का आरोप कितना काव्यमय है!

९. रात्रि-देवी का आगमन

वेद जैसे उषा का वर्णन एक युवति के रूप में करता है, वैसे ही रात्रि भी वेद काव्य की एक युवति ही है। उसके आगमन का सुहावना वर्णन करता हुआ वैदिक कवि अपने उद्गार प्रकट कर रहा है—

[२३] आ प्रागाद् भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री॥

—साम० ६०८

देखो, यह मंगलमयी युवति आ पहुँची है। यह दिन के बिखरे हुए रश्मिजालों को समेट रही है। यह सम्पूर्ण जगत् की कल्याणकर्त्री तथा सबके लिए विश्राम-दायिनी हो रही है।

रात्रि-युवति का यह वर्णन नारी को अपने इस कर्तव्य की प्रेरणा कर रहा है कि वह भी दिन में बिखरे हुए सब सामान को रात्रि आने पर समेट ले और दिन में किए जाते हुए कार्यों का उपसहांर कर दे और परिवार के सब सदस्यों के लिए सुख एवं विश्राम को देनेवाली हो।

१०. पर्जन्य की स्वभावोक्ति

ऋग्वेद के पर्जन्य-सूक्त (५.८३) की पर्जन्य-विषयक स्वभावोक्तियाँ भी मनामोहक हैं।

[२४] रथीव कशयाऽश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ अह।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः॥

—ऋ० ५.८३.३

जैसे सारथि चाबुक से घोडों को हाँकता है, वैसे ही पर्जन्य वर्षासूचक मानसून-पवनरूप दूतों को प्रेरित करता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षोन्मुख करता है, तब उसे प्रतिद्वन्द्वी मानकर दूर से ही सिंह की गर्जनाएँ भी सुनाई देती हैं।

यहाँ प्रथम चरण की उपमा स्वभावोक्ति अलंकार की अंगभूत बनकर चमत्कार उत्पन्न कर रही है।

[२५] प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति॥

—ऋ० ५.८३.४

जब पर्जन्य पृथिवी को अपने रस से सींचने लगता है तब ठण्डी हवाएँ चलती हैं, बिजलियाँ गिरती हैं, ओषधियाँ बढ़ने लगती हैं, आकाश बरसने लगता है, समग्र भुवन के लिए अन्न ही अन्न उत्पन्न हो जाता है।

११. सोम-सूर्य रूप दो शिशु

एक मन्त्र में चन्द्रमा और सूर्य को साक्षात् शिशु कहते हुए वेद उस

अतिशयोक्ति का सौन्दर्य उपस्थित कर रहा है जिसमें उपमान उपमेय का निगरण कर लेता है। अथवा, क्योंकि मन्त्र के देवता सोम और अर्क हैं, अतः इन दोनों में शिशु का आरोप करने की रूपीलंकार की छटा इसमें है। अथवा, इसे एक पहेली का रूप देने पर यहाँ प्रहेलिकालंकार हो जाता है।

[२६]पूर्वापरं चरतो माययैतो शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूंरन्यो विदधज्जायते पुनः॥

—ऋ० १०.८५.१८

देखो, दो शिशु मायापूर्वक एक-दूसरे के बाद गगन-प्रांगण में क्रीडा करते हुए संवत्सररूप यज्ञ की परिक्रमा कर रहे हैं। इनमें से एक सब भुवनों को प्रकाशित कर रहा है और दूसरा ऋतुओ का निर्माण करता हुआ मरकर पुनः-पुनः उत्पन्न होता रहता है।

स्पष्ट ही ये दो शिशु सूर्य-चन्द्र हैं। सूर्य लोकों को प्रकाशित करता है और चन्द्र अमावस्या को मरकर फिर प्रथमा तिथि को असंपूर्णांग के रूप में जन्म लेकर बढ़ता-बढ़ता पूर्णिमा को पूर्ण चाँद बन जाता है और चान्द्र वर्ष की ऋतुओं का निर्माण करता है।

१२. मरुतों का काव्यमय वर्णन

अधिदैवत दृष्टि से मरुत् वेद में मानसून पवनों का नाम है। मेघदूत में कालिदास ने कैलास पर्वत का वर्णन करते हुए एक कल्पना की है कि यह शिवजी का निवासस्थान है और शिव यहाँ प्राय अट्टहास करते हैं, अतः यह कैलास मानों शिव जी का पुंजीभूत अट्टहास ही है। कालिदास की यह सौष्ठवमयी कल्पना का मूल वेद ही प्रतीत होते हैं। वेदों में मरुतों के प्रसंग में कहा गया है कि ये मानों बिजली के अट्टहास से उत्पन्न हुए हैं—

[२७]हस्काराद् विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः।
मरुतो मृळयन्तु नः॥ —ऋ० १.२३.१२

आगे मरुतों के प्रसंग में उपमालंकार-मिश्रित स्वभावोक्ति भी दर्शनीय है—

[२८]वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति।
यदेषां वृष्टिरसर्जि।
[२९]दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।
यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति। —ऋ० १.३८.८,९

जब इन मरुतों की उत्पन्न की हुई वृष्टि भूमि पर आती है, तब गाय के समान बिजली गर्जती है,और माता गाय जैसे बछड़े को प्राप्त करती है, वैसे ही इनकी वृष्टि भूमण्डलरूप वत्स को प्राप्त होती है। ये मरुत् जलवाहकपर्जन्य के द्वारा जब भूमि को गीला करते हैं, तब दिन में भी अंधेरा कर देते हैं।

मरुतों का यह प्रसंग मनुष्यों को भी संदेश देता है कि वे भी संसार में

आनन्द की वृष्टि करें, न कि कलह की।

इस प्रकार हमनें ऋग्वेद के कुछ प्रकृति-चित्रणों का संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किया है और उनसे मानव को जो संदेश प्राप्त होता है उसका भी उल्लेख किया है। सहृदय पाठक अवश्य इन वर्णनों से चमत्कृत होंगे, और वेद की काव्यमयता को हृदयंगम कर सकेंगे।

पाद टिप्पणियाँ—

१. अरण्यानी अरण्यस्य पत्नी। —निरु० ९.२८

२. (वदते) बोलते हुए (वृषारवाय) जिसका ऊँचा स्वर है ऐसे झींगुर के (यत्) जब (चिच्चिकः) चिक्-चिक् शब्द करनेवाला दूसरा झींगुर (उप-अवति) समीप आ बैठता है, तब (अरण्यानिः) जंगल (आघाटिभिः इव) मानों वीणाओं से (धावयन्) सप्त स्वरों को शोधित करता हुआ (महीयते) महिमा पाता है।

३. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। —का०प्र० १०.१३७

४. (आञ्जनगन्धिम्) अंजन वृक्ष के फूलों के गन्ध से युक्त, (सुरभिम्) सुरभित, (बह्वन्नाम्) बहुत अन्नवाली, तो भी (अकृषीवलाम्) किसानों से रहित, (मृगाणां मातरम्) मृगों की माता (अरण्यानिम्) वन-वीथी की (अहम्) मै (प्र अशंसिषम्) प्रशंसा करती हूँ।

५. विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। — सा०द० १०.६६

६. विश्वामित्रः सर्वमित्र। सदाः कल्याणदानः—निरु०२.२४। विपाट् विपाटनाद्वा विपाशनाद् वा, विप्रापणाद् वा। शुतुद्री शुद्राविणी, आशु तुन्नेव द्रवतीति वा। निरु० ९.२४

७. (उशती) समुद्र के पास जाना चाहती हुई (विपाट्छुतुद्री) चौड़े पाटवाली तथा वेगवती ये दोनों नदियाँ (पर्वतानाम् उपस्थात्) पहाड़ो की गोद से निकलकर (विषिते अश्वे इव) घुड़दौड़ में खोली हुई घोड़ियों के समान (हासमाने) एक-दूसरी से स्पर्धा करती हुई, (शुभ्रा) धौली (मातरा गावा इव) गाय माताओं के समान (रिहाणे) तटरूप बछड़ों को चाटती हुई (पयसा) पानी से (जवेते) दौड़ लगा रही हैं।

८. सिन्धुः स्यन्दनात्। —निरु० ९.२४

९. (स्वसारः) हे बहिनो, (कारवे) मुझ स्तुतिकर्ता की कार्यसिद्धि के लिए (उ सु श्रृणोत) मेरी बात को सुन लो, मान जाओ। मै (दूरात्) दूर से (अनसा) ठेले के साथ और (रथेन) रथ के साथ (आ ययौ) आया हूँ। तुम (सु) भलीभाँति (नि नमध्वम्) नीचे झुक जाओ, (सुपाराः भवत) आसानी से पार करने योग्य हो जाओ। (सिन्धवः) हे नदियो, तुम (स्रोत्याभिः) अपने प्रवाहों से (अधोअक्षाः) मेरे पहिए की कील से नीची हो जाओ।

१०. (भूम्याः उपरि) भूमि के ऊपर, और (दिवि) आकाश में (स्वनः) सिन्धु का शब्द (यतेत) फैल रहा है। यह सिन्धु (भानुना) चमकीली लहर से (अनन्तम् शुष्मम्) अनन्त बल को (उदियर्ति) उठा रहा है। (यत्) जब (सिन्धुः) सिन्धु (वृषभः न) बैल के समान (रोरुवत्) डकारता हुआ (एति) जा रहा है, तब

(इव) ऐसा लगता है मानो (अभ्रात्) बादल से (वृष्टयः) वर्षाएँ (प्र स्तनयन्ति) गरज के साथ बरस रही हों।

११. (सिन्धुः युवतिः) यह सिन्धुरूप युवति (स्वश्वा) सुन्दर घोड़ों को जोते हुए (सुरथा) सुन्दर रथ पर बैठी हुई, (सुवासाः) सुन्दर साड़ी पहने हुए (हिरण्ययी) सोने के आभूषण पहने हुए, (सुकृता) सुसज्जित, (वाजिनीवती) क्रियामयी, (ऊर्णावती) ऊन के वस्त्र पहने हुए, (सीलमावती) शीलवती प्रतीत हो रही है। (उत) ओर (सुभगा) सौभाग्यवती यह (मधुवृधम्) माधुर्यवर्धक रूप को (अधिवस्ते) धारण किए हुए है।

१२. (वातस्य रथस्य) वायु के रथ की (नु) शीघ्र ही (महिमानम्) महिमा को देखो, यह (रुजन्) तोड़-फोड़ मचाता हुआ (एति) चल रहा है, (स्तनयन्) गर्जता हुआ (अस्य) इसका (घोषः) घोष है। (दिविस्पृक्) आकाश को छूता हुआ यह, दिक्प्रान्तों को (अरुणानि) लाल-लाल करता हुआ (याति) जा रहा है, (उतो) और (पृथिव्याः) भूमि की (रेणुम्) धूल को (अस्यन्) उड़ाता हुआ (एति) चल रहा है।

१३. (वातस्य अनु) वायु के साथ-साथ (विष्ठाः) विशेष रूप से स्थिर वृक्ष, लता आदि (सं प्रेरते) झूलने लगते हैं। (समनं न योषाः) समान मनवाले वर को जैसे पत्नी प्राप्त होती है, वैसे ही (एनम्) इस वायु में (योषाः) जलराशियाँ (आ गच्छन्ति) आ मिलती हैं। (ताभिः) उन जल-राशियों के साथ (सयुक्) सहयोगी होकर (सरथम्) एक रथ पर चढ़कर (अस्य विश्वस्य भुवनस्य) इस सम्पूर्ण भुवन का (राजा) राजा (देवः) क्रीड़ा करनेवाला वायु (ईयते) यात्रा करता है।

१४. मेंढकों के पक्ष में—(व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) व्रतचारी ब्राह्मणों के समान (संवत्सरम्) वर्ष-भर (शशयानाः) जो भूमि के अन्दर सोये हुए तपस्या कर रहे थे, वे (मण्डूकाः) मेंढक (पर्जन्यजिन्विताम्) बादल से तृप्त की हुई (वाचम्) वाणी को (प्र अवादिषुः) प्रकृष्ट रूप से बोल रहे हैं।

ब्राह्मणों के पक्ष में—(संवत्सरम्) वर्ष-भर (शशयानाः) योगनिद्रा में लीन (व्रतचारिणःब्राह्मणाः) व्रतचारी ब्राह्मण (मण्डूकाः) मेंढकों के समान (पर्जन्य-जिन्विताम्) बादल से तृप्त की हुई (वाचम्) वेदपाठ की वाणी को (प्र अवादिषुः) प्रकृष्ट रूप से बोल रहे हैं।

१५. संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपि वोपमार्थे स्याद् ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः इति। —निरु० ९.५

१६. **मेंढकों के पक्ष में**—(एषाम्) इन मेंढकों में से (एकः) एक (गोमायुः) गाय-जैसी आवाज करनेवाला है, (एकः) एक (अजमायुः) बकरे-जैसी आवाज करनेवाला है, (एकः) एक (पृश्निः) चितकबरा है, (एकः) एक (हरितः) हरा है। (समानं नाम बिभ्रतः) समान नाम को धारण करते हुए ये मेंढक (विरूपाः) विभिन्न रूपोंवाले होते हुए (पुरुत्रा) बहुत से स्थानों पर (वदन्तः) बोलते हुए (वाचं पिपिशुः) वाणी को प्रकट कर रहे हैं।

ब्राह्मणों के पक्ष में—इन ब्राह्मणों में से (एकः) एक (अजमायुः) अज शब्द पर अनुसन्धान करनेवाला है, (एकः) एक (पृश्निः) सूर्यसम गौरवर्ण है,

(एक:) एक (हरित:) कृष्णवर्ण है। (समानं नाम बिभ्रत:) ब्राह्मणरूप समान नाम को धारण करते हुए ये (विरूपा:) विभिन्न योग्यताओंवाले होते हुए (पुरुत्रा) अनेक स्थानों पर (वदन्त:) सस्वर वेदपाठ करते हुए (वाचम्) वेदवाणी को (पिपिशु:) प्रचारित करते हैं।

१७. (एषा) यह (दिव: दुहिता) द्यौ की पुत्री, (शुक्रवासा:) सफेद साड़ी पहने हुए (युवति:) उषारूप युवति (व्युच्छन्ती) छिटकती हुई (प्रत्यदर्शि) दिखाई दे रही है। (विश्वस्य) सम्पूर्ण (पार्थिवस्य वस्व:) पार्थिव धन की (ईशाना) अधिष्ठात्री तू, (सुभगे उष:) हे सौभाग्यमयी उषा, (इह अद्य) यहाँ आज (व्युच्छ) अंधकार को दूर कर।

१८. हे भाइयो, (उदीर्ध्वम्) उठो, (जीव: असु:) जीवनदायक प्राण (न: आगात्) हमें प्राप्त हुआ है। (तम:) अंधकार (अप प्रागात्) दूर हट गया है, (ज्योति:) ज्योति (आ एति) आ रही है। उषा ने (सूर्याय यातवे) सूर्य के चलने के लिए (पन्थाम्) मार्ग को (आरैक्) खाली कर दिया है। हम (अगन्म) उस अवस्था को पहुँच गए हैं (यत्र) जहाँ पहुँचकर लोग (आयु:) आयु को (प्र तिरन्ते) बढ़ा लेते हैं।

१९. देखो, (एषा) यह (समना) अनुकूल मनवाली (दिव:-दुहिता) द्यौ की पुत्री उषा (ज्योति: वसाना) ज्योति को धारण किए हुए (पुरस्तात्) सामने (प्रत्यदर्शि) दिखाई दे रही है। यह (साधु) भली-भाँति (ऋतस्य पन्थाम्) सत्य के पथ का (अन्वेति) अनुसरण करती है, यह (प्रजानती इव) ज्ञानवती के समान (दिश:) मर्यादाओं को (न मिनाति) नहीं तोड़ती है।

२०. **किरणों के पक्ष में**—(सुपर्णा:) सुन्दर उड़ान लेनेवाले (वय:) किरणरूप (प्रियमेधा: ऋषय:) प्रियबुद्धि ऋषि (नाधमाना:) याचना करते हुए (इन्द्रम् उपसेदु:) सूर्य के पास पहुँचे और कहने लगे कि (निधया इव बद्धान्) मानो जाल में बंधे हुए (अस्मान्) हमें आप (मुमुग्धि) छोड़ दो। हमारे द्वारा (ध्वान्तम्) अंधेरे को (अप ऊर्णुहि) दूर कर दो, प्राणियों की (चक्षु:) आँख को (पूर्धि) प्रकाश से पूर्ण कर दो।

छात्रों के पक्ष में—(सुपर्णा:) कल्पना की ऊँची उड़ानवाले, (वय:) गतिशील व कर्मण्य (प्रियमेधा:) बुद्धिप्रिय (ऋषय:) ज्ञानी छात्र (नाधमाना:) याचना करते हुए (इन्द्रम् उपसेदु:) आचार्य के समीप पहुँचे और कहने लगे कि (निधया इव बद्धान्) मानो जाल में बंधे हुए (अस्मान्) हमें आप (मुमुग्धि) गुरुकुल से बाहर जाने के लिए छोड़ दो, हमारे द्वारा आप (ध्वान्तम्) संसार में फैले अविद्या के अंधकार को (अप ऊर्णुहि) हटा दो, (चक्षु:) लोगों के द्रष्टा आत्मा को (पूर्धि) ज्ञान-प्रकाश से भर दो।

२१. (चित्रम्) अद्‌भुत या चित्र-विचित्र (देवानाम् अनीकम्) प्रकाशक किरणों का समूह (उदगात्) उदित हुआ है, जो (मित्रस्य) वायु का (वरुणस्य) जल का, और (अग्ने:) अग्नि का (चक्षु:) प्रकाशक है। सूर्य ने (द्यावापृथिवी) द्यौ और भूमि को, तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आप्रा:) प्रकाश से परिपूर्ण कर दिया है। (सूर्य:) सूर्य (जगत:) जगत् का (तस्थुष:च) और स्थावर का (आत्मा) आत्मा है, जीवनाधार है।

२२. (दिवः) द्यौ-रुपिणी देवी का (रुक्मः) स्वर्णाभूषण, (उरुचक्षाः) विस्तीर्ण प्रकाशवाला, (दूरे अर्थः) सुदूर यात्रा के लक्ष्यवाला, (तरणिः) आकाश-सागर का नौकारूप, (भ्राजमानः) चमकता हुआ सूर्य (उदेति) उदित हो रहा है। (नूनम्) निश्चय ही (जनाः) मनुष्य (सूर्येण प्रसूताः) सूर्य से प्रेरित होकर (अर्थानि) अपने-अपने लक्ष्यों को (अयन्) प्राप्त करते है और (अपांसि) कर्मों को (कृणवन्) करते हैं।

२३. (भद्रा युवतिः) भद्र युवति (रात्री) रात्रि (आ प्रागात्) आ पहुँची है, (अहः) दिन की (केतून्) किरणों को (समीर्त्सति) समेट रही है। (भद्र) भली लगने वाली यह (विस्वस्य जगतः) सारे जगत् की (निवेशनी) विश्रामदायिनी (अभूत्) हुई है।

२४. यह बादल (कशया) चाबुक से (अश्वान्) घोड़ो को (अभिक्षिपन्) हाँकते हुए (रथी इव) रथस्वामी के समान (दूतान्) मानसून-पवनरूप दूतों को (आविः कृणुते) प्रकट कर देता है अर्थाव् जैसे रथस्वामी अपने आगमन के सूचनार्थ आगे-आगे दूतों को भेज देता है, वैसे ही बादल वर्षा के सूचनार्थ मानसून पवनों को भेज देता है। (यत्) जब (पर्जन्यः) बादल (नभः) आकाश को (वर्ष्यम्) बरसाऊ (कृणुते) करता है,तब (दूरात्) दूर से (सिहंस्य) शेर की (स्तनथाः) गर्जनाएँ (उदीरते) उठती हैं।

२५. (वाताः) हवाएँ (प्रवान्ति) तेजी से चलती हैं, (विद्युतः) बिजलियाँ (पतयन्ति) गिरती हैं, (ओषधीः) ओषधियाँ (उत् जिहते) ऊपर जाती है, (स्वः) आकाश (पिन्वते) बरसता है। (विश्वस्मै भुवनाय) सब भुवन के लिए (इरा) अन्न (जायते) पैदा हो जाता है, (यत्) जब (पर्जन्यः) बादल (पृथिवीम्) भूमि को (रेतसा) वर्षाजल से (अवति) तृप्त करता है।

२६. (एतौ शिशू) ये सूर्य-चन्द्र रूप दो शिशु (मायया) माया से (पूर्वापरं चरतः) एक-दूसरे के बाद आकाश में विचरते हैं, (कीडन्तौ) गगन-प्रांगण में क्रीडा करते हुए (अध्वरम्) संवत्सररूप यज्ञ की (परि यातः) परिक्रमा करते हैं। (अन्यः) इनमें से एक सूर्य (विश्वानि भुवना) सब भुवनों को (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है, (अन्यः) दूसरा चन्द्रमा (ऋतून्) चान्द्र ऋतुओं को (विदधत्) उत्पन्न करता हुआ (पुनः) फिर-फिर (जायते) नये रूप में उत्पन्न होता है।

२७. (विद्युतः) बिजली के (अतः) इस (हस्कारात्) अट्टहास से (परि जाताः) उत्पन्न हुए (मरुतः) पवन (नःअवन्तु) हमारी रक्षा करें, (नः मृडयन्तु) हमें सुखी करें।

२८. (यत्) जब (एषाम्) इन मरुतों या मानसून पवनों की (वृष्टिः) वर्षा (असर्जि) उत्पन्न होती है, तब (वाश्रा इव) गाय के समान (विद्युत्) बिजली (मिमाति शब्द करती है, (वत्सं न माता सिषक्ति) जैसे गाय माता बछड़े को प्राप्त करती है, वैसे ही वृष्टि भूमण्डल रूप वत्स को प्रापत करती है।

२९. ये मरुत् या मानसून पवन (यत्) जब (उदवाहेन पर्जन्येन) पानी को ढोनेवाले बादल के द्वारा (पृथिवीम्) भूमि को (व्युन्दन्ति) गीला करते हैं, तब (दिवा चित्) दिन में भी (तमः) अँधेरा (कृण्वन्ति) कर देते हैं।

□□

वेदों में अन्योक्ति काव्यालंकार

काव्यशास्त्रियों ने कतिपय अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार कल्पित किये हैं, जिन्हे कविजन अपने काव्यों में कविता को अलंकृत करने तथा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। परन्तु यह नहीं मान बैठना चाहिए कि काव्यशास्त्रियों ने अलंकार पहले निर्धारित कर लिये थे, उनका प्रयोग कवियों ने बाद में किया। वस्तुस्थिति यह हैं कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि महाकवियों के काव्यों में प्रयुक्त अलंकृत शब्दार्थो को देखकर ही भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने नामोल्लेख-सहित अलंकारों की उद्भावना की। लौकिक काव्यों से भी पूर्व वेदसहिंताओं में तथा ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य में अलंकारों का प्रयोग मिलता है, अतः काव्यालंकारों के मूल उद्भव वेदों को ही माना जाना चाहिए।

यहाँ हम वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति अलंकार को लेकर कुछ विवेचना करेंगे। अन्योक्ति अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के अन्तर्गत आता है। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में वर्णन अप्रस्तुत का होता है, किंतु उससें व्यंजना प्रस्तुत की हो रही होती है। काव्यप्रकाश के रचियता आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के पाँच भेद दर्शाए हैं—१. कार्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कारण का वर्णन करना, २. कारण के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन करना, ३. सामान्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत विशेष का वर्णन करना, ४. विशेष के प्रस्तुत होने पर प्रस्तुत सामान्य का वर्णन करना, ५. तुल्य के प्रस्तुत होने पर उसके तुल्य किसी अन्य का वर्णन करना।[१] अप्रस्तुतप्रशंसा के पाँचवे भेद को ही प्रायः रीतिकालीन आचार्यो ने अन्योक्ति अलंकार नाम दिया है।

इस अन्योक्ति अलंकार को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत-साहित्य से इसके कुछ उदाहरण आगे दिए जा रहे हैं—

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च॥

'इस दुष्ट समुद्र ने सरिताओं के मुखों से चारों ओर से पानी लेकर भला क्या कमाई की? उस पानी को खारा कर दिया, वाडवाग्नि में उसकी आहुति दे दी और पाताल को कोख में डाल दिया।' यहाँ अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से उस प्रस्तुत मनुष्य की व्यंजना हो रही है जो दूसरों की संपत्ति को अपने अधीन करके दुष्कार्य में लगा देता है।

एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति।
अम्बरमावृतिशून्यं हर-हर शरणं विधेः करुणा॥

'कबूतर का बच्चा एक है, उसकी ओर भूख से पीडित सैकड़ों बाज दौड़े आ रहे हैं। आकाश में कोई छिपने का स्थान भी नहीं हैं। ऐसी अवस्था में विधाता की दया ही शरण है।' यहाँ कोई शत्रुओं से आक्रमण किया जाता हुआ, शरणहीन, असहाय मनुष्य प्रस्तुत है, उसके स्थान पर अप्रस्तुत कपोत-शिशु का वर्णन किया गया है।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वे तु नैकादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

'हे मित्र चातक, क्षण-भर के लिए सावधान मन से मेरी बात सुन लो। आकाश में बादल तो बहुत से हैं, किन्तु सब एक समान नहीं हैं। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो वर्षा से भूमि को सींचते हैं, किन्तु दूसरे कुछ ऐसे भी हैं जो केवल व्यर्थ गर्जना ही करते हैं, देते कुछ नहीं। इसलिए जिसे भी देखो उसी के आगे दीन वचन बोलकर याचना मत करो। यहाँ अप्रस्तुत चातक के वृत्तान्त से प्रस्तुत याचक को कहा जा रहा हैकि तुम देने वाले और न देनेवाले हर-एक के आगे हाथ मत पसारो।

इसी प्रसंग में कबीर का यह दोहा भी द्रष्टव्य है—

माली आवत देखि के, कलियन करी पुकार।
फूली-फूली चूनि लिये, काल्हि हमारी बार॥

'माली को आता देखकर कलियाँ पुकार मचा रही हैं कि माली ने फूली-फूली कलियों को चुन लिया है, कल हमारी भी बारी आने वाली है।' यहाँ माली और कलियों के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा सभी लोग यमराज के मुख में जानेवाले हैं—यह प्रस्तुत अर्थ सूचित हो रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी स्थलों में यह बात दिखाई देती है कि प्रस्तुत कोई अन्य है और वृत्तान्त किसी अन्य अप्रस्तुत का वर्णित किया जा रहा है।

इस अलंकार को आचार्य रुद्रट ने भी अन्योक्ति नाम से ही स्मरण किया है तथा निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम्।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि॥

कोई हंस दूसरे से कह रहा है कि राजहंस जिसमें लीलापूर्वक विहार करते हैं और जो खिले हुए कमलों से उज्ज्वल हैं उस सरस सरोवर को छोड़कर तू बगुलों से विलोडित जलवाले जोहड़ को चाह रहा है, इससे प्रतीत होता हैं कि

तू सचमुच हंस नहीं है। यहाँ अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त से उस प्रस्तुत नरश्रेष्ठ को चेतावनी दी जा रही है, जो अपनी श्रेष्ठता को तिलांजलि देकर अश्रेष्ठ व्यवहार करने पर उतारू हो रहा है।

ऐसी अन्योक्तियाँ वेद-संहिताओं में भी बहुतायत से मिलती हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराया जा रहा है।

पहेली रूप अन्योक्तियाँ

[२]द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

—ऋ० १.१६४.२०

'परस्पर सहयोग करने वाले, एक दूसरे के सखा दो सुन्दर पंखोंवाले पंछी हैं, जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक स्वादु फल को खा रहा है, दूसरा बिना चखे केवल द्रष्टा बना हुआ है।'

वस्तुतः यहाँ पक्षियों का वृत्तान्त अप्रस्तुत है, प्रस्तुत है परमात्मा, जीवात्मा और जगत्। परमात्मा और जीवात्मा एक दूसरे के सखा हैं तथा एक ही जगत्रूप वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक जीवात्मा जगत् के स्वादु फलों का भोग कर रहा है, दूसरा परमात्मा साक्षीमात्र बना हुआ है। इस प्रकार अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा यहाँ प्रस्तुत की व्यंजना हो रही है।

[३]द्वादशारं नहि तज्जराय बर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥

—ऋ० १.१६४.११

'बारह अरोंवाला एक चक्र है, जो टूटता नहीं। सत्य नियमों वाला वह चक्र आकाश में चक्कर काट रहा है। एक विशेष बात यह है कि इसके ऊपर ७२० युगल पुत्र बैठे हुए हैं।'

यहाँ अप्रस्तुत बारह अरोंवाले चक्र के वर्णन से प्रस्तुत बारह महीनों से युक्त संवत्सर की अभिव्यंजना हो रही है, जिसमें ७२० मिथुनभूत (अहोरात्र ३६० दिन और ३६० रात्रियाँ) स्थित हैं।

इस श्रेणी की अन्योक्तियाँ वेदों में बहुत हैं।

अग्नि को सम्बोधित अन्योक्तियाँ

कुछ अन्योक्तियाँ वेदों में अग्नि को भी सम्बोधित की गई हैं। यथाः

[४]सः सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥

—यजु० ११.३७

'हे अग्नि, तू उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तु महान् है, विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू संसार में जगमगा। हे पवित्र प्रशस्त अग्नि, तू आरोचमान धुएँ को उत्पन्न

कर।'

यहाँ वक्ता का इसमें कोई तात्पर्य नहीं है कि भौतिक अग्नि चमके और गगनचुम्बिनी धूमशिखा को ऊपर उठाए। वस्तुतः यहाँ मनुष्य प्रस्तुत है। अप्रस्तुत अग्नि के उद्बोधन द्वारा प्रस्तुत मानव को उद्बोधन दिया जा रहा है कि तू अपनी शक्ति को पहचान, तू महान् है, संसार में सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त कर, अनुपम तेज से जगमगा, अपने आरोचमान तथा दर्शनीय प्रभावरूप धूम को सर्वत्र फैला।

[५]प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥

—यजु० १२.३२

हे ज्योतिर्मय अग्नि, तू अपनी शिव ज्वालाओं से प्रयाण कर। विशाल तेजों से जगमगाता हुआ तू अपने शरीर से प्रजाओं की हिंसा मत कर।

यहाँ भी वस्तुतः वक्ता का तात्पर्य अग्नि को उद्बोधन देने में नहीं, प्रत्युत मानव को उद्बोधन देने में है। जो मनुष्य भयंकर हिंसा और घात-पात में लगा हुआ है, उसे कहा जा रहा है कि तू अपने भीषण शस्त्रास्त्रों से निर्दोष प्रजाजनों की हिंसा मत कर, प्रत्युत अपने अशिव तेज को छोड़कर शिव तेज का प्रसार कर और भयंकर नरसंहार का त्याग करके जन-कल्याण कर।

[६]उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥

—यजु० १३.१२

'हे अग्नि, तू उठ, अपनी ज्वालाओं का प्रसार कर। हे तीक्ष्ण-ज्वाल अग्नि, तू शत्रुओं को दग्ध कर। हे देदीप्यमान, जो हमसे शत्रुता करे उसे तू शुष्क वृक्ष के समान भस्म कर दे।'

यहाँ भी अप्रस्तुत अग्नि के माध्यम से प्रस्तुत मानव को ही उद्बोधन दिया जा रहा है—हे मानव, तू उठ, कमर कस ले, जागरूक रहकर अपने प्रभाव को फैला। हे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंवाले, तू अपने आग्नेयास्त्रों से शत्रुओ को जला दे। हे प्रदीप्त तेजवाले, जो हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करता है, उसे सूखे वृक्ष की भाँति भस्म कर दे।

घोड़े को सम्बन्धित अन्योक्तियाँ

वेद की कुछ इतर अन्योक्तियाँ वाजी घोड़े के नाम से मानव को उद्बोधन दे रही हैं। यथाः

[७]वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान,इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस, आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥

—यजु० ९.८

'हे घोड़े, तू वायुवेग से चल, रथ में जुड़कर तू सूर्य-जैसी शोभा से सम्पन्न हो। सर्वविद्याविशारद लोग तुझे रथ में नियुक्त करें। त्वष्टा सूर्य तेरे पैरों में वेग

उत्पन्न करे।'

वस्तुतः वहाँ घोड़े के वृत्तान्त से मानव को प्रेरित किया जा रहा है। हे बली मानव, तू वायुवेग से पुरुषार्थ कर, इन्द्र राजा के समान लक्ष्मीवान् बन। सब ज्ञान और कर्म के वेत्ता विद्वान् लोग तुझे महान् कर्मों में नियुक्त करें। त्वष्टा अर्थात् दोषच्छेदक आचार्य तेरे व्यवहारों में वेग ला देवे।

८ स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥ —यजु० २३.१५

'हे घोड़े, स्वयं तू अपने को समर्थ बना, स्वयं यज्ञ कर, स्वयं अभिलषित प्रदेश का सेवन कर। तेरी महिमा को कोई अन्य नहीं पा सकता।' यहाँ भी घोड़े के प्रोद्बोधन द्वारा मानव को ही प्रोद्बोधन दिया जा रहा है।

९ तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तव चित्तं वात इव ध्रजीयान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥
—यजु० २९.२२

'हे घोड़े, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् उछलनेवाला है, तेरा चित्त वायु के समान वेगवान् है। तेरे सींगों के समान प्रोन्नत रोम शरीर में सर्वत्र विशेष रूप से स्थित हैं, जो तेरे चलने पर टूट-टूटकर जंगलों में गिरते रहते हैं।'

यहाँ श्लेषमूलक अन्योक्ति अलंकार है। घोड़े के वृत्तान्त से मानव का वृत्तान्त वर्णित है। हे घोड़े के समान बली मानव, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् विनश्वर है, तेरा चित्त वायु के समान वेगमय है। सींगों के तुल्य विद्यमान तेरे शस्त्रास्त्र शस्त्रागारों में अनेकत्र स्थित हैं। छोड़े जाते हुए वे अरण्यों अर्थात् अरमणीय शत्रुदलों में विचरते हैं।

सूर्य से सम्बद्ध अन्योक्तियाँ

अब सूर्य-विषयक कुछ अन्योक्तियों का दिग्दर्शन करते हैं—

१० उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः॥
—अथर्व० १३.१.३२

'हे प्रकाशक सूर्य, उदित होता हुआ तू मेरे शत्रुओं को मार गिरा। इन्हें तू अश्मा अर्थात् व्यापक रश्मिजाल से विनष्ट कर दे। वे शत्रु घोर अन्धकार को प्राप्त करें।'

वस्तुतः सूर्य की अन्योक्ति से यहाँ किसी नेता को उद्बोधन किया जा रहा है। हे दिव्यगुणयुक्त नायक, उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ तू मुझ प्रार्थी के वैरियों को नष्ट कर। इन्हें तू अश्मा अर्थात् लोहे या पत्थर के गोलों से विध्वस्त कर दे। वे शत्रु भूमि के अन्दर विद्यमान अँधेरी काल-कोठरियों में डाले जाएँ।

अगले मन्त्र में हंस नाम से सूर्य का वर्णन करते हुए अन्याक्ति द्वारा जीवात्मा का वृत्तान्त सूचित किया गया है—

[११]सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य सम्पश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥

—अथर्व० १३.२.३८

'स्वर्ग अर्थात् आकाश की ओर उड़ते हुए इस सूर्यरूप हंस के उत्तरायण-दक्षिणायनरूप पंख सहस्रों दिनो से फैले हुए हैं। वह सब किरणरूप देवों को अपने वक्ष:स्थल में लेकर सब भुवनों को प्रकाशित करता हुआ यात्रा कर रहा है।'

यहाँ सूर्य के यात्रा-वृत्तान्त से जीवात्मा की यात्रा व्यंग्य हो रही है। जीवात्मा सहस्रों दिनों से अपने ज्ञान-कर्मरूप पंखों को फैलाए हुए नाना योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देवों को अपने वक्ष में धारण करता हुआ, सब भूतों को देखता हुआ संसार-यात्रा का पथिक बना हुआ है। एक अन्य मन्त्र में सूर्य को उद्‌बोधन देते हुए कहा गया है।

[१२]हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा, ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।
अब तान् जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमारोह सूर्य॥

—अथर्व० १९.६५.१

'हे सूर्य, तू हरि है, मलिनताओं को हरनेवाला है, सुपर्ण है, किरणरूप सुन्दर पंखोंवाला है, तू अपनी ज्योति के साथ द्युलोक में चढ़ जा। द्युलोक की ओर उड़ते हुए तेरी जो हिंसा करना चाहें उन्हें हे जातवेदा: सूर्य, तू अपने तेज से विनष्ट कर दे। हे सूर्य, भयभीत न होता हुआ उग्र तू अपनी अर्चि के साथ द्युलोक में आरोहण कर जा।'

यहाँ सूर्य की अन्योक्ति से परम उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील किसी मानव को ही उद्‌बोधन दिया गया है कि हे मानव, तू प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता जा, मार्ग में जो कोई भी विघ्नकारी तुझे उन्नति के मार्ग से प्रच्युत करना चाहे उसे अपने तेज से या आग्नेयास्त्रों से भस्म कर दे।

वेदों में प्रयुक्त उपरिलिखित कतिपय अन्योक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। पाठक अनुभव कर सकते हैं कि इनमें कितना बल है, कैसी ओजस्विनी प्रेरणा है। सीधे मनुष्य को संबोधन करने पर उतना ओज, उतनी गरिमा, उतनी स्फूर्ति, उतनी तेजस्विता प्रकट नहीं हो सकती थी, जितनी अग्नि, अश्व, सूर्य आदि के माध्यम से मनुष्य को संबोधन करने में उत्पन्न हो सकी है।

अन्त में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्योक्ति अलंकार तभी होता है जब अप्रस्तुत का वर्णन किया जा रहा हो तथा उससे प्रस्तुत की व्यंजना हो रही हो। उपर्युक्त उदाहरणों में यदि अग्नि, अश्व एवं सूर्य को प्रस्तुत मान लें, तब यह अन्योक्ति नहीं होगी, प्रत्युत समान कार्य, लिंग एवं विश्लेषणों के बल से अग्नि, अश्व, सूर्य आदि में नेता मनुष्य के व्यवहार का समारोप होन से समासोक्ति अलंकार हो जाएगा, किन्तु यदि यौगिक अर्थ के बल से अग्नि, वाजी, सूर्य, हंस, हरि आदि शब्द वह्नि, अश्व और सूर्य रूप वाच्यार्थों

के साथ-साथ अग्रनेता, बलवान्, सन्मार्गप्रेरक, प्रकाशमान, प्रकाशक मनुष्य को भी अभिहित करें तब दोनों अर्थों के प्रकृत होने से श्लेष अलंकार होगा।

पाद टिप्पणियाँ—

१. अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ — का०प्र० १०.९८.९९

२. पदार्थ—(द्वा) दो (सयुजा) सहयोगी, (सखाया) सखा (सुपर्णा) सुन्दर पंखों वाले पक्षी (समानं वृक्षम्) एक ही वृक्ष को (परिषस्वजाते) आलिंगन किये हुए हैं। (तयोः) उन दोनों में से (एकः) एक (स्वादु) स्वादु (पिप्पलम्) फल को (अत्ति) खा रहा है, (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) केवल देख रहा है।

३. (द्वादशारम्) बारह अरोंवाला (ऋतस्य चक्रम्) सत्यमय चक्र है, (तत्) वह (न हि जराय) टूटता नहीं है,किन्तु (द्याम्) आकाश में (परिवर्वर्त्ति) चक्कर काट रहा है। (अग्ने) हे विद्वन् (अत्र) इस चक्र में (सप्तशतानि विंशतिः च) सात सौ ओर बीस (मिथुनासः पुत्राः) जोड़ीदार पुत्र (आ तस्थुः) आकर बैठे हुए हैं।

४. (मियेध्य प्रशस्त अग्ने) हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू (संसीदस्व) उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू (महान् असि) महान् है। (देववीतमः) विद्वानों को प्राप्त होनेवाला तू (शोचस्व) चमक। (अरुषम्) चमकीले, (दर्शतम्) दर्शनीय (धूमम्) धुएँ को (विसृज) छोड़, उत्पन्न कर।

५. (अग्ने) हे अग्नि, (ज्योतिष्मान् त्वम्) ज्योतिष्मान् तू (शिवेभिः अर्चिभिः) शिव ज्वालाओं के साथ (प्रयाहि इत्) अवश्य प्रयाण कर। (बृहद्भिः) बड़े-बड़े (भानुभिः) प्रकाशों से (भासन्) भासित होता हुआ तू (तन्वा) शरीर से (प्रजाः) प्रजाओं की (मा हिंसीः) हिंसा मत कर।

६. (अग्ने) हे अग्नि, तू (उत् तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रत्यातनुष्व) ज्वालाओं को फैला। (तिग्महेते) हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (नि ओषतात्) निर्दग्ध कर दे। (समिधान) हे देदीप्यमान, (यः) जो (नः) हमारे प्रति (अरातिम्) अदान को, हानि को (चक्रे) उत्पन्न करे (नीचा तम्) उस नीच को (शुष्कम् अतसं न) सूखे वृक्ष के समान (धक्षि) भस्म कर दे।

७. (वाजिन्) हे बलवान् घोड़े, (युज्यमानः) रथ में जोड़ा जाता हुआ तू (बातरंहाः भव) वायु के समान वेग वाला हो। (दक्षिणः) दक्षतायुक्त तू (इन्द्रस्य इव) सूर्य के जैसी (श्रिया) शोभा से (एधि) युक्त हो। (विश्ववेदसः) सब विद्याओं के ज्ञाता (मरुतः) मनुष्य (त्वा) तुझे (युञ्जन्तु) रथ में नियुक्त करें। (त्वष्टा) सूर्य (ते) तेरे (पत्सु) पैरों में (जवम्) वेग (आ दधातु) रख देवे।

८. (वाजिन्) हे घोड़े, तू (स्वयम्) अपने-आप (तन्वम्) शरीर को (कल्पयस्व) समर्थ बना, (स्वयम्) अपने-आप (यजस्व) यज्ञ कर, (स्वयम्) अपने-आप (जुषस्व) मनोवांछित प्रदेश का सेवन कर। (ते महिमा) तेरी महिमा

(अन्येन) दूसरे के द्वारा (न संनशे) प्राप्त नहीं की जा सकती।

९. **घोड़े के पक्ष में**—(अर्वन्) हे घोड़े (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) उछलनेवाला है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान् है। (तव शृंगाणि) तेरे सींग अर्थात् सींगों के समान प्रोन्नत रोम (पुरुत्रा) तेरे सारे शरीर में (विष्ठिता) विविध रूप में स्थित हैं, जो (जर्भुराणा) टूट-टूटकर (अरण्येषु) जंगलों में (चरन्ति) गिरते हैं।

मानव के पक्ष में—(अर्वन्) हे अग्रणी मानव, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) नाशवान् है, (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान् है। (तव शृंगाणि) सींगों के तुल्य नुकीले तेरे शस्त्रास्त्र (पुरुत्रा) बहुत से स्थानों में (विष्ठिता) विविध रूप में स्थित है, जो (जर्भुराणा) प्रहार किए जाने पर (अरण्येषु) अरमणीय शत्रुओं पर (चरन्ति) गिरते हैं।

१०. (देव सूर्य) हे प्रकाशक सूर्य, (उद्यन् त्वम्) उदित होता हुआ तू (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (अव जहि) मार गिरा। (एनान्) इन्हें (अश्मना) व्यापक रश्मिजाल से (अव जहि) मार गिरा। (ते) वे शत्रु (अधमं तमः) निचले अँधेरे में (यन्तु) चले जाएँ।

११. (स्वर्गं पततः) आकाश की ओर उड़ते हुए (हरेः) मलिनताओं को हरनेवाले (अस्य हंसस्य) इस सूर्यरूप हंस के (पक्षौ) उत्तरायण-दक्षिणायनरूप पंख (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों से (वियतौ) फैले हुए है। (सः) वह (सर्वान् देवान्) सब प्रकाशक किरणों को (उरसि) अपने वक्षः-स्थल में अर्थात् सूर्यमण्डल में (उपदद्य) देकर (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (सम्पश्यन्) प्रकाशित करता हुआ (याति) गति कर रहा है।

१२. (हरिः) मलिनताओं को हरनेवाला (सुपर्णः) किरणरूप सुन्दर पंखोवाला तू, हे सूर्य (अर्चिषा) ज्योति से (दिवम्) मध्याह्न के आकाश में (आरुहः) चढ़ जा। (दिवम् उत्पतन्तम्) मध्याह्नाकाश की ओर उड़ते हुए (त्वा) तुझे (ये दिप्सन्ति) जो दबाना चाहें, विघ्नित करना चाहें (तान्) उन्हें, (जातवेदः) हे प्रकाशक सूर्य, तू (हरसा) ज्योति से (अव जहि) मार गिरा। (अबिभ्यत्) भयभीत न होता हुआ (उग्रः) उग्र तू, (सूर्य) हे सूर्य (अर्चिषा) तेज के साथ (दिवम्) मध्याह्नकाश में (आरोह) चढ़ जा।

१३. समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यावहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥ —सा०द० १०.५६

□□

वैदिक संस्कृति में जीवन का स्वरूप

—प्रस्तुति : डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार

जीवन जीने का नाम है और जीना एक कला है। यों तो जीवन शब्द का प्रयोग भाषा में सबके साथ कर दिया जाता है—प्राणी का जीवन, वृक्ष का जीवन, समुद्र का जीवन, पाषाण का जीवन, परन्तु वस्तुतः जीवन शब्द की सार्थकता मनुष्य के साथ ही है। इतर प्राणियों या जड़ पदार्थों का जीवन एक बनी-बनाई पद्धति पर चलते रहना है, परन्तु मनुष्य अपनी जीवन की पद्धति का निर्माण स्वयं करता है। वह पद्धति क्या है, इसी में जीवन की व्याख्या निहित है।

जीवन एक यज्ञ है

छान्दोग्य उपनिषद् कहती है कि मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। यज्ञ के तीन सवन होते हैं—प्रातः-सवन, माध्यन्दिन-सवन और सायं-सवन। मनुष्य-जीवन के प्रथम चौबीस वर्ष मानो प्रातः सवन हैं, क्योंकि प्रातः-सवन का सम्बन्ध गायत्री छन्द से होता है, और गायत्री छन्द में चौबीस अक्षर होते हैं। जो मनुष्य अपने इन प्रातः-सवनरूप चौबीस वर्षो को यज्ञ-भावना से व्यतीत करने का यत्न करता है, वसु-नामक प्राण उसके अधीन हो जाते हैं। जीवन के अगले चौवालीस वर्ष माध्यन्दिन-सवन हैं, क्योंकि इस सवन का सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्द से है,और त्रिष्टुप् छन्द में चौवालीस ही अक्षर होते हैं। जो मनुष्य इन माध्यन्दिन-सवनरूप चौवालीस वर्षों को यज्ञ-भावना से व्यतीत करता है, रूद्र-नामक प्राण उसके अधीन हो जाते है। जीवन के अगले अड़तालीस वर्ष सायं-सवन है, क्योंकि इस सवन का सम्बन्ध जगती छन्द से है और जगती छन्द में अड़तालीस ही अक्षर होते हैं। जो मनुष्य इन सायं-सवन रूप अड़तालीस वर्षो को यज्ञ-भावना से व्यतीत करता है, आदित्य-नामक प्राण उसके अधीन हो जाते हैं। जीवन के इन यज्ञिय सवनों में यदि मनुष्य को कोई आधि-व्याधि सताये, तो वह अपने सम्पूर्ण मनोबल के साथ उसे ललकार कर कहे—मेरे यज्ञ को विघ्नित मत करो। तब वह अवश्य उससे छूट जाता है। इस यज्ञ-भावना से चलनेवाला व्यक्ति अपने सात्त्विक जीवन के साथ ११६ वर्ष जीवत रह सकता है। उपनिषद् कहती है कि महीदास ऐतरेय ने यह परीक्षण किया था।

सचमुच वैदिक संस्कृति में मनुष्य का सारा जीवन ही यज्ञमय है। उसके जीवन का आरम्भ जातकर्म संस्कार से होता है और जीवन की परिसमाप्ति अन्त्येष्टि संस्कार पर होती है। मध्य में नामकरण, निष्क्रमण, अन्न-प्राशन, चूडा-कर्म, कर्णवेध, उपनयन, समावर्तन; विवाह, वानप्रस्थ एवं संन्यास संस्कार होते हैं। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञरूप पंचयज्ञ का अनुष्ठान उसे प्रतिदिन ही करना होता है। स्मार्त तथा श्रौत यज्ञों से उसका जीवन ग्रथित रहता है। यज्ञ का प्रतीक अग्नि उसके साथ रहता है। यज धातु के देवपूजा, संगति

हितार्थ किए जानेवाले महान् कार्य भी यज्ञ कहलाते हैं। वे यज्ञ भी मनुष्य को करणीय होते हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण यज्ञ अध्यात्म-साधना है। मनुष्य की आत्मा यजमान है, मन उसका ब्रह्मा है, प्राण उद्गाता है, वाक् होता है, चक्षु अध्वर्यु है—**पुरुषो वै यज्ञस्तस्य मन एवं ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अङ्गानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः** —गोपथ उ० ५.४। शरीर के अन्दर अवस्थित अन्य शक्तियाँ इतर ऋत्विजों का कार्य कर रही हैं। परमात्मा ही इस यज्ञ का अग्नि है। उसमें आत्मसमर्पण की हवि दी जाती है। इस अध्यात्म-यज्ञ को करते हुए मनुष्य के आत्मा को ऊर्ध्वारोहण के साथ शाश्वत उत्कर्ष प्राप्त करना है।

प्रगति जीवन की धारा है

मानव शरीर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। उसका एक-एक क्षण बहुमूल्य है। जीवन के मूल्यवान् क्षणों को यदि हमने आलस्य, प्रमाद और तन्द्रा में व्यतीत कर दिया, तो हमसे अधिक अभागा और कौन होगा! हमें तो त्वरित गति से प्रगति करनी है। इसलिए वेद मनुष्य को उद्बोधन कर रहा है—

[१]उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥

—अथर्व० ८.१.६

"हे पुरुष, ध्यान रख, तेरी उन्नति हो, अवनति नहीं। तुझे मैं जीवन और बल दे रहा हूँ। तू इस अमृतमय, सुखगामी शरीर-रथ पर आरूढ़ हो और दीर्घजीवी होता हुआ ज्ञान-चर्चा कर।"

[२]अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥

—अथर्व०१२.२.२६

"राग, द्वेष, मेह आदि के पत्थरोंवाली सांसारिक नदी वेग से बह रही है। हे मित्रो, उठो, मिलकर उद्यम करो और इसे पार कर लो। जो तुम्हारे पास खोटी चालों का बोझ है उसे तुम यहीं छोड़ दो। आओ, आधि-व्याधि रहित ऐश्वर्यों को पाने के लिए हम-तुम उस पार पहुँचें।"

[३]दिवं च रोह पृथिवीं च रोह।
राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह॥ —अथर्व १३.१.३४

"हे मनुष्य, तू आध्यात्मिक उन्नति कर, भौतिक उन्नति कर, आर्थिक उन्नति कर।"

[४]शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ —अथर्व २.११.५

"हे मनुष्य, तू शुद्ध है, तेजस्वी है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान् है। श्रेष्ठों तक पहुँच, समकक्षों से आगे बढ़।"

जागरूकता जीवन का धन है

वैदिक संस्कृति का जीवन सतत जागरूक जीवन है। उसमें प्रमाद का कोई स्थान नहीं है। तन्द्रा में पड़े रहना और तामसिकता में आनन्द लेना मानव की गरिमा के अनुरूप नहीं है।

[५]इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ —ऋ० ८.२.१८

"जो मनुष्य जागकर यज्ञ कर्मो में तत्पर होता है, उसी को देवजन चाहते हैं। वे सानेवाले से प्रीति नहीं करते। देवजन स्वंय अतन्द्रालु होते हैं, अतः वे तन्द्रालु प्रमादी को दण्डित करते हैं।"

[६]यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

—ऋ० ५.४४.१४

"जो जागता है उसी से ऋचाएँ प्यार करती हैं, जो जागता है उसी से साम प्यार करते हैं। जो जागता है उसी का सोमप्रभु सखा बनता है।"

दीक्षा जीवन का संबल है

वैदिक जीवन में व्रत-ग्रहण का बहुत महत्त्व है। जब मनुष्य किसी सत्कार्य का व्रत ले लेता है, तब उसके अन्दर उस कार्य का सफलतापूर्वक निर्वाह करने की अपूर्व क्षमता आ जाती है। व्रत-लोप का भय उसे उस शुभ कार्य से विचलित नहीं होने देता। श्रुति कहती है—

[७]व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

—यजु० १९.३०

"व्रत-ग्रहण से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है। दीक्षा ले लेने पर कार्यपूर्ति या फलप्राप्तिरूप दक्षिणा मिलती है। दक्षिणा या फल प्राप्ति से उस कार्य के प्रति अन्यों को भी श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।"

अग्नि-समिन्धन की दीक्षा लेता हुआ वैदिक स्तोता उद्गार प्रकट करता है—

[८]अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्॥

—यजु० २०.२४

"हे व्रतपति अग्नि, मैं तुझमें समिधा का आधान करता हूँ। मैं व्रत और

श्रद्धा को प्राप्त करके दीक्षित होकर तुझे प्रज्ज्वलित करता हूँ।''

यह केवल अग्निहोत्र की अग्नि का ही प्रदीपन नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्नि-प्रदीपन तथा समिदाधान होता है। अग्नि-प्रदीपन महारम्भ का उपक्रम है। किसी भी महान् कार्य को आरम्भ करना अग्नि-प्रदीपन है और उसे बढ़ाने के लिए तन,मन या धन अर्पण करना समिदाधान तथा आहुति-प्रदान है।

सत्य जीवन का पाथेय है

वैदिक संस्कृति का जीवन सत्य से ओत-प्रोत है। सत्य की नींव पर ही वैदिक जीवन का भवन खड़ा है। सत्य में मन,वचन और कर्म तीनों का सत्य समाविष्ट है, क्योंकि मनुष्य जैसा मन से विचार करता है, वैसा ही वाणी से बोलता है और जैसा वाणी से बोलता है वैसा ही कर्म करता है। यह भूमि सत्य पर ही अवलंबित है—**सत्येनोत्तभिता भूमिः** (ऋ० १०.८५.१) अतएव वैदिक साधक सत्य का व्रत धारण करता है—

[९]अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं।
तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥

—यजु० १.५

''हे व्रतपति अग्नि, मैं व्रत करूँगा, उसे मैं पूर्ण कर सकूँ, वह सफल हो। मेरा व्रत यह है कि मैं असत्य को त्यागकर सत्य को प्राप्त होता हूँ।''

सत्याचरण की महिमा श्रुति में इस प्रकार गान की गयी है—

[१०]ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

—ऋ० ४.२३.८

''सत्य की शोक-निवारक शक्तियाँ श्रेष्ठ हैं। सत्य का धारण पाप-तापों को नष्ट करता है। सत्य का उद्‌बोधक, देदीप्यमान, पवित्र कीर्तिगान बहरे कानों को भी खोल देता है।''

अतएव ऋषि की अनुभूति है कि सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं—**सत्यमेव जयते नाऽनृतम्** (मु० उप० ३.१.६)। सत्य ही सच्चा तप है—**ऋतं तपः सत्यं तपः** (तै०आ० १०.८)। सत्यपूर्वक ही जीवन में सोम का सवन किया जाता है—**ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः** (ऋ० ९.११३.२) सत्य से ही आत्मा के दर्शन होते हैं—**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा** (मु०उप० ३.१.५)।

आध्यात्मिकता जीवन की प्यास है

वैदिक मानव आध्यात्मिकता का पिपासु है। जिसने वेदों को पढ़कर भी अक्षर-ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया, उसका वेदाध्ययन विशेष अर्थ नहीं रखता—**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति** (ऋ० १.१६४.३९)। वैदिक स्तोता

वरुण प्रभु के साथ एक नाव में चढ़कर समुद्र की लहरों में झूलना चाहता है। वह कहता है—

[११] आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं, प्र यत् यमुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव, प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥

—ऋ० ७.८८.३

"जब मैं और वरुण नाव पर बैठते हैं, उस नाव को आनन्द-सागर में ले जाते हैं और उसकी तरंगों पर चढ़ाव-उतार करते हैं, तब झूला झूलने की तृप्ति अनुभव होती है।"

वैदिक साधक के लिए आदित्यवर्ण प्रभु का दर्शन एक सुखद अनुभूति है—

[१२] वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—यजु० ३१.१८

"मैंने इस महान् आदित्यवर्ण प्रभु को जान लिया है, अनुभव कर लिया है, जो तमस् से परे है। उसी को जानकर, उसी की अनुभूति पाकर, मनुष्य मृत्यु को पार करता है, मृत्यु-संतरण का अन्य कोई पथ नहीं हैं।"

मानव का लक्ष्य है कि वह तामसिकता से ऊपर उठकर आत्मा की उत्तर ज्योति का दर्शन करते हुए अन्त में परमात्म-सूर्य का साक्षात्कार करे—

[१३] उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

—ऋ० १.५०.१०

"अहा, हम अंधकार से ऊपर उठ गये हैं। तदुपरान्त उषा-तुल्य उत्तर ज्योति जीवात्मा का दर्शन करते हुए हमने प्रकाशकों में प्रकाशक सर्वोत्तम ज्योति परमात्म-सूर्य को पा लिया है।"

निष्पापता जीवन की गरिमा है

वैदिक जीवन में पाप के लिए कोई स्थान नहीं है। पापों से मुक्त रहने के लिए वेदों में शतशः प्रार्थनाएँ मिलती हैं। वैदिक स्तोता के इन उद्गारों में पाप-मुक्ति की कैसी आतुरता प्रकट हो रही है—"अग्नि से, वनस्पतियों से, ओषधियों से, लताओं से, इन्द्र से, बृहस्पति से हम कहते है कि हमें पाप से छुड़ायें। दिन से, रात्रि से, सूर्य से, चन्द्रमा से, सब आदित्यों से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें। वायु से, पर्जन्य से, अन्तरिक्ष से, सब दिशाओं से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ाएँ। द्युलोक से, नक्षत्रों से, भूमि से, यक्षों से, पर्वतों से, समुद्रों से, नदियों से, सरोवरों से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें (अथर्व० ११.६)।" पाप को ललकारता हुआ वैदिक साधक कह रहा है—"रे मन के पाप, दूर हो जा, क्यों तू मुझे अप्रशस्त परामर्श दे रहा है ? चला जा, मुझे तेरी कामना नहीं है।

तू वृक्षों पर और वनों में भटकता फिर, मेरा मन तो गृहकार्यों में और गौओं में लगा हुआ है।''—

[१४]परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।

परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः ॥

—अथर्व ६.४५.१

माधुर्य और सौहार्द जीवन का प्रसाद है

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन मधुमय और सौहार्दमय है। मधु की याचना करता हुआ वह कहता है कि ''मुझ सत्यसाधक के लिए वायुएँ मधुमय हों, मेघ-सिन्धु मुझपर मधु बरसाएँ, ओषधियाँ मेरे लिए मधुमती हों, रात्रियाँ हमारे लिए मधुमय हों, उषाएँ मधुमय हों, पार्थिव-लोक मधुमय हो, पितृ-तुल्य द्यु-लोक तथा सूर्य मधुमय हों।''

[१५]मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥

[१६]मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः।

मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥

—ऋ० १.६०.६, ७

वैदिक स्तोता की कामना है कि ''मेरा घर से बाहर निकलना, कर्म करने के लिए दूर-दूर जाना, वापस लौटना सब मधुमय हो, मैं वाणी से मधुमय ही बोलूँ, मैं शहद के समान मीठा हो जाऊँ।''—

[१७]मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥

—अथर्व० १.३४.३

परिवार तथा समाज में वैदिक जीवन सौहार्दमय तथा पारस्परिक सद्भावनाओं के आदान-प्रदान से भरपूर रहता है। प्रभु का आदेश है कि ''मैं तुम्हारे अन्दर सहृदयता, साम्मनस्य और अविद्वेष की भावना उत्पन्न करता हूँ, तुम एक-दूसरे से ऐसा प्रेम करो जैसा गाय अपने नवजात बछड़े से करती है।'' —

[१८]सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

—अथर्व० ३.३०.१

अतएव वैदिक स्तोता सौहार्द की याचना करता हुआ कहता है कि ''अपनों से मेरा सौहार्द हो, अपरिचितों से सौहार्द हो। हे अश्वी देवो, तुम मेरे जीवन में सौहार्द की भावना को केन्द्रित कर दो।''—

[१९] संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥
—अथर्व० ७.५४.१

तेजस्विता और कीर्ति जीवन की शोभा हैं

तेजस्विता और यशस्वी जीवन ही वैदिक जीवन है। वैदिक मानव तेज और यश के प्रतीक अग्नि और सूर्य का आदर्श सदा अपने सम्मुख रखता है— "हे अग्नि,जैसे तू देवों में वर्चस्वी है, हे सूर्य, जैसे तू देवों में भ्राजिष्ठ है, वैसे ही मैं मनुष्यों में भ्राजिष्ठ बनूँ।"—

[२०] अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि।
वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम्॥
सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि।
भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥
—यजु० ८.३८,४०

"जैसे सूर्य यशस्वी है, अग्नि यशस्वी है, चन्द्रमा यशस्वी है, वैसे ही अपने जीवन में मैं सब भूतों में यशस्वी बनूँ।"—

[२१] यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥
—अथर्व० ६.३९.३

जो दीप्ति सिंह में, व्याघ्र में, सर्प में, अग्नि में, ब्राह्मण में, सूर्य में है, और जिस दिव्य सुभगा दीप्ति ने इन्द्र को इन्द्रत्व प्रदान किया है, वह दीप्ति ब्रह्मवर्चस से संयुक्त होकर हमें प्राप्त हो—

[२२] सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ, त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान, सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥
—अथर्व० ६.३८.१

शान्ति जीवन का रस है

वैदिक जीवन शान्ति का परमधाम है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह और अशान्ति का वातावरण वेद को प्रिय नहीं है। वैदिक स्तोता प्रकृति की एक-एक वस्तु से शांति की पुकार करता है—विस्तीर्ण प्रकाश का दाता सूर्य हमें शानित देता हुआ उदित हो, चारों दिशाएँ हमारे लिए शान्तिदायक हों, अविचल पर्वत शान्ति दें, सिन्धु और नदियाँ हमें शान्ति दें। रक्षक सविता देव हमारे लिए शांतिकर हो, चमकीली उषाएँ शांतिकारिणी हों, पर्जन्य शांतिदायक हो। (ऋ० ७.३५८.११)

"हम जो कार्यों की पूर्व-योजनाएँ बनाते हैं वे शान्ति का अनुसरण करनेवाली हों, हमारे कृत और अकृत कार्य शान्ति का अनुसरण करनेवाले हों। हमारा भूत,

वर्तमान, भव्य सब-कुछ शान्त हों।''—

[२३]शान्तानि पूर्णरूपाणि, शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च, सर्वमेव शमस्तु नः॥

—अथर्व० १९.९.२

इस प्रकार वैदिक संस्कृति का जीवन यज्ञमय, प्रगतिशील, जागरूक, व्रतदीक्षित, सत्यमय, आध्यात्मिक, निष्पाप, मधुर, सौहार्दमय, तेजस्वी, यशस्वी और शान्ति का अनुगामी है। वैदिक जीवन की कतिपय अन्य विशेषताएँ दानशीलता, कर्मण्यता, आशावाद, तपस्या, ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय, आसुरी शक्तियों पर विजय आदि भी हैं, जिनकी प्रेरणा वेद हमें निरन्तर दे रहे हैं।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (पुरुष) हे पुरुष, (ते) तेरा (उद्यानम्) आरोहण, ऊपर चढ़ना हो, (अवयानं न) अधः पतन नहीं। (ते) तेरे लिए (जीवातुम्) जीवन, और (दक्षतातिम्) बल (कृणोमि) करता हूँ। तू (इमम्) इस (अमृतम्) अमृतमय (सुखम्) सुखगामी (रथम्) शरीररथ पर (आरोह) चढ़ (अथ) और (जिर्विः) दीर्घजीवी होता हुआ (विदथम्) ज्ञान की बातें (आ वदासि) बोल।

२. (सखायः) हे साथियो, (अश्मन्वती) पथरीली नदी (रीयते) वेग से बह रही है। (संरभध्वम्) मिलकर उद्यम करो, (प्र तरत) पार हो जाओ। (ये) जो (दुरेवाः) बुरी चालें (असन्) हैं, उन्हें (अत्र) यहीं (जहीत) छोड़ दो। (अनमीवान्) नीरोग, स्वस्थ (वाजान्) ऐश्वर्यों को (अभि) पाने के लिए हम (उत्तरेम) पार हो जाएँ।

३. हे मनुष्य, तू (दिवं च रोह) द्युलोक में उन्नत हो, (पृथिवीं च रोह) पृथिवी पर उन्नत हो, (राष्ट्रं च रोह) राष्ट्रीय उन्नति कर, (द्रविणं च रोह) धन की उन्नति कर।

४. हे मनुष्य, तू (शुक्रः असि) पवित्र है, (भ्राजः असि) भ्राजमान है, (स्वः असि) आनन्दमय है, (ज्योतिः असि) ज्योति है। (श्रेयांसम्) अपने से अधिक प्रशस्त को (आप्नुहि) प्राप्त कर, (समम्) बराबरीवाले से (अतिक्राम) आगे निकल जा।

५. (देवाः) विद्वान् लोग (सुन्वन्तम्) जागकर यज्ञ करनेवाले को ही (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) निद्रालुता की, आलस्य की न (स्पृहयन्ति) चाह नहीं करते। (अतन्द्राः) स्वयं निद्रालु न होनेवाले वे (प्रमादम्) प्रमादी को (यन्ति) दण्डित करते हैं।

६. (यः जागार) जो जागता है (तम्) उसे (ऋचः) ऋचाएँ (कामयन्ते) चाहती हैं, (यः जागार) जो जागता है (तम् उ) उसे (सामानि) साम (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (यः जागार) जो जागता है (तम्) उसे (अयं सोमः) यह सोम प्रभु (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (न्योकाः) घर बनाये हुए (अस्मि) हूँ।

७. (व्रतेन) व्रत ग्रहण से (दीक्षाम्) दीक्षा को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (दीक्षया) किसी व्रत में दीक्षित होने से (दक्षिणाम्) दक्षिणा को, फल-समृद्धि को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दक्षिणा) फल-समृद्धि से (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (आप्नोति) प्राप्त करता है, (श्रद्धया) श्रद्धा से (सत्यम्) सत्य (आप्यते) प्राप्त होता है।

८. (व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति यज्ञाग्नि, मैं (त्वयि) तुझमें (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) रखता हूँ। मैं (व्रतं च श्रद्धां च) व्रत और श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, (दीक्षितः अहम्) यज्ञकर्म में दीक्षित हुआ मै (त्वा) तुझे (इन्धे) प्रज्ज्वलित करता हूँ।

९. (व्रतपते अग्ने) हे व्रतपति अग्नि, (व्रतं चरिष्यामि) मै व्रत ग्रहण करूँगा। (तत्) उस व्रत को, (शकेयम्) पूर्ण कर सकूँ। (तत्) वह मेरा व्रत (राध्यताम्) सफल हो। (इदम् अहम्) यह मैं (अनृतात्) असत्य से (सत्यम्) सत्य को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ।

१०. (ऋतस्य) सत्य की (शुरुधः) शोक-निवारक शक्तियाँ (हि) निश्चय ही (पूर्वीः) श्रेष्ठ हैं। (ऋतस्य) सत्य का (धीतिः) धारण (वृजिनानि) पापों को (हन्ति) नष्ट करता है। (ऋतस्य) सत्य का (श्लोकः) यशोगान (बुधानः) बोध देता हुआ, (शुचमानः) देदीप्यमान होता हुआ (बधिरा आयोः) बहरे भी मनुष्य के (कर्णा) कानों को (आ ततर्द) खोल देता है।

११. (यत्) जब मै (वरुणः च) और वरुण प्रभु (नावम्) नाव पर (आ रुहाव) चढ़े, और (यत्) जब (मध्यं समुद्रम्) मध्य समुद्र में (प्र ईरयाव) नाव खेकर पहुँचे, और (यत्) जब (अपाम् अधि) जलों के ऊपर (स्नुभिः) लहरों के साथ-साथ (चराव) विचरें, तब (शुभे प्रेङ्खे) शुभ झूले में (कम्) सुखपूर्वक (प्र ईङ्खयावहै) झूला झूले।

१२. (अहम्) मै (एतम्) इस (महान्तम्) महान् (आदित्यवर्णम्) आदित्यसम ज्योतिर्मय (पुरुषम्) परमपुरुष परमेश्वर को (वेद) जान गया हूँ, जो (तमसः) अंधकार से (परस्तात्) परे है। (तम् एव) उसी को (विदित्वा) जानकर, मनुष्य (मृत्युम्) मृत्यु को (अति-एति) पार करता है। (अयनाय) मोक्ष-पद की प्राप्ति के लिए (अन्यः पन्थाः) कोई अन्य मार्ग (न) नहीं है।

१३. (वयम्) हम (तमसः परि) अंधकार से, तामसिकता से (उत्) ऊपर उठ गये हैं, और (उत्तरं ज्योतिः) उत्तर ज्योति का (पश्यन्तः) दर्शन करते हुए (देवत्रा देवम्) देवों में देव-प्रकाशकों में सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक (उत्तमं ज्योतिः) सर्वोत्तम ज्योति (सूर्यम्) सूर्य को (अगन्म) हमने प्राप्त कर लिया है।

१४. (मनस्पाप) हे मन के पाप, (परः अपेहि) दूर हट जा। (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त सलाहें (शंससि) कह रहा है। (परेहि) दूर हो जा, (त्वा) तुझे मैं (न कामये) नहीं चाहता हूँ। तू (वृक्षान्) वक्षों में, (वनानि) वनों में (संचर) मारा-मारा फिर। (मे मनः) मेरा मन (गृहेषु) गृहकार्यों में, (गोषु) गौओं में [लगा हुआ है।]

१५. (वाताः) हवाएँ (ऋतायते) सत्य के इच्छुक के लिए (मधु क्षरन्ति) मधु बरसायें। (सिन्धवः) नदियाँ (मधु क्षरन्ति) मधु बरसायें। (ओषधीः) ओषधियाँ

(नः) हमारे लिए (माध्वीः) मधु-स्रावी (सन्तु) होवें।

१६. (नक्तम्) रात्रि (उत) और (उषसः) उषायें (मधु) मधुमय हों। (पार्थिवं रजः) पार्थिव लोक (मधुमत्) मधुमय हो। (नः पिता) हमारा पिता (द्यौः) सूर्य (मधु अस्तु) मधुमय हो।

१७. (मे) मेरा (निक्रमणम्) निकलना, बाहर जाना (मधुमत्) मधुमय हो, (मे) मेरा (परायणम्) दूर-दूर जाना (मधुमत्) मधुमय हो। (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधुर (वदामि) बोलूँ, (मधुसन्दृशः) शहद जैसा मीठा (भूयासम्) हो जाऊँ।

१८. (वः) तुम्हारे लिए (सहृदयम्) सहृदयता, (सांमनस्यम्) समानमनस्कता, और (अविद्वेषम्) अविद्वेष को (कृणोमि) नियत करता हूँ। तुम (अन्योअन्यम्) एक दूसरे से (अभिहर्यत) प्यार करो, (इव) जैसे (जातं वत्सम्) नवजात बछड़े से (अघ्न्या) गाय प्यार करती है।

१९. (स्वेभिः) अपनों से (नः) हमारा (संज्ञानम्) सौहार्द हो, (अरणेभिः) अपरिचितों से (संज्ञानम्) सौहार्द हो। (अश्विना) हे माता-पिता, आचार्य-उपदेशक आदि अश्वियुगलो, (युवम्) तुम (इह) इस जीवन में (अस्मासु) हमारे अन्दर (संज्ञानम्) सौहार्द को (नियच्छतम्) नियमित करो।

२०. (वर्चस्विन् अग्ने) हे वर्चस्वी अग्नि, (त्वम्) तू (देवेषु) प्रकाशक प्रदार्थों में (वर्चस्वान्) वर्चस्वी (असि) है, (अहम्) मै (मनुष्येषु) मनुष्यों में (वर्चस्वान्) वर्चस्वी (भूयासम्) हो जाऊँ। (भ्राजिष्ठ सूर्य) हे सर्वाधिक भ्राजमान सूर्य, (त्वम्) तू (देवेषु) प्रकाशक पदार्थों में (भ्राजिष्ठः) सर्वाधिक तेजस्वी (असि) है, (अहम्) मै (मनुष्येषु) मनुष्यों में (भ्राजिष्ठः) सर्वाधिक तेजस्वी (भूयासम्) हो जाऊँ।

२१. (इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यशस्वी है, (अग्निः) अग्नि (यशाः) यशस्वी है, (सोमः) चन्द्रमा (यशाः) यशस्वी (अजायत) बना हुआ है। (अहम्) मै भी (विश्वस्य भूतस्य) सब प्राणियों में (यशाः) यशस्वी, और (यशस्तमः) सर्वाधिक यशस्वी (अस्मि) हो जाऊँ।

२२. (या त्विषिः) जो दीप्ति (सिंहे) सिहं में, (व्याघ्रे) बाघ में (उत) और (पृदाकौ) फनियर साँप में है, और (या) जो दीप्ति (अग्नौ) अग्नि में, (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में और (सूर्ये) सूर्य में है, (या) जिस (सुभगा) श्रेष्ठ, (देवी) दिव्य दीप्ति ने (इन्द्रम्) इन्द्र को (जजान) इन्द्र बनाया है, अर्थात् परमात्मा,जीवात्मा, राजा, सेनापति आदि जिस दीप्ति के कारण इन्द्र कहलाते हैं, (सा) वह दीप्ति (वर्चसा) ब्रह्मवर्चस से (संविदाना) संयुक्त होती हुई (नः आ एतु) हमें प्राप्त होवे।

२३. (पूर्वरूपाणि) हमारी योजनाओं के पूर्वरूप (शान्तानि) शान्तिमय हों, (नः) हमारा (कृताकृतम्) किया हुआ तथा न किया हुआ कार्य (शान्तम्) शांतिमय (अस्तु) हो। (नः) हमारा (भूतं च) भूत (भव्यं च) और भविष्य, (सर्वम् एव) सभी कुछ (शम्) शान्तिमय (अस्तु) हो।

□□

वैदिक गृहाश्रम का मनोरम चित्र

स्मृतिकार मनु ने ठीक कहा है—जैसे वायु का आश्रय पाकर सब जीव-जन्तु प्राण धारण करते हैं, वैसे ही गृहस्थ के आश्रय से शेष सब आश्रम जीवन पाते हैं। सचमुच गृहस्थाश्रम विशेष महत्त्व का आश्रम है। वेदों में इस आश्रम के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा गया है। यहाँ दिग्दर्शन के रूप में ही कुछ वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

घरों में समृद्धि

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड में गृह-समृद्धि की सूचना देनेवाला एक सुन्दर सूक्त है। गृहपति कहता है—"हे मेरी शाला, तू जहाँ बनी हुई हैवहाँ चिरकाल तक स्थिर होकर खड़ी रह। तेरे अन्दर घोड़े हों, गौऐं हो। तुझमें रहने वाले लोग सदा परस्पर सत्य और मधुर वाणी बोला करें। तू अन्न से भरपूर हो, दूध से भरपूर हो और हमारी महान् सुख-समृद्धि के लिए सदा ऊँची खड़ी रहे।"[१]

इसे पढ़कर हमारे सामने एक आदर्श घर का चित्र खिंच जाता है। हमारी शाला या हवेली दृढ़ता के साथ बरसों तक वैसी की वैसी खड़ी रहे, वह इतनी सुदृढ़ हो कि आँधी-पानी-ओले-बिजली उसे क्षति न पहुंचा सकें, परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है कि घर भव्य और सुदृढ़ हो, उसमें किसी प्रकार के ऐश्वर्य की भी न्यूनता नहीं रहनी चाहिए। हमारे उपयोग के लिए आवश्यकतानुसार घोड़े घर में हों। घोड़ा यहाँ सवारी का प्रतीक है, इसमें रथ या आधुनिक युग की सवारियाँ भी गृहीत समझनी चाहिएँ। इनके साथ-साथ घर में एक या अधिक गौएँ भी होनी चाहिएँ, जिससे हमें यथेच्छ दूध भी मिल सके। घरों में ऐसा दृश्य देखने में न आये कि बाल-बच्चे दूध के लिए तरसते हों। परिवार के बाल-युवा-वृद्ध प्रत्येक सदस्य को भरपूर दूध-दही-घी के ऐश्वर्य के साथ-साथ अन्न का ऐश्वर्य भी घर में यथेष्ट प्राप्त हो। आगे भाव को और भी सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है—

"हमारी इस शाला के अन्दर कुमार हों, तरुण हों, नन्हें-नन्हें बच्चे किलकारी भरते हों। लबालब भरे हुए दूध के घड़े और दही के मटके रखे रहते हों।"[२]

वैदिक गृहस्थाश्रम का यह चित्र कितना रम्य है! जब घर की समृद्धि ऐसी होगी तब यदि कोई अतिथि घर में आयेगा तो वह सूखी रोटी खाकर नहीं लौटेगा, किन्तु उसका कैसा सत्कार होगा, यह भी देखिए—

"हे नारी, देख तेरे घर में अतिथि आये हैं। दूध से भरा यह कलश ले जाकर उनके आगे रख दे, यथेच्छ पान करा। घृत की धाराओं से उनका स्वागत कर।"[३]

आगे कहा है—"हे मेरी शाला, तू दृढ़ स्तम्भोंवाली है, विशाल छतवाली है, तू पवित्र धान्य से परिपूर्ण है। मेरी आकांक्षा है कि तुझमें नन्हें-नन्हें बच्चे

ठुमक-ठुमककर चलें, तुझमें कुमार पदार्पण करें, सायंकाल को चरागाहों से लौटकर उछलती -कूदती गौएँ प्रवेश किया करें।''[४]

गृहसमृद्धि के सूचक निम्न वर्णन भी दर्शनीय हैं—

''मेरे घर में बड़ी संख्या में गौ आदि पशु आयें, रथ-घोड़े आयें, पुरुष आयें। कोठों में धान यथेष्ट भरा हो। नित्य भर-भरकर आती हुई हवि से मैं यज्ञ करता रहूँ।''[५]

''मेरे घर में इतना दूध-घी है कि मैं दूध पीता क्या हूँ, मानो गोदुग्ध से शरीर को सींचता हूँ। यथेष्ट घृत से शरीर में बल और रस को संचरित करता हूँ। अकेले मैं हीं नहीं, परिवार के सब लोग, परिवार की सब वीर संतानें घी-दूध से तृप्त रहती हैं। सदा ही मुझ गौसेवक के पास गौएँ विद्यमान रहती हैं।''[६]

इन सब वचनों से वेद की दृष्टि में घर की समृद्धि कैसी अपार होनी चाहिये, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

गृहस्वामी की गृहवासियों के प्रति चिन्ता

वैदिक गृहस्थाश्रम का एक और दृश्य देखने योग्य है। गृहस्वामी धनोपार्जन आदि किसी कार्य से बाहर प्रवास को गया हुआ है। प्रवास में रहते हुए उसे घर की चिन्ता नहीं भूली है। लौटता हुआ वह कहता हैं—

''हे गृहवासियो, मैं तुम्हारे लिए अन्न लाया हूँ, धन लाया हूँ, प्रत्येक के लिए सुन्दर सौगात लाया हूँ। आँखों में प्रेम के अश्रु भरे हुए, शुभ विचार और प्रसन्न मन के साथ सबका कुशल-क्षेम पूछता हुआ, नमस्कार करता हुआ तुम गृहवासियों के पास आता हूँ। आओ, मेरे पास आकर हँसों-खेलो, मुझसे भय मत करो।''[७]

''आहा! ये मेरे गृहीजन हैं, सब सुखी हैं, धन-धान्य से समृद्ध हैं, दूध की इन्हें कमी नहीं है, सब आवश्यक वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। मुझ प्रवास से लौटे हुए को ये सब पहचानें और प्रेम से आकर गले मिलें।''[८]

''प्रवास में रहते हुए मनुष्य को जिनकी सदा याद आती रहती है, जिनके बीच में रहने से एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, उन अपने कुटुम्बी-जनों को मैं बुलाता हूँ। प्रवास से लौटे हुए मुझको वे सब पहचानें और प्रेम से आकर गले मिलें।''[९]

''आओ, प्रियजनो, मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। मेरी छाया में रहते हुए तुम प्रचुर धन-धान्य से समृद्ध होवो, परस्पर मैत्रीभाव से रहो, मधुर आनन्द के भागी बनो। घर में अपार समृद्धि भरी है, कभी वे दिन नहीं आयेंगे कि तुम्हें भूखा-प्यासा रहकर दिन काटने पड़ें। हे गृहीजनो, मुझसे भय मत करो।''[१०]

''तुम्हारे आराम के लिए मैं घर में गौएँ लाता हूँ, भेड़-बकरियाँ या उनसे प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ अर्थात् पीने के लिए दूध और पहनने के लिए ऊनी कपड़े लाता हूँ, तथा विविध प्रकार के रसीले-रसीले अन्न लाता हूँ।''[११]

''प्यारो, हँसी-खुशी से मिलकर रहो, आपस में मीठी वाणी बोलो। धन-

धान्य की कमी नहीं है, यथेच्छ खाओ-पिओ। मुझमें भय मत करो, मैं तुम सबसे प्रेम करता हूँ।''[१२]

गृहपति बार-बार कह रहा है कि मुझसे भय मत करो। वस्तुतः ही गृहपति को साक्षात् प्रेम की मूर्ति होना चाहिये। परिवार में सबसे बड़ा होता हुआ भी वह अपने बड़प्पन के अभिमान में न रहे। घर के बाल-बच्चे, छोटे-बड़े सबके साथ वह ऐसा घुला-मिला हो कि सब उसके साथ प्रेम-सूत्र में बँधे रहें।

गृहस्थ-स्वर्ग

वेद की दृष्टि से गृहस्थाश्रम एक स्वर्ग है, जहाँ घी और शहद के तालाब भरे हैं, दूध-दही की नदियाँ बह रही हैं, पुष्कर-पत्रों से अलंकृत सरसियाँ विद्यमान हैं, गृहवाटिका में हरी-भरी दूब-घास बिछी है, और एक और फव्वारा छूट रहा है, पास ही कमल-खिला सरोवर शोभायमान है। निम्न वर्णन देखिये—

''गृहस्थ-स्वर्ग में तुझे मधुरता के साथ सींचती हुई ऐसी धाराएँ प्राप्त हों, जिनके घी के सरोवर हों, मधु के तट हों, लक्ष्मी के सिंचाव हों, जो दूध, शुद्ध जल और दही से भरी हों। मध्य में पुष्कर-पत्रों से अलंकृत तथा प्रान्तवर्ती प्रदेशों पर भी सजी-धजी सरसियाँ तेरे पास उपस्थित हों।''[१३]

''तेरे आने-जाने के स्थानों पर पुष्पोंवाली दूब उगी हो, फव्वारा चल रहा हो,श्वेतकमलों से भरा सरोवर विद्यमान हो।''[१४]

इसी स्वर्ग की आकांक्षा करते हुए वेद में कहा गया है—

''जिस गृहस्थाश्रमरूप स्वर्ग में गृहीजन परस्पर सौहार्द रखते हुए, सदा शुभ कार्य करते हुए, शरीर के रोगों से दूर रहते हैं, उस गृहस्थ-स्वर्ग में हम भी सब अंगों से स्वस्थ और सदाचारी रहकर माता-पिता तथा पुत्रों का दर्शन करते हुए सदा आनन्दित होते रहें।''[१५]

इसी गृहस्थ-स्वर्ग को लक्ष्य करके वेद में वर-वधू को सम्बोधित करके ये वचन कहे गये हैं—

''आप दोनों इस सुखी घर में जागरूक रहें, हँसी-खुशी व आमोद-प्रमोद को अनुभव करते रहें, दुधारू गौओं के स्वामी और पुत्ररत्नों के माता-पिता बनें और इस प्रकार सुन्दर शोभायमान घर में जीवन से अनुप्राणित रहते हुए जगमगाती उषाओं को व्यतीत करते रहें।''[१६]

इसी गृहस्थ-स्वर्ग के लिए कहा गया है—

''आप दोनों वर-वधू इसी गृहस्थाश्रम के स्वर्ग में रहें और पुत्र-पौत्रों के साथ हँसते-खेलते आनन्द मनाते हुए, सुन्दर घर में रहते हुए इस आश्रम की सारी आयु व्यतीत करें।''[१७]

परिवार में प्रेमभाव

वेद के इस स्वर्ग में किस प्रकार परिवार के सदस्य प्रेमपूर्वक रहते है, यह दृश्य भी दर्शनीय है—

''पुत्र पिता का आज्ञाकारी है, वह माता के प्रति आदर और प्रेम रखनेवाला

हैं। पत्नी पति से मिठास-भरी और शान्त वाणी में वार्तालाप करती है।[१८] भाई भाई से द्वेष नहीं करता, बहिन बहिन से द्वेष नहीं करती। भाई-बहिन भी आपस में द्वेष नहीं करते। परिवार के सभी लोग मिलकर प्रेम से रहते हैं और अपने-अपने कर्त्तव्य को करते हुए परस्पर मीठी वाणी से बोलते हैं।''[१९]

''सब साथ खाते हैं, साथ पीते हैं, साथ बैठकर अग्निहोत्र करते हैं और परिवार में जो सबसे बड़ा है उसके अधीन इस प्रकार अनुकूल होकर रहते है जैसे रथ-चक्र की नाभि में सब अरे।''[२०]

पत्नी पति से कहती है—''हम दोनो परस्पर ऐसे प्रेम से रहें कि हमारी आँखों से माधुर्य टपकता हो, हम दोनों का मुख एक-दूसरे को देखकर खिल उठता हो। हे प्यारे पति, तू मुझे अपने हृदय के अन्दर बैठा ले, हम दोनों का मन सदा साथ रहे।''[२१]

पति उत्तर देता है—''हे प्यारी पत्नी, मैं तुझे अपने भुजा-पाश में बाँधता हूँ, अपने हृदय में स्थान देता हूँ। तू मेरे कर्मों में सहयोग दे, तू मेरे चित्त में रम जा।''[२२]

यह है वैदिक प्रीतिभाव का आदर्श। भाई-बहिन में, माता-पिता और पुत्र में, पति-पत्नी में परस्पर जो स्नेह-सौहार्द होना चाहिये उसका यह नमूना है।

गृह-राज्य की सम्राज्ञी

इस वैदिक गृहस्थाश्रम में नारी का भी एक महत्त्वपूर्ण और ऊँचा स्थान है। मध्यकाल की वह अवस्था जिसमें नारी को बहुत नीचे गिरा दिया गया है, वैदिक संस्कृति के सर्वथा विपरीत है। वेद की संस्कृति में तो नारी गृहराज्य की सम्राज्ञी है। नारी ही माता बनती है और माता ही सर्वप्रथम संतान में उन्नति के बीज वपन करनेवाली है, इसलिए, नारी का पद बहुत ऊँचा होना ही चाहिये। इसीलिए वेद का अनुसरण करते हुए मनु ने भी कहा है—'**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**' (३.५२), अर्थात् जिस देश में नारियों का सम्मान होता है, वहाँ देवता वास करते हैं।

अथर्ववेद में नारी की पति-प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कहा है—''यह नारी पति को प्राप्त करे, सोम राजा इसे सौभाग्यशालिनी बनाये। पति-गृह में जाकर पुत्र-पुत्रियों को जन्म देती हुई यह रानी बनकर रहे और सदा सौभाग्यवती बनी रहे।''[२३]

विवाह-प्रसंग में वधू को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है—''जैसे महान् समुद्र नदियों को अपना साम्राज्य दे देता है वैसे ही तुझे भी पतिगृह में जाकर सम्राज्ञी का पद प्राप्त हो।''[२४] ''तू श्वसुरों की दृष्टि में सम्राज्ञी बन, देवरों की दृष्टि में सम्राज्ञी बन, ननद की दृष्टि में सभ्राज्ञी बन, सास की दृष्टि में सम्राज्ञी बन।''[२५]

नारी को कर्त्तव्य-कर्मों का उपदेश

वेद के अनुसार इस गृहसम्राज्ञी को गृहस्थाश्रम में आकर किन-किन कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये यह भी द्रष्टव्य है—

"हे नारी, तू परिवार के पुरुषों को सुख देनेवाली हो, घर के गाय-घोड़ों को सुख देनेवाली हो, सारे ही क्षेत्र के लिए मंगलकारिणी हो। इस गृहस्थाश्रम में रहती हुई तू हम सबके लिए मंगलमूर्ति बनी रह।"[२६]

"अपना गृहप्रबन्ध ऐसा उत्तम रख कि सब गृहवासियों को पुष्टि प्राप्त हो, रस प्राप्त हो। अतिथियों को सहस्र धाराओं में दान किया कर। हे यम-नियमों में चलनेवाली, घर में पशुओं का भी पालन-पोषण कर।"[२७]

"जहाँ गृहीजन परस्पर सौहार्दभाव से रहते हुए, शुभकर्मों को करते हुए, शरीर के रोगों से दूर रहते हुए सुख से रहा करते हैं, उस गृहस्थलोक में हे नारी, आज तू प्रविष्ट हुई है। स्मरण रख तेरे द्वारा परिवार के किसी भी पुरुष को और किसी भी पशु को क्लेश न पहुँचे।"[२८]

"तू मानसिक प्रसन्नता की, प्रजा की, सौभाग्य की, सुख-समृद्धि की आकांक्षा रखती हुई, पतिव्रता रहती हुई घर में अमृतमय अवस्था लाने के लिए कटिबद्ध रह।

"अपने आचरण से तू कभी देवरों को क्लेश न पहुँचा, पति को क्लेश न पहुँचा, पशुओं को सुख दे, सदा नियम से चल, तेजस्विनी बन, वीरप्रसवा हो और सबके लिए सुखदायिनी होती हुई गार्हपत्य अग्नि की आराधना करती रह।"[३०]

"मृगचर्म के शुभ आसन पर बैठकर प्रतिदिन अग्नि में होम किया कर, यह अग्निदेव सब रोग-राक्षसों को नष्ट कर देता है। गृहस्थाश्रम में अपने पति के लिए संतान को जन्म दे, वह तेरा पुत्र एक दिन संसार में बड़ा बनकर दिखाए।"[३१]

"इस मातृभूमि में पैदा होनेवाले नानाविध पशु तेरे घर में रहें। तू मंगलमयी बनकर अग्नि की उपासना करनेवाली हो, सच्चे अर्थों में पत्नी बन और घर में आए देवजनों का सत्कार किया कर।"[३२]

"तू सुमंगली हो, गृहवासियों को कष्टों से तरानेवाली हो, पति को सुख देनेवाली हो, श्वसुर को सुख देनेवाली हो, सास को सुख देनेवाली हो। इन गुणों को लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर।"[३३]

"श्वसुरों के लिए, पति के लिए, सारे ही घर के लिए तू सुखदायिनी हो और सबको सुख देती हुई तू इन सबकी पुष्टि का ध्यान रख।"[३४]

"प्रबुद्ध रह, ज्ञानवती और जागरूक हो, दीर्घायु प्राप्त कर, सौ वर्ष जीवित रह। पतिगृह में जाकर गृहपत्नी बन। परमात्मा तेरी आयु को लम्बा करें।"[३५]

"पश्चिम में, पूर्व में, कार्यों के आदि में, अन्त में, मध्य में सर्वत्र ब्रह्म को स्मरण रख। इस व्याधिरहित गृहस्थरूप देवपुरी में प्रवेश करके तू मंगलमयी, सुखदायिनी होती हुई पतिगृह में विराजमान हो।"[३६]

शिला-जैसी कठोर और वीरांगना

इस प्रकार नारी को कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश देकर वेद में यह भी बताया गया है कि उसे बलवती होना चाहिए। वेद के अनुसार एक ओर वह माधुर्य की

मूर्ति हैं, तो दूसरी ओर शिला जैसी कठोर भी है। इसी कठोरता के आदर्श को स्मरण कराने के लिए वेद में नव-वधू को शिलारोहण कराते हुए कहा गया है—

"पृथिवी देवी के पृष्ठ पर तुझ प्रजा के लिए मैं इस अचल सुखद पत्थर को रखता हूँ, इस पर तू खड़ी हो, इस कठोर स्पर्श में आनन्द अनुभव कर, पत्थर जेसी वीर और वर्चस्विनी बन, परमात्मा तेरी आयु लम्बी करे।"[३७]

विवाह-संस्कार की शिलारोहण-विधि में पढ़ा जानेवाला आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का वचन वेदमन्त्र का ही अनुवाद है। उसमें कहा है—'**आ रोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः**' (पार० गृह्य० १.७.१)।

भाई बहिन को शिलारोहण कराता हुआ कहता है—"हे बहिन, इस पत्थर पर पैर रख, पत्थर की तरह ही तू सुदृढ़ बन जा। आक्रमण करनेवालों को नीचे दबा दे, सेना द्वारा चढ़ाई करनेवालों को पददलित कर दे।"

मध्यकाल में वेद की इस दृष्टि को भुला दिया गया, नारी को अबला कहा जाने लगा, यहाँ तक कि 'अबला' शब्द नारी का पर्यायवाची ही बन गया, किन्तु वेद की नारी अबला नहीं, वीरांगना है। वेद में एक नारी निम्न उद्गार प्रकट करती है—

"अरे, यह घातक मुझे अबला समझता है। मैं अबला नहीं, वीरांगना हूँ, वीर की पत्नी हूँ, मृत्यु से न डरनेवाले वीर मेरे सखा हैं। मेरा पति संसार में सबसे उत्कृष्ट है।"[३८]

"मेरे पुत्र शत्रुहन्ता हैं, मेरी पुत्री विशेष तेजस्विनी है। मैं भी विजयिनी हूँ, और मेरे पति में उत्तम कीर्ति का निवास है।"[३९]

पति की प्रतिज्ञाएँ और उसके कर्त्तव्य

वेद में जहाँ पत्नी के कर्तव्यों का उल्लेख विस्तार से किया गया है, वहाँ साथ ही पति के कर्त्तव्यों के विषय में भी वेद मौन नहीं हैं। वैदिक पति किस प्रकार से पत्नी के साथ प्रेमपूर्वक रहता है, यह हम पीछे दिखा आए हैं। अन्य कर्त्तव्यों के प्रति भी वह सजग है। वधू का पाणिग्रहण करता हुआ वर प्रतिज्ञा करता है—

"अग्नि ने जिस प्रकार भूमिरूपिणी नारी का दाहिना हाथ पकड़ा हुआ है, उसी प्रकार मैं तेरा हाथ पकड़ता हूँ। तू मेरे साथ रहती हुई संतान से या धन से किसी भी तरह व्यथित नहीं होगी।"[४०]

पति के इन शब्दों से सूचना मिल रही है कि जहाँ पत्नी भूमि की तरह विशालहृदय, धृतिमती, सहनशील, प्रजननशक्तियुक्त, वात्सल्यरस-पूर्ण, कोमल, कठोररूप है, वहाँ पति को भी अग्नि की तरह उज्ज्वल, तेजोमय, प्रकाशक, ऊर्ध्वगामी होना चाहिए, जैसा अग्नि और भूमि का सम्बन्ध है।

पुनः वह कहता है—

"सौभाग्य के लिए मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ, जिससे तू मुझ पति के

साथ रहती हुई दीर्घायुष्य प्राप्त करे। मैं 'भग' हूँ, 'अर्यमा' हूँ, 'सविता' हूँ, 'पुरन्धि ' हूँ। देवों ने गृहस्थधर्म का पालन करने के लिए तुझे मेरे सुपुर्द किया है। मैंने साक्षात् 'सविता' होकर तेरा हाथ पकड़ा है। तू आज से मेरी धर्मानुकूल पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूँ।''[४१]

यहाँ पर पति अपने आपको 'भग', 'अर्यमा', 'सविता' और 'पुरन्धि' कहता है। भग वेद में ऐश्वर्य का प्रतिनिधि है। अपने को 'भग' कहकर प्रतिज्ञा करता है कि गृहस्थाश्रम में मैं अपने,तेरे और अन्य परिजनों के उपयोग के लिए पर्याप्त धन उपार्जन करके लाता रहूँगा। तुझे मेरे साथ रहते हुए कभी धन की कमी अनुभव नहीं होगी। मैं साक्षात् धन का देवता बना रहूँगा। फिर वह कहता है कि मैं 'अर्यमा' हूँ।'अर्यमा' न्याय का देव है, अतः अपने को 'अर्यमा 'कहने का भाव है कि मैं इस बात में सदा सतर्क रहूँगा कि मुझमें कभी तेरे प्रति या अन्य किसी कुटुम्बी के प्रति अन्याय न हो। इसके बाद वह अपने-आपको 'सविता' कहता है।'सविता प्रेरणा और उत्पत्ति का देव है। इससे वह यह प्रतिज्ञा करता है कि यदि तू कभी मार्ग से विमुख होने लगेगी तो तुझे प्रेरणा करना मैं अपना कर्त्तव्य समझूँगा और सदा शुभ प्रेरणा ही करूँगा। साथ ही मैं अपने अन्दर उत्पादन-शक्ति को स्थिर रखने के लिए भी सदा यत्नवान् रहूँगा। फिर वह 'पुरन्धि' नाम से अपने-आपको स्मरण करता है। निरुक्तानुसार 'पुरन्धि' का अर्थ है 'बहुधी' अर्थात् बहुत बुद्धिमान्। इसका दूसरा अर्थ' 'गृहरूप पुर का धारण-पालन करनेवाला' भी है, अतः अपने आपको पुरन्धि कहकर वह प्रण लेता है कि गृहस्थाश्रम में मैं सदा बुद्धिमान्, विवेकी बना रहूँगा और तेरे तथा अन्य परिवार के पालन-पोषण के लिए सदा सजग रहूँगा। पालन-पोषण करने की इस प्रतिज्ञा को और भी स्पष्ट शब्दों में दोहराता हुआ वह आगे कहता है—

''हे नारी, मैं सदा तेरा पालन-पोषण करता रहूँगा, बृहस्पति (वेदज्ञ पुरोहित) ने तुझे मेरे लिए प्रदान किया है। हे प्रजनन-शक्तिवाली, तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रह।''[४२]

''मैं तुझे जल, दूध आदि पार्थिव रसों से घेर दूंगा, मैं तुझे ओषधियों के रसों से घेर दूंगा। इन सबसे घिरी हुई तू इस ऐश्वर्य का उपभोग करना।''[४३]

पति को उचित है कि वह पत्नी के रूप एवं गुणों को सदा अपने हृदय में धारण किए रहे। इस बात को कभी न भुलाए कि मेरे पास जो कुछ भी है वह मुझ अकेले का नहीं है, किन्तु उसमें पत्नी का भी साझा है। वह पत्नी से चुराकर कुछ न खाए। इसी प्रतिज्ञा को करता हुआ पति कहता है—

''मैं इस पत्नी के रूप को, सौन्दर्य को, गुणों को अपने अन्दर बाँध लेता हूँ। अपने मनरूप पक्षी का घोंसला मैं पत्नी को ही समझता हूँ, अतः वहीं अपने मन को विश्राम देता हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कभी इससे चुराकर कुछ नहीं खाऊँगा, इस विचार को कभी मन में भी नहीं आने दूँगा। कौमार्य अवस्था में यह जिन पाशों से बँधी हुई थी उन्हें मैं स्वयं खोल रहा हूँ।''[४४]

पति को चाहिये कि ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर उषाकाल तक सब नैत्यिक

कर्मों से निवृत्त हो ले और सुन्दर-स्वच्छ वस्त्र पहनकर दैनिक कार्यों को करने के लिए तैयार हो जाए। दैनिक कर्मों को करते हुए सदा इसका ध्यान रखे कि कहीं मैं पाप में लिप्त न हो जाऊँ। वह कहता है—

"मैं नवीन वस्त्र धारण करता हुआ सौरभसम्पन्न ओर सजीव होकर जगमगाती हुई उषाओं की वेला में कटिबद्ध होकर खड़ा हुआ हूँ। जैसे पक्षी अण्डे से छूटता है, वैसे ही मैं समस्त पापों और मलिनताओं से छूट गया हूँ।"

पति-पत्नी को देवजनों की शुभकामनाएँ

इस प्रकार गृहस्थाश्रम के विविध अंगों का वर्णन कर चुकने के बाद अन्त में पति-पत्नी के लिए देवजनों के संदेशों, शुभकामनाओं और आशीर्वादों का उल्लेख कर हम इस चित्रण को समाप्त करते हैं। देवजन जगत् के समस्त पति-पत्नियों के युगलों पर अपने आशीर्वाद के पुष्प बरसाते हुए कह रहे हैं—

"तुम दोनों व्यवहारों में सदा सत्य बोलते हुए भरपूर धन कमाओ। हमारी प्रभु से प्रार्थना है कि यह पत्नी तुझ पति के साथ प्यार से रहे, पति भी मधुर-भाषी होकर तुझ पत्नी के साथ रम्य वाणी बोले।"[४६]

"प्रभु करे तुम दोनों पति-पत्नी चकवा-चकवी की तरह प्रेम-सूत्र में आबद्ध रहो। तुम्हें सन्तान प्राप्त हो। सुन्दर घर में रहते हुए गृहस्थाश्रम की सारी आयु का उपभोग करते रहो।"[४७]

"हे देवी, तू प्रफुल्लचित्त रहती हुई प्रशंसनीय ऐश्वर्य और वीर पुत्र प्राप्त कर। यह गृहस्थाश्रम तुम्हारे लिये खान-पान की वस्तुओं से परिपूर्ण और पुण्यतीर्थ के समान हो। तुम दोनों पति-पत्नी सद्गुणों के अधिपति बनो और दुर्मति को तथा मार्ग में आनेवाली बाधा को मार भगाओ।"[४८]

"प्रभु ने इस पति के लिए तुझे पत्नी बनाया है, प्रभु ने इस पत्नी के लिए तुझे पति बनाया है। वही प्रभु तुम दोनों की आयु को सुदीर्घ करे। प्रभु करे, तुम दोनों की जोड़ी युग-युग जीती रहे।"[४९]

पाद टिप्पणियाँ—

१. इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ — अथर्व० ३.१२.२

२. एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः॥ —वही, मन्त्र ७

३. पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धि।—वही, मन्त्र ८

४. धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः॥ —वही, मन्त्र ३

५. सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥— अथर्व० २.२६.३

६. सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्मांक वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ वही, मन्त्र ४

७. ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा, अधोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो, रमध्वं मा बिभीत मत् ॥— अथर्व० ७.६०.१

८. इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ।। —वही, मन्त्र २

९. येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ —वही, मन्त्र ३

१०. उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्याः स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ —वही, मन्त्र ४

११. उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ —वही, मन्त्र ५

१२. सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥—वही, मन्त्र ६

१३. घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः, स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः ॥
उपत्वा तिष्ठन्तु पुष्कारिणीः समन्ताः ॥ —अथर्व० ४.३४.६

१४. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ —वही, ६.१०६.१

१५. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति, विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे, तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ —वही, ६.१२०.३

१६. स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ, हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ, तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ —वही, १४.२.४३

१७. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नसृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ —वही, १४.१.२२

१८-१९. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमर्ती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ —वही, ३.३०.२,३

२०. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ —वही, मन्त्र ६

२१. अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ॥
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ —अथर्व० ७.३६.९

२२. मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ —वही, ६.९.२

२३. इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट, सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति, गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु॥ —वही, २.३६.३

२४.-२५ यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ —वही, १४.१.२३,२४

२६. शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ —वही, ३.२८.३

२७. इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव। पशून् यमिनि पोषय॥—वही, मन्त्र ४

२८. यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति, विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव, सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूँश्च॥ —वही, मन्त्र ५

२९. आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ —अथर्व० १४.१.४२

३०. अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि, शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा, स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ —वही १४.२.१८

३१. आ रोह चर्मोप सीदाग्निम्, एष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै, सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः॥ —वही, मन्त्र २४

३२. वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
सुमंगल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान्॥ —वही, मन्त्र २५

३३. सुमंगली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्॥ —वही, मन्त्र २६

३४. स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ —वही, मन्त्र २७

३५. प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना, दीर्घायुत्वाय शतशारदाय
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो, दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ —वही, मन्त्र ७५

३६. ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्व, ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य, शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥ —अथर्व० १४.१.६४

३७. स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमातिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ —अथर्व० १४.१.४७

३८. अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ —ऋ० १०.८६.८

३९. मम पुत्राः शत्रुहणो ऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमास्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥ —वही, १०.१५९.३

४०. येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्टा मया सह प्रजया च धनेन च।
—अथर्व० १४.१.४८

४१. गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर् मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।।
भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥ —वही,मन्त्र ५०,५१

४२. ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥ —वही,मन्त्र ५२

४३. सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः, सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम्।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन, सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम्॥
—अथर्व० १४.२.७०

४४. अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्॥
—वही,१४.१.५७

४५. नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥
—वही,१४.२.४४

४६. युवं भगं सं भरतं समृद्धम् ऋतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्॥
—वही,१४.१.३१

४७. इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनो स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्॥ —वही,१४.२.६४

४८. सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम्।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥ —वही,मन्त्र ६

४९. त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥ —अथर्व० ६.७८.३

□□

वैदिक अर्थव्यवस्था

वैदिक विचारधारा के अनुसार मनुष्य को अधिकाधिक ऐश्वर्यशाली होना चाहिए। वेदों में स्थान-स्थान पर इस आशय के मन्त्र उपलब्ध होते हैं कि हम गौ, अश्व, हिरण्यादि अपार सम्पत्ति के भागी बनें। इन्द्र प्रभृति नामों द्वारा परमेश्वर, राजा आदि से प्रार्थनाएँ भी की गई हैं कि आप हमें प्रचुर धन-सम्पत्ति प्रदान कीजिए। पृथक्-पृथक् मनुष्य, उनसे मिलकर बने हुए समाज एवं राष्ट्र सभी को वेद की दृष्टि में धनी होना चाहिए। राष्ट्र में भुखमरी, गरीबी आदि का नाम भी न रहे, ऐसी वैदिक दृष्टि है। हम धनों के अधिपति बन जाएँ— **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** (ऋ० १०.१२१.१०), यह भावना वेदों में कूट कूट-कर भरी हुई है। इस भावना के द्योतक कतिपय मन्त्र नीचे दिये जा रहे हैं—

[१]भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्याभर।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥ —ऋ० ४.३२.२०

"हे इन्द्र, आप बहुत बड़े दानी हैं, अतः हमें बहुत दीजिए। हाँ, सचमुच कम नहीं, बहुत दीजिए। हमें विश्वास है कि आप हमें बहुत ही देना चाहते हैं।"

[२]आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्।
सचा मना हिरण्यया॥ —ऋ ८.७८.२

"हे इन्द्र, आप हमें व्यंजन दीजिए, गौ, अश्व तथा अभ्यंजन दीजिए और साथ ही सुवर्णमय अभीप्सित वस्तुएँ दीजिए।"

[३]रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः
आ पवस्व सहस्रिणः॥ —ऋ० ९.३४.६

"हे सोम प्रभु, आप हमारे लिए चारों दिशाओं में उमड़कर आते हुए, सहस्रों ऐश्वर्यों से भरपूर धन के चार समुद्र प्रदान कर दीजिए।"

[४]गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां, यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥
—ऋ० १०.४२.१०

"हम गौओं के दूध से बुरे मार्ग पर ले जानेवाली अमति को दूर कर लें, यव आदि अन्नों से क्षुधा को दूर भगा दें और राजाओं की सहायता से तथा निज बल से समस्त धन-सम्पत्तियों को प्राप्त कर लें।"

[५]निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु, मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना, देवी दधातु सुमनस्यमाना॥
—अथर्व० १२.१.४४

"अपने अन्दर धन के खजाने को धारण करनेवाली भूमि हमें धन, सोना-चाँदी आदि प्रदान करे। धनदात्री भूमि हमें धन-सम्पत्ति प्रदान करती हुई प्रसन्न मनवाली विदुषी के समान हमारा धारण-पोषण करे।"

[६]पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं, चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां, बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥

—अथर्व० १९.३१.५

"मुझे चतुष्पाद पशुओं की पुष्टि प्राप्त हो, द्विपाद पारिवारिक-जनों की पुष्टि प्राप्त हो तथा धन-धान्य प्राप्त हो। सविता एवं बृहस्पति प्रभु मुझे पशुओं का दूध तथा ओषधियों का रस प्रदान करे।"

[७]सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ॥

—अथर्व० २.२६.६

"मैं अपने शरीर में गौओं का दूध सींचता हूँ, गो-घृत से बल और रस प्राप्त करता हूँ। हमारे वीर पुत्र भी इसी प्रकार गोदुग्ध और गोघृत से सिंचित रहें। मुझ गौ-स्वामी के पास गौएँ स्थिर बनी रहें।"

[८]इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले, अश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती-उच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥

—अथर्व० ३.१२.२

"हे मेरी हवेली, तू स्थिरतापूर्वक खड़ी रह। तेरे अन्दर अश्व हों, गौएँ हों, प्यारी-सच्ची वाणी हो। तू अन्न से भरपूर, घृत से भरपूर तथा दूध से भरपूर होती हुई हमारे महान् सौभाग्य के लिए उन्नत होकर खड़ी रह।"

[९]उतेदानीं भगवन्तः स्याम, उत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य, वयं देवानां सुमतौ स्याम॥

—अथर्व० ३.१६.४

"हम इस समय ब्राह्ममुहूर्त में धनवान् हों, सूर्योदय-काल में धनवान् हों, मध्याह्न में धनवान् हों और सूर्यास्त के समय भी धनवान् हों। विद्वानों की सुमति हमें प्राप्त हो।"

व्यापार से धन-लाभ

अपने देश के विभिन्न प्रान्तों तथा विदेशों से व्यापार द्वारा सम्पत्ति को बढ़ाने का उल्लेख भी वेद में मिलता है। अथर्ववेद में धनी वणिक् को प्रेरित करते हुए कहा गया है—

[१०]इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि, स न ऐतु पुर एता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं, स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

[११]ये पन्थानो बहवो देवयाना, अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन, यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥
[१२]शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च, प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु॥

—अथर्व० ३.१५.१,२,४

अर्थात् "ऐश्वर्यवाली व्यापारी को मैं प्रेरित करता हूँ, वह हमारे बीच आए तथा व्यापार में हमारा अगुआ बने। वाणिज्य-विघातक शत्रु को वह मार्ग से दूर करे, व्यापार करे तथा हमें धन लाकर दे। द्यु-लोक और पृथिवी-लोक के मध्य में जो बहुत से आकाश-मार्ग बने हुए हैं उनसे हम यात्रा करें और गोरस, घृत आदि की वस्तुएँ बेचकर बदले में धन लेकर आएँ। अपने द्रव्य का मूल्य लगाना, बेचना, पराये द्रव्य का सौदा करना आदि हमें प्रचुर लाभ प्राप्त करानेवाला हो।"

पाप की कमाई न हो

जहाँ वेद धनी होने को इतना महत्त्व देता हैं, वहाँ साथ ही जिस-किसी भी अच्छे या बुरे उपाय से धनोपार्जन को वह उचित नहीं मानता। कहीं हम धन-प्राप्ति की लगन में कुमार्ग से धन कमाने में प्रवृत न हो जाएँ, इस दृष्टि से वेद में यह प्रार्थना आती है—

[१३]अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो, भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

— ऋ० १.१८९.१

"हे अग्रणी प्रभु, आप हमें धनोपार्जन में सुपथ से ही ले चलिये, क्योंकि आप हमारे सब ज्ञान और कर्मों को जाननेवाले है। आप हमारे अन्दर से कुटिलता और पाप को पृथक् कर दीजिए। एतदर्थ हम आपको भूरि-भूरि नमस्कार करते हैं।"

वैदिक स्तोता श्रेष्ठ और भद्र धनों की ही याचना करता है, पाप से कमाए गए धनों की नहीं—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि। — ऋ० २.२१.६

हे धनी परमेश्वर, हमें श्रेष्ठ धन ही प्रदान करो।

अस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त। — ऋ० ७.८२.१

हमें भद्र धन ही प्राप्त कराओ।

पाप-मार्ग का अनुसरण कर हम धनी न बनें, इसके लिए वेद इतना सतर्क है कि अथर्ववेद में चार मन्त्रों का एक पूरा सूक्त ७.११५ इस विषय में लिखा गया है। इसके प्रथम तीन मन्त्रों का भाव यह है—

"हे पाप की लक्ष्मी, तू मेरे पास से दूर हो जा। यहाँ से, वहाँ से, सब स्थानों से नष्ट हो जा। लोहे के फंदों में फँसाकर हम तुझे शत्रुलोक में पहुँचा देते हैं। जो पतनोन्मुख करनेवाली अप्रिय लक्ष्मी मेरे साथ चिपट गई है, जैसे लता वृक्ष से

चिपट जाती हैं, उसे हे सविता प्रभु, आप हमसे दूर कर दीजिए। आप हिरण्यहस्त होकर, उज्ज्वल धन हाथ में लेकर, हमें धन प्रदान कीजिए। जन्म लेते ही सैकड़ों लक्ष्मियाँ मनुष्य के साथ सम्बद्ध हो जाती हैं, उनमें से पाप-लक्ष्मियों को हम अपने पास से दूर हटा देते हैं। हे जातवेदा प्रभु, हमें तो आप शिव लक्ष्मियाँ ही प्रदान कीजिए।''

वेद कहता है कि मनुष्य को निरीक्षण करते रहना चाहिए कि कहीं कोई पाप की लक्ष्मी तो मेरे पास नहीं आ गई है—

[१४]एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥

—अथर्व० ७.११५.४

अर्थात् ''जैसे कोई अपनी गौशाला में प्रविष्ट गौओं की पड़ताल करता है कि यह मेरी है या नहीं, उसी प्रकार मैं अपने समीप आई हुई लक्ष्मियों का निरीक्षण करता हूँ। जो पुण्य की लक्ष्मियाँ है उन्हें मैं अपने पास रमने देता हूँ, किन्तु जो पाप-लक्ष्मियाँ हैं उन्हें दूर कर देता हूँ।''

असमृद्धि दूर हो

देश आर्थिक संकट से मुक्त रहे, प्रजा में असमृद्धि, निर्धनता, नग्नता, क्षुधा आदि न रहे। यह वैदिक समाज एवं वैदिक राष्ट्र का आदर्श है। वेद का स्तोता असमृद्धि को फटकार लगता हुआ कहता है—

[१५]परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते॥

—अथर्व० ५.७.७

''हे असमृद्धि, तू हमारे देश से दूर हो जा। हम तेरे शस्त्र को परे कर देते हैं। हम जानते है कि तू घातक है, तू व्यथा पहुँचानेवाली है।''

वैदिक स्तोता जानता है कि देश में असमृद्धि का या व्यापक भुखमरी का छा जाना बड़ा ही भयंकर होता है। अतएव वह उसका चित्रण करता हुआ कहता है—

[१६]उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम्।
अराते चित्तं वीर्त्सन्ती-आकूतिं पुरुषस्य च॥

—अथर्व० ५.७.८

अर्थात् ''जब तू नग्न रूप में राष्ट्र में व्याप्त हो जाती है, तब जनता को स्वप्न में भी तू ही दिखाई देती है। तू चित्त को व्याकुल कर देती है तथा पुरुष के संकल्प एवं उत्साह को भी मार देती है।''

वैदिक आदर्श है कि कोई भी व्यक्ति, जिसने भूमि पर जन्म लिया है, भूखा-प्यासा न रहे—

[१७]एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्।

—अथर्व० २.२९.४

धन का दान

यदि दुर्भाग्य से समाज में कुछ व्यक्ति निर्धन हो जाएँ और उन्हें धनियों की सहायता की अपेक्षा हो, तो वेद के अनुसार प्रत्येक धनी का कर्त्तव्य है कि वह धन-अन्न से उनकी सहायता करे। वेदों में दान की अपार महिमा का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक धनान्न-दान-प्रशंसा का सूक्त (१०.११७) आता है, जिसके कतिपय मन्त्रों का आशय इस प्रकार है—

"प्रभु भूखे को ही मौत नहीं देते, अपितु खाते-पीते मनुष्य के पास भी मौतें आती हैं, अतः धनी यह न सोचें कि दान करने से हमें क्या, हम तो सदा जीवित रहेंगे, मरने दो इस भूखे को। न ही वह यह सोचे कि दान करने से उसका धन क्षीण हो जाएगा। दानी का धन क्षीण नहीं होता, बढ़ता ही है। इसके विपरीत जो दान नहीं करता उसे भी आवश्यकता पड़ने पर कोई सुख देनेवाला नहीं मिलता (१)। जो धनी अन्न का भण्डार भरा होने पर भी सहायता के योग्य, अन्न की याचना करनेवाले, कृशकाय, अपने द्वार पर आए हुए गरीब के सामने अपने मन को कठोर कर लेता है और उसे अन्न-दान नहीं करता, प्रत्युत उसके सामने ही अन्न का भोग करता है, वह स्वयं भी सुख नहीं पाता (२)। धनवान् को चाहिए कि वह याचक को अवश्य ही अन्न-धन्न का दान करे। वह दूरदर्शी होकर सोचे कि सम्पत्तियाँ सदा एक ही के पास नहीं रहतीं, किन्तु वे रथ के पहिये के समान घूमती रहती हैं तथा एक को छोड़कर अन्य के पास जाती रहती हैं, सम्भव है मुझे भी कभी सम्पत्तिहीन होकर दूसरे के आगे हाथ पसारने पड़ें (५)। अदानी हृदयहीन व्यक्ति का अन्न-धन पाना व्यर्थ ही है, सचमुच वह उसके लिए धन नहीं, किन्तु उसकी मौत का संदेश होता है। जो अपने अन्न-धन से न श्रेष्ठजनों का पोषण करता है, न अपने गरीब साथी का, ऐसा अकेला खानेवाला व्यक्ति अकेला पाप की गठरी ढोता है (६)। अतएव पूषा प्रभु से प्रार्थना की गई है कि आप दान न करनेवाले को दान के लिए प्रेरित कीजिए तथा कृपण व्यक्ति के भी मन को कोमल कर दीजिए, जिससे वह दुखिया को देखकर पसीजे—

[१८]अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ।। —ऋ० ६.५३.३

वस्तुतः दान का अभिप्राय केवल यही नहीं है कि किसी सत्पात्र को दो-चार, दस-बीस, सौ-दो-सौ रुपए दे देना। सामान्यतः अधिक धनी और धन की कमी का तारतम्य जो समाज में रहता ही है;सब समान नहीं हो सकते। परन्तु जब समाज में अत्यधिक विषमता आ जाती है, अर्थात् कुछ लोग बहुत धनी या पूंजीपति हो जाते है तथा कुछ भूखे मरने लगते है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि धन का प्रवाह ऊपर से निम्नवर्ग की ओर हो। उसके लिए शासन को कुछ उपाय भी करने पड़ते हैं, यथा—किसी व्यक्ति के पास अधिकतम धन कितना

रह सकता है इसकी मात्रा निर्धारित करना, आयकर लगाना आदि। इसलिए वेद में कहा गया है कि जो धनी स्वेच्छा से अपने अन्न-धन का समाज में वितरण नहीं होने देता, अपितु अपने ही कोठे भर लेता है, उसके धन को राजा अपने अधीन कर ले, और यदि फिर भी न माने तो उसे कारागार में डालकर सूर्य-प्रकाश से वंचित कर दे—

[१९]विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां, ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान् प्रसवे वावृधानान्, ब्रह्मद्विषः सूर्याद् यावयस्व॥

—ऋ० ५.४२.९

इस प्रकार संक्षेप में कहें तो वैदिक दृष्टि यह है कि समाज में सभी मनुष्य धनी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करें तथा वे असमृद्धि को अपने पास न फटकने दें; इस विषय में राजा-प्रजा दोनों सतर्क रहें।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (भूरिदा) बहुत देनेवाले आप (नः) हमें (भूरि देहि) बहुत दो, (दभ्रं मा) कम नहीं, (भूरि आभर) बहुत दो। (इन्द्र) हे परमेश्वर, तुम (घ इत्) निश्चय ही (भूरि) बहुत अधिक (दित्ससि) देना चाहते हो।

२. हे परमेश्वर, आप (नः) हमारे लिए (व्यञ्जनम्) व्यंजन, (गाम्) गाय, (अश्वम्) घोड़ा तथा (अभ्यञ्जनम्) तेल उबटन आदि (आभर) लाओ, (सचा) साथ ही (मना) चाहने योग्य (हिरण्यया) स्वर्णाभूषण लाओ।

३. (सोम) हे जगदुत्पादक परमात्मन्, आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (विश्वतः) सब ओर से (सहस्रिण) सहस्त्रों ऐश्वर्यों से भरपूर (रायः चतुरः समुद्रान्) धन के चार समुद्र (आ पवस्य) प्रवाहित कीजिए।

४. हम (गोभिः) गौओं से, गौओं के दूध-घी आदि से (दुरेवाम् अमतिम्) बुरे मार्ग पर ले जानेवाली अमति को (तरेम) पार कर लें। (पुरुहूत) हे बहुस्तुत इन्द्र परमेश्वर! (यवेन) यव आदि सात्त्विक अन्न से (विश्वां क्षुधम्) सम्पूर्ण क्षुधा को (तरेम) पार कर लें। (वयम्) हम (राजभिः) राज्याधिकारियों की सहायता से तथा (अस्माकेन वृजनेन) अपने बल से (प्रथमा धनानि) श्रेष्ठ धनों को (जयेम) जीत लें।

५. (बहुधा) बहुत प्रकार से (गुहा) अपनी गुफा में अर्थात् अपने अन्दर (निधिं बिभ्रती) खजाने को धारण करती हुई (पृथिवी) भूमि (मे) मुझे (वसु) धन, (मणिम्) मणि, (हिरण्यम्) सुवर्ण (ददातु) प्रदान करे। (वसुदा) धनदात्री भूमि (नः) हमें (वसूनि रासमाना) धन प्रदान करती हुई (सुमनस्यमाना देवी) प्रसन्न मन वाली विदुषी के समान (दधातु) हमारा धारण=पोषण करे। (यहाँ लुप्तोपमा अंलकार है)।

६. (अहम्) मै (चतुष्पदां पशूनाम्) चतुष्पाद पशुओं की तथा (द्विपदाम्) द्विपाद पुत्र-पौत्र कलत्र आदि की (पुष्टिम्) पुष्टि (परिजग्रभ) प्राप्त करूँ। (बृहस्पतिः) बड़े-बड़े लोकों का अधिपति (सविता) सर्वोत्पादक प्रभु (मे) मुझे (पशूनां

पयः) पशुओं का दूध तथा (ओषधीनां रसम्) ओषधियों का रस (नियच्छात्) प्रदान करे।

७. मैं (गवां क्षीरम्) गौओं के दूध को (संसिञ्चामि) शरीर में सींचता हूँ, (आज्येन) गोघृत से (बलं रसम्) बल और रस को (संसिञ्चामि) सींचता हूँ। (अस्माकं वीराः) हमारे पुत्र-पुत्रियाँ भी (संसिक्ताः) गौदुग्ध तथा गोघृत से सिंचित हों। (मयि गोपतौ) मुझ गोस्वामी के पास (गावः) गौएँ (ध्रुवाः) स्थिर रहें।

८. (शाले) हे मेरी हवेली, तू (इह एव) यहाँ ही (ध्रुवा) स्थिर होकर (प्रतितिष्ठ) खड़ी रह। (अश्वावती) घोड़ों से युक्त, (गोमती) गौओं से युक्त (सूनृतावती) प्यारी-सच्ची वाणी से युक्त, (ऊर्जस्वती) अन्नों से युक्त, (घृतवती) घृत से युक्त, (पयस्वती) दूध से युक्त होती हुई (महते सौभगाय) महान् सौभाग्य के लिए (उच्छ्रयस्व) ऊँची खड़ी रह।

९. (मघवन्) हे धनी परमेश्वर, (उत इदानीम्) इस समय हम (भगवन्तः स्याम) धनवान् हों, (उत प्रपित्वे) और सूर्योदय-काल में, (उत मध्ये अह्नाम्) और मध्याह्न में, (उत सूर्यस्य उदिता) और सूर्य के अस्त-काल में भी धनवान् हों। (वयम्) हम (देवानां सुमतौ स्याम) विद्वानों की सुमति में रहें।

१०. (अहम्) मै (इन्द्रं वणिजम्) धनी व्यापारी को (चोदयामि) प्रेरित करता हूँ। (सः) वह (नः) हमारे पास (आ एतु) आये, (नः) हमारा (पुरः एता) अगुआ (अस्तु) हो।

११. (ये) जो (बहवः) बहुत से (देवयानाः पन्थानः) विद्वानों के आने-जाने के मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य (संचरन्ति) संचार कर रहे हैं (ते) वे (मा जुषन्ताम्) मुझे प्राप्त हों, (यथा) जिससे (पयसा घृतेन) दूध और घी से (क्रीत्वा) खरीद कर (धनम्) धन (आहराणि) लाऊँ।

१२. (प्रपणः) अपने द्रव्य का मूल्य लगाना (विक्रयःच) और बेचना तथा (प्रतिपणः) दूसरे के द्रव्य का सौदा करना (मा) मुझे (फलिनम्) फलवान् (कृणोतु) करे।

१३. (अग्ने) हे अग्रनायक परमेश्वर, आप (राये) धनोपार्जन के लिए (अस्मान्) हमें (सुपथा नय) सुपथ से ले चलो। आप (विश्वानि वयुनानि) हमारे सब इरादों और कर्मों को (विद्वान्) जाननेवाले हो। (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलता को और (एनः) पाप को (युयोधि) पृथक् कर दो। हम (ते) आपके लिए (भूयिष्ठाम्) बहुत अधिक (नमः उक्तिम्) नमस्कार-वचन (विधेम) करें।

१४. (एताः) इन (एनाः) पूर्व मन्त्रोक्त एक-सौ-एक लक्ष्मियों का (व्याकरम्) मैं विश्लेषण करता हूँ (खिले विष्ठिताः गाः इव) जैसे गोशाला में एकत्र स्थित गौओं का गोस्वामी विश्लेषण करता है कि कौन सी गाय कैसी है। (याः पुण्याः लक्ष्मीः) जो पुण्य लक्ष्मियाँ हैं, वे (रमन्ताम्) मेरे पास रमती रहें, (याः पापीः) जो पाप-लक्ष्मियाँ हैं (ताः अनीनशम्) उन्हें नष्ट कर देता हूँ।

१५. (असमृद्धे) हे असमृद्धि, तू (परः अपेहि) दूर चली जा, (ते हेतिम्) तेरे शस्त्र को, हम (वि नयामसि) परे हटा देते हैं। (अराते) हे कुछ भी लाभ न देनेवाली असमृद्धि, (अहम्) मैं (त्वा) तुझे (निमीवन्तीम्) हिंसा करनेवाली तथा (नितुदन्तीम्) व्यथा पहुँचानेवाली (वेद) जानता हूँ।

१६. (अराते) हे कुछ भी लाभ न पहुँचानेवाली असमृद्धि, (उत नग्ना बोभुवती) जब तू नग्न अवस्था में हो जाती है, तब (पुरुषस्य) पुरुषों के (चित्तम्) चित्त को (आकूतिं च) और सकंल्प को (वीर्त्सन्ती) व्याकुल करती हुई (स्वप्नया) स्वप्न में भी (जनं सचसे) उन जनों को प्राप्त होती है।

१७. (द्यावापृथिवी) हे आकाश-भूमि, (वाम् उपस्थे) तुम्हारी गोद में रहता हुआ (एष) यह जन (मा क्षुधत्) न भूखा रहे, (मा तृषत्) न प्यासा रहे।

२८. (आघृणे पूषन्) हे तेजस्वी पोषक प्रभु, आप (अदित्सन्तं चित्) दान न करना चाहनेवाले को भी (दानाय) दान करने के लिए (चोदय) प्रेरित कीजिए। (पणेः चित्) कृपण के भी (मनः) मन को (वि म्रद) विशेष रूप से कोमल कर दीजिए।

२९. हे राजन्, (एषां वित्तम्) इनके धन को (विसर्माणं कृणुहि) गरीबों के प्रति फैलनेवाला कर दो, (ये) जो लोग (उक्थैः) दान-वचनों के कहने पर भी (नः अपृणन्तः) हम गरीबों को दान न करते हुए (भुञ्जते) स्वयं उपभोग करते रहते हैं। (अपव्रतान्) दान के व्रत का पालन न करनेवाले, (प्रसवे वावृधानान्) राष्ट्र में स्वयं धन से बढ़ते रहनेवाले (ब्रह्मद्विषः) ब्रह्मद्वेषियों को (सूर्याद् यावयस्व) सूर्यप्रकाश से वंचित कर दो।

❑❑

वेदों में मानवता की प्रेरणा

दान की भावना

बृहदारण्यक उपनिषद् की कथा है कि एक बार देव, मनुष्य और असुर तीनों अपने पिता प्रजापति के पास अपने-अपने योग्य शिक्षा लेने के लिए गये। प्रजापति ने तीनों को 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया, और 'द' अक्षर से देवों ने दमन की, मनुष्यों ने दान की तथा असुरों ने दया की शिक्षा ग्रहण की। इस लघुकथा से मानवता के विशेष गुण पर प्रकाश पड़ता है और वह है दान, दया और त्याग या परोपकार की भावना। जिन व्यक्तियों के अन्दर यह भावना नहीं है, जो स्वार्थ को ही देखते हैं, परार्थ को नहीं, वे वेद की दृष्टि से मानव कहलाने योग्य नहीं है, और उन्हें वेदों में पणि, असुर, राक्षस आदि शब्दों से स्मरण किया गया है।

मानवता को दृष्टि में रखते हुए वेदों में दानवृत्ति पर बहुत अधिक बल दिया गया है। ऋग्वेद में राजाओं की अनेक दान-स्तुतियाँ आती हैं। कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद की २२ दानस्तुतियों का उल्लेख किया है— स्वनय की दानस्तुति (१.१२५.), भावयव्य की दानस्तुति (१.१२६), वैददश्वि तरन्त, वैददश्वि पुरुमीढ, दार्भ्य रथवीति और तरन्तमहिषी शशीयसी की दानस्तुति (५.६१), चायमान अभ्यावर्ती की दानस्तुति (६.२७), साञ्र्जय प्रस्तोक की दानस्तुति (६.४७), सुदास् पैजवन की दानस्तुति (७.१८), विभिन्दु की दानस्तुति (८.२), कौरयाण पाकस्थामा की दानस्तुति (८.३), कुरंग की दानस्तुति (८.४), चैद्य कशु की दानस्तुति (८.५), तिरिंदिर पार्शव्य की दानस्तुति (८.६), त्रसदस्यु की दानस्तुति (८.१९), चित्र की दानस्तुति (८.२१), सौषाम्णि वरु की दानस्तुति (८.२४), कानीत पृथुश्रवा की दानस्तुति (८.४६), प्रस्कण्व की दानस्तुति (८.५५) आर्क्ष श्रुतर्वा की दानस्तुति (८.७४), कुरुश्रवण त्रासदस्यव की दानस्तुति (१०.३३) तथा सावर्णि की दानस्तुति (१०.६२)। इनके अतिरिक्त भी दानस्तुति के कई सूक्त ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इन सभी में दीन-हीन या संकटापन्न व्यक्ति की सहायता करके मानवता के धर्म का निर्वाह किया गया है, तथा सहायता पानेवाले व्यक्ति सहायता करनेवाले की प्रशंसा करते हुए अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन कर रहे हैं। संकट में सहायता का हाथ बढ़ानेवाले ये स्वनय, भावयव्य आदि योगार्थसूचक नाम हैं तथा इन दानस्तुतियों के द्वारा वेद दीन-दुःखियों की सहायता करने का उपदेश देते हैं।

उदाहरणार्थ ऋग्वेद (१०.३३) में एक व्यक्ति है, जिसकी पहले बड़ी अच्छी स्थिति थी, किन्तु बुरे दिन आने पर वह भूखा, नंगा, दुर्बल एवं मतिहीन हो गया है। वह पुकार मचाता है—

[१]सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः ॥

'मुझे मेरे शरीर की पसलियाँ ही बुरी तरह संतप्त कर रही हैं, जैसे अनेक पत्नियों से विवाह करने पर सपत्नियां तंग करती है। मुझसे उठा-बैठा तक नहीं जाता। मुझे मतिहीनता, नग्नता और दुर्बलता सता रही है। चिन्ता के मारे मेरी मति पक्षी की मति के समान व्याकुल हो रही है।'

अन्त में उसे कुरुश्रवण राजा की शरण प्राप्त होती है, जो उसका दारिद्र्य दूर करता है। 'कुरु' का अर्थ है प्रार्थना करनेवाला—'कर्ता स्तोमानाम्' 'कुरुं शृणोतीति कुरुश्रवणः'—जो प्रार्थी की प्रार्थना को सुनता है, उस वैभवशाली व्यक्ति को कुरुश्रवण राजा कहेंगे। वैभवशालियों को आवश्यकता पड़ने पर दीन-दुखियों की सहायता करनी चाहिए, इसी बात की प्रेरणा वेद ने इस प्रसंग के द्वारा की है।

वेद के दशम मण्डल का ११७वाँ सूक्त धनान्न-दानप्रशंसा के रूप में प्रसिद्ध है, जिसके कुछ मन्त्र निम्न हैं, जिनमें धन, अन्न आदि के दान की प्रेरणा की गई है—

[१]य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते॥
—ऋ० १०.११७.२

'जो अन्नाधिपति होता हुआ भी दुर्बल, दारिद्र्य से हिंसित, अन्नाभिलाषी, अपने द्वार पर आए हुए भिक्षु के सम्मुख अपने मन को कठोर बना लेता है और न केवल उसे दान ही नहीं करता, प्रत्युत उसके सामने ही भोग करने बैठ जाता है, वह इस बात को निश्चय रूप से जान ले कि उसे भी आवश्यकता पड़ने पर कोई सुख देनेवाला नहीं मिलेगा।'

[३]पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥
—ऋ० १०.११७.५

'धनी को चाहिए कि वह याचना करनेवाले को अवश्य ही दान करे। उसे दूरदृष्टि से देखना चाहिए। हो सकता है कि कभी उसे भी दूसरों के सम्मुख हाथ पसारने की आवश्यकता पड़े, क्योंकि सम्पत्तियाँ रथ के चक्र के समान घूमती रहती हैं और एकके पास से दूसरे के पास जाती रहती हैं।'

[४]मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥
—ऋ० १०.११७.६

'हृदयहीन मनुष्य व्यर्थ ही अन्न का स्वामी बनता है। सच कहता हूँ, वह अन्न नहीं, उसका वध बनकर उसके पास आया है। जो अन्न से न श्रेष्ठ जनों को पुष्ट करता है, न अपने साथी को, ऐसा अकेला खानेवाला केवल पाप का ही

भागी होता है।'

जिनका हृदय दूसरों को दुःख में देखकर भी द्रवीभूत नहीं होता, ऐसे व्यक्तियों के लिए वेद में पूषा से प्रार्थना की गई है कि वह उनके हृदय को मृदु करे तथा उन्हें दान के लिए प्रेरित करे—

[५]अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः॥ —ऋ० ६.५३.३

वेद का स्तोता इन्द्र को सम्बोधन कर कहता है कि यदि मैं भी आपकी तरह धनवान् हो जाऊँ और गौओं का स्वामी हो जाऊँ, तो आप मेरे अन्दर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करना कि मैं याचकों को खूब दान करूँ और उन्हें भी गोओं का स्वामी बना दूँ—

[६]यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्।
स्तोता मे गोषखा स्यात्॥
[७]शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
यदहं गोपतिः स्याम्॥

—ऋ० ८.१४.१,२

वस्तुतः वेदों में दान और त्याग की भावना इतने व्यापक रूप में छाई हुई है कि उसे वैदिक जीवन का सार कह सकते हैं। यज्ञ की भावना भी, जो वैदिक विचारधारा की मूल भावना है, इसी त्याग की भावना का ही एक रूप है। इस वैदिक दान, त्याग और यज्ञ की भावना में ही मानवता निहित हैं।

दुःखियों के दुःखहरण की अनेक कथाएँ वेदों में मिलती हैं। अश्वी-युगल अन्धों को आँखें देते हैं (ऋ० १.११६.१६), बुढ़ापे से व्याकुल च्यवन (गिरे हुए स्वास्थ्य वाले) की सेवा कर उसे बुढ़ापे के कष्ट से उबारते हैं (ऋ० १.११६.१०), समुद्र के मध्य में गिरे हुए भुज्यु (व्यापारी) का उद्धार करते हैं (ऋ० १.११६.३), शत्रुओं के द्वारा दस दिन और दस रात्रि जल में डुबाये गए रेभ (प्रभु-स्तोता) का त्राण करते हैं (ऋ० १.११७.४), वन्दन (प्रभु की वन्दना करनेवाले) को कष्ट से छुडाते हैं (ऋ० १.११७.५), अन्धे और लंगड़े परावृज् (असहाय) को चलाते हैं (ऋ० १.११२.८), पितृगृह में कुँवारी बैठी हुई घोषा (स्तोत्री कन्या) का विवाह कराते हैं (ऋ० १.११७.७)।

इसी प्रकार वेद के इन्द्र मानवों के लिए पणियों द्वारा चुराई गई तथा अभेद्य पर्वत-गुफा में बन्द करके रखी हुई गौओं को छुड़ाकर लाते हैं (ऋ० १०.१०८) वेद के पूषा पथियों को डाकुओं के आतंक से बचाते हैं तथा खोए हुए पशुओं को पुनः प्राप्त कराते है (ऋ० ६.५३,५४)। वेद के रुद्र हाथ में भेषज लेकर आतुरों के रोगों को दूर करते हैं (ऋ० २.३३.२)।

यहाँ अश्वी, इन्द्र, पूषा आदि से क्या अभिप्रेत है तथा इन कथाओं का रहस्य क्या है, इस विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि केवल यह

दिखाना ही प्रयोजन है कि वेद जहाँ-तहाँ मानवता के कार्यों की प्रेरणा देते हैं।

पारस्परिक प्रीति

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ प्रीति-पूर्वक रहे और मित्रभाव रखे, इस विषय के अनेक प्रसंग वेदों में आते है; यथा—

[८]सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
[९]येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

—अथर्व० ३.२०.१,४

'हे मनुष्यो, सहृदयता, एकमनस्कता और अविद्वेष का संदेश मैं तुम्हें देता हूँ। एक-दूसरे के साथ तुम इस प्रकार प्रीति रखो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े के प्रति प्रीति रखती है। जिससे देवजन एक-दूसरे से अलग नहीं होते, न आपस में द्वेष करते हैं, उस परस्पर मिलकर रहने के गुण को मैं तुम्हारे घरों में सदस्यों के अन्दर उत्पन्न करता हूँ।'

यदि कोई किसी से द्वेष करने लगे, तो भी उससे द्वेष नहीं करना चाहिए, प्रत्युत वेदों के शब्दों में इस प्रकार मैत्री का हाथ बढ़ाना चाहिए—

[१०]अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥
[११]सखायाविव सचावहा अब मन्युं तनोमि ते।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः॥
[१२]अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च।
यशावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि॥

—अथर्व० ६.४२.१,२,३

'हे भाई, तेरे हृदय में मेरे प्रति जो क्रोध चढ़ा हुआ है, उसे मैं ऐसे उतार दूँगा जैसे धनुष पर चढ़ी हुई डोरी को उतार दिया जाता है। जैसे डोरी उतार देने पर तीर नहीं छूट सकता, वैसे ही क्रोध को उतार देने पर जो कुछ उपद्रव तू करना चाहता है, उसे नहीं करेगा। तब हम दोनों अनुकूल मनवाले साथियों की तरह व्यवहार करने लगेंगे। हे भाई, मैं तेरे क्रोध को चूर-चूर कर दूँगा, जैसे शिला के नीचे दबाकर किसी वस्तु को चकनाचूर कर दिया जाता है। हे भाई, मैं तेरे क्रोध को ऐसे दबा दूँगा, जैसे एड़ी और पंजो से किसी वस्तु को दबा दिया जाता है, जिससे तू आपे से बाहर होकर नहीं बोलेगा और मेरा अन्तरंग मित्र हो जाएगा।'

वेद परस्पर विरुद्ध-हृदय बने हुए व्यक्तियों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए प्रेरणा करता है—

[१३]सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि॥
—अथर्व० ६.९४.१

"मैं तुम्हारे मनों को, कर्मों को और संकल्पों को परस्पर अनुकूल कर देता हूँ। जो तुम प्रतिकूल विचार और कर्मोंवाले हो गए हो, उन्हें मैं पुनः अनुकूल कर रहा हूँ।"

पारस्परिक एकता और सौहार्द की आवश्यकता अनुभव करते हुए समाज के सदस्य भी ऐसी ही इच्छा अभिव्यक्त कर रहे हैं—

[१४]संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥

[१५]सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥
—अथर्व० ७.५२.१-२

'अपनों के साथ हमारा ऐकमत्य हो, परायों के साथ ऐकमत्य हो। हे द्यावापृथिवीरूप अश्वी-युगल, जैसे तुम परस्पर एकमत होकर कार्य करते हो, वैसे ही हमारे अन्दर भी ऐकमत्य उत्पन्न करो। हम सब मन से एक हों, विचार से एक हों, दिव्य मन से हम अलग न हों। हमारे बीच में परस्पर मारकाट न मचे, वैमनस्य के घोष न उत्पन्न हों।'

सर्वभूत मैत्री

संसार में एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से, राष्ट्र में एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से, प्रदेशों में एक संगठन को दूसरे संगठन से शत्रुता नहीं, अपितु मित्रता रखनी चाहिए, यह वेदों का संदेश है—

[१६]दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजु० ३६.१८

'सब व्यक्ति मुझे मित्र की दृष्टि से देखे, मैं भी सब व्यक्तियों को मित्र दृष्टि से देखूँ। एवं सभी परस्पर मित्र की दृष्टि से देखा करें। हे दृढ़ता के देव प्रभु, इस प्रसंग में आप हमें दृढ़ता प्रदान कीजिए।'

[१७]जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥
—अथर्व० १२.१.४५

आज प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नीचा दिखाना चाहता है। शस्त्रास्त्रों की होड़ लग रही है। ऐसे-ऐसे संहारक अणु-गोलों का आविष्कार हुआ है कि एक

ही गोले से देश विध्वस्त हो जाए। परन्तु वेद को इसमें मानवता नहीं दिखाई देती। वेद कहता है—

[१८]यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ —यजु० १६.३

'हे रुद्र, हे शक्तिधर, तुझे गिरिशन्त और गिरित्र अर्थात् लोकरक्षक होना चाहिए—'गिरिषु पर्वतवदुन्नतेषु राष्ट्रेषु शं कल्याणं तनोतीति गिरिशन्तः। गिरीन् राष्ट्राणि त्रायते इति गिरित्रः।'—तूने अपनी शक्ति के मद में आकर फेंकने के लिए जो इषु—जो ऐटम शक्ति—हाथ में पकड़ी हुई है, उसे शिव बना, उसका संसार के हित के लिए उपयोग कर। उससे तू निरीह पुरुषों का और जगत् का संहार मतकर।

[१९]प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप॥ —यजु० १६.९

'तूने जो धनुष की दोनों कोटियों पर डोरी चढ़ाई हुई है, उसे खोल दे और जो चलाने के लिए हाथ में बाण पकड़े हुए हैं, उन्हें दूर रख दे अर्थात् जो युद्ध की तैयारी कर ली है, उससे उपरत हो जा।'

[२०]अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥
—अथर्व० ७.१०५.१

'हे मनुष्य, तू साधारण पुरुषों की भाँति क्रोध भरे वचनों को मत बोल, उनका त्याग करके दिव्य वचन बोल। अपने साथियों के साथ प्रणय का व्यवहार कर।'

नीचे गिरे को ऊपर उठाना

अपना कोई साथी नीचे गिर गया है, तो उसे सहारा देकर ऊपर उठाना भी मानव का धर्म है। यदि कोई ऐसा नहीं करता, तो वह मानवता से बहुत दूर है। वेदों में भी इस आशय की विविध प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं—

[२१]उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ —अथर्व० ४.१३.१

'हे विद्वानो, जो नीचे गिर गया है उसे तुम ऊपर उठाओ। जो अपराध करने के कारण उसका दुष्फल भोग रहा है, मृतप्राय हो रहा है, उसे पुनः जीवन प्रदान करो।'

पशुताओं तथा राक्षसी वृत्तियों से बचना

समाज में रहते हुए पशुताओं एवं राक्षसी वृत्तियों के वशीभूत हो जाना मानवता नहीं है। वेदों में इन वृत्तियों से दूर रहने की तथा राक्षसोचित कर्मों से बचने की बार-बार पेरणा की गई है।

[२२]उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

—अथर्व० ८.४.२२

'हे मनुष्य, तू उल्लू के समान आचरण—मोह को, भेड़िये के से चलन—क्रोध को,कुत्ते के-से व्यवहार—मत्सर को, चक्रवाक के से आचरण—काम को, गरुड़ की चाल—मद को और गिद्ध जैसे वर्ताव—लोभ को, इन षड् रिपुओं को ऐसे नष्ट कर दे, जैसे पत्थर से किसी वस्तु को चूर कर दिया जाता है।'

[२३]प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो
निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः। — यजु० १.७

'हे मनुष्य, तू राक्षसी वृत्तियों को दग्ध कर दे, स्वार्थ-वृत्तियों को भस्म कर दे। राक्षसी वृत्तियों को जलाकर निःशेष कर दे, स्वार्थ-वृत्तियों को भस्म करके निःशेष कर दे।'

समाज में जो लोग अमानवता के राक्षसोचित कार्य करते हैं, उन्हें सहन न करने का भी उपदेश वेदों में दिया गया है, अन्यथा समाज में अमानवता का बोलबाला हो जाएगा।

[२४]अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्याऽमित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय॥

—ऋ० १०.२२.८

'जो निकम्मे, अविचारशील, पापव्रती, मानवता का ध्यान न रखनेवाले दस्यु लोग हैं उनके अत्याचार को हे शत्रुहन्ता, तू मत पनपने दे।'

वेद मनुष्य को निम्न धरातल से उठाकर मानव बनाना चाहता है और मानव की भी अन्ततः दिव्यता में परिणति कराना चाहता है—**'मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्'** (ऋ० १०.५३.६) 'तू मनुष्य बन और फिर दिव्य जन को उत्पन्न कर।'

पाद टिप्पणियाँ—

१. (पर्शवः) मेरे शरीर की पसलियाँ ही (मा संतपन्ति) मुझे संतप्त कर रही हैं (सपत्नीः इव) जैसे सौतें विवाहित पुरुष को संतप्त करती हैं। (अमतिः) मतिहीनता, (नग्नता) नंगापन, (जसुः) और दुर्बलता (नि बाधते) मुझे तंग कर रहे हैं। (मतिः) मेरी मति (वेःन) पक्षी की मति के समान (वेवीयते) चलायमान हो रही हैं।
२. मन्त्र संख्या २.३.५.८,१०.११.१४.१६.१७ तथा १८ के पदार्थ द्रष्टव्य—निबन्ध संख्या १३ में।
३. (अप्रचेताः) नासमझ, हृदयहीन मनुष्य (मोघम्) व्यर्थ ही (अन्नं विन्दते) अन्न को प्राप्त करता है। (सत्यं ब्रवीमि) सच कहता हूँ (स तस्य वधः इत्) वह उसकी मौत ही होता है। जो व्यक्ति अन्न से (नअर्यमणं पुष्यति) न श्रेष्ठों

का मान करनेवाले को पुष्ट करता है, (नो सखायम्) न अपने साथी को, ऐसा (केवलादी) अकेला खानेवाला मनुष्य (केवलाघः भवति) केवल पाप का ही भागी होती है।

६. (इन्द्र) हे परमेश्वर, (यत्) यदि (अहम्) मैं (एकः इत्) एकमात्र (यथा त्वम्) तेरे समान (वस्वः ईशीय) धन का स्वामी हो जाऊँ तो (मे स्तोता) मेरी स्तुति करनेवाला (गोसखा स्यात्) गौओं का स्वामी बन जाए।

७. (यत् अहम्) यदि मै (गोपतिः स्याम्) गौओं का स्वामी हो जाऊँ तो (शचीपते) हे शक्ति के अधिपति इन्द्र प्रभु, मैं (अस्मै मनीषिणे) इस मनीषी को (दित्सेयम्) दान देना चाहूँ, (शिक्षेयम्) दान कर दूँ।

९. (येन) जिससे (देवाः) विद्वान् लोग (न वियन्ति) एक-दूसरे से अलग नहीं होते, (नो च) और न ही (मिथः) आपस में (विद्विषते) विद्वेष करते हैं (तत् संज्ञानं ब्रह्म) उस परस्पर मिलकर एक रहने के गुण को (वः गृहे) तुम्हारे घर में भी (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिए (कृण्मः) हम उत्पन्न करते हैं।

१२. हे साथी, (ते मन्युम्) तेरे क्रोध को (पार्ष्ण्या) एड़ी से (प्रपदेन च) और पंजे से (अभितिष्ठामि) कुचल देता हूँ, (यथा) जिससे तू (अवशः) आपे से बाहर होकर (न वादिषः) न बोले, और (मम चित्तम् उपायसि) मेरे चित्त के समीप आ जाए।

१३. हे मनुष्यो, (वः मनांसि) तुम्हारे मनों को (सं नमामसि) हम एक-दूसरे के प्रति झुका देते हैं, (सं व्रता) कर्मों को या व्रतों को एक-दूसरे के प्रति झुका देते हैं (सम् आकूतीः) सकंल्पों को एक-दूसरे प्रति झुका देते हैं। (अमी ये) जो तुम (विव्रताः स्थन) परस्पर प्रतिकूल विचारों और कर्मोंवाले हो गए हो (तान् वः) उन तुमको (सं नमयामसि) एक-दूसरे के प्रति झुका देते हैं।

१५. हम (मनसा) मन से (सं जानामहै) एक हो जाएँ, (चिकित्वा) ज्ञान से (सम्) एक हो जाएँ, (दैव्येन मनसा) दिव्य मन से (मा युष्महि) अलग न हों। (बहुले विनिर्हते) बहुसंख्यक पक्ष की बात तोड़ दिए जाने पर (घोषाः) जो विद्रोह के घोष उठा करते हैं वे हमारे बीच में (मा उत् स्थुः) न उठें, अर्थात् हम सदा आपस में बहुपक्ष की बात का आदर करते रहें। (अहनि आगते) समय आने पर (इन्द्रस्य इषुः मा पप्तत्) परमेश्वर का वज्रपात हमपर न हो।

१९. (त्वम्) तू (धन्वनः) धनुष की (उभयोःआर्त्न्योः) दोनों कोटियों पर तनी (ज्याम्) डोरी को (प्रमुञ्च) खोल दे। (भगवः) हे भगवन्, (याः च ते हस्ते इषवः) जो तेरे हाथ में बाण हैं (ताः) उन्हें (परा वप) दूर फैंक दे।

२०. हे मनुष्य, तू (पौरुषेयात्) साधारण पुरुष के-से वचन से (अपक्रामन्) दूर हटता हुआ, (दैव्यं वचः वृणानः) विद्वानों के-से वचन का वरण करता हुआ (विश्वेभिः सखिभिः सह) सब सखाओं के साथ (प्रणीतीः अभ्यावर्तस्व) प्रेम का व्यवहार कर।

२१. (उत देवाः) और हे विद्वानो, तुम (अवहितम्) नीचे गिरे हुए को देखो, (देवाः) हे विद्वानो, (पुनः उन्नयथ) उसे फिर से ऊपर उठा दो। (देवाः) हे विद्वानो, (उत आगः चक्रुषम्) जिसने अपराध किया है उसे देखो (देवाः) हे विद्वानो, (पुनः जीवयथ) उसे अपराधवृत्ति से छुड़ाकर पुनः जीवित जागृत कर दो।

२२. (इन्द्र) हे परमेश्वर, आप हमारे (उलूकयातुम्) उल्लू जैसे आचरण को अर्थात् मोह को, और (शुशुलूकयातुम्) भेड़िये जैसे आचरण को अर्थात् क्रोध को, (श्वयातुम्) कुत्ते जैसे आचरण को अर्थात् मत्सर को (उत) और (कोकयातुम्) चकवे जैसे आचरण को अर्थात् काम को (जहि) नष्ट कर दो। (सुपर्णयातुम्) गरुड़ जैसे आचरण को, अर्थात् मद को तथा (गृध्रयातुम्) गिद्ध जैसे आचरण को अर्थात् लोभ को (रक्षः) इन सब राक्षसों को (दृषदा इव प्रमृण) जैसे किसी वस्तु को पत्थर से कुचल दिया जाता है वैसे कुचल दो।

२३. हे मनुष्य, (रक्षः प्रत्युष्टम्) तेरी राक्षसी वृत्तियाँ दग्ध हो जाएँ, (अरातयः प्रत्युष्टाः) तेरी स्वार्थ-वृत्तियाँ दग्ध हो जाएँ। (रक्षः निष्टप्तम्) राक्षसीवृतियाँ निःशेष रूप से दग्ध हो जाएँ, (अरातयः निष्टप्ताः) स्वार्थ-वृत्तियाँ निःशेष रूप से दग्ध हो जाएँ।

२४. जो (अकर्मा) निकम्मा, (अमन्तुः) अविचारशील, (अन्यव्रतः) पापव्रती, (अमानुषः) अमानव (दस्युः) दस्यु (नः अभि) हमें अभिभूत करता है, (अमित्रहन्) हे शत्रुहन्ता, (त्वम्) तू (तस्य दासस्य) उस घात-पात मचानेवाले दुष्ट के (वधः) अत्याचार को, मारकाट को (दम्भय) नष्ट कर दे।

□□

अनोखा पूषा देव

वेदों में इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत् आदि कई देवों का वर्णन मिलता है। उन्हीं देवों में एक देव पूषा भी है। इस पूषा के सम्बन्ध में ऋग्वेद १०वाँ मण्डल, २६ वें सूक्त का छठा मन्त्र इस प्रकार है—

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ किया है—

''वह पूषा (आधीषमाणायाः) अपने लिए नियत की हुई (शुचायाः च) चमकीली बकरी का (शुचस्य च) और चमकीले बकरे का (पतिः) स्वामी है, वह (अवीनाम्) भेड़ के बालों से (वासोवायः) यज्ञ के 'दशा', 'पवित्र' आदि वस्त्रों को बुनकर देने वाला है, और (वासांसि) उन वस्त्रों को (आमर्मृजत्) चारों ओर प्रकाश और ताप से शुद्ध करता है।''

इतना अर्थ कर सायणाचार्य सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे यह नही बताते कि यह पूषा कौन है और कैसे इन सब कार्यों को करता है। तो आइए, इस पहेली को बूझने का प्रयत्न करें।

पूषा कौन है ?

ऋग्वेद १.२३.१४ के भाष्य में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—''**यो जगदीश्वरः स्वाभिव्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् पोषयति स पूषा**'', अर्थात् जो अपनी व्याप्ति से सब पदार्थों को पुष्ट करता है वह जगदीशवर पूषा है। 'पूषा' शब्द पोषणार्थक पुष् धातु से बनता है। जो स्वयं सब दृष्टियों से परिपुष्ट है तथा अन्य सबको पुष्टि देता है, उस परमात्मा का नाम पूषा है। प्रस्तुत सूक्त में ही उसे 'पुष्टियों का सखा' कहा भी गया है ''**इनः पुष्टीनां सखा,** ऋ० १०.२६.७''।

'शुचा' ओर 'शुच' का पति

अब मन्त्रार्थ पर आते हैं। मन्त्र में पहली बात यही कही है कि वह पूषा 'शुचा' और 'शुच' का पति है। 'शुचा' और 'शुच' शब्द दीप्त्यर्थक शुच् धातु से बने है। भाष्यकार उद्गीथ ने यहाँ शुचा का अर्थ दीप्ति और शुच का अर्थ दीप्त लेकर यह आशय लिया है कि पूषा सब दीप्तियों का और सभी दीप्त पदार्थों का पति है। 'शुचा' का अर्थ है 'चमकीला'। संस्कृत में तीन लिंग होते हैं, स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग। 'शुच' शब्द की षष्ठी के एकवचन में स्त्रीलिंग 'शुचायाः' और पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग में 'शुचस्य' बनता है। तो अभिप्राय यह हुआ कि जगत् में जो भी चमकीली स्त्रीलिंगी, पुल्लिंगी या नपुंसकलिंगी वस्तुएँ हैं उन सब का यह पूषा परमात्मा अधिपति है। चमकीली स्त्रीलिंग वस्तुएँ विद्युत, भूमि, मेघमाला, अग्निज्वाला, तारकावलि आदि हैं, पुल्लिंगी वस्तुएँ अग्नि, सूर्य,

पर्वत, समुद्र, मेघ, चन्द्र आदि हैं, नपुंसकलिंगी वस्तुएँ पुष्प, फल, हिरण्य, रजत, ज्योतिष् आदि हैं। कोई भी चमकीली वस्तु या तो स्त्रीलिंगी होगी या पुल्लिंगी या नपुंसकलिंगी, अतः 'शुचायाः' और 'शुचस्य' में समस्त चमकीली वस्तुएँ आ जाती हैं। उन सब चमकीली वस्तुओं का वही पूषा प्रभु अधिपति, स्वामी या राजा है। सबकी चमक का स्रोत वही है,-**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**। कठ० ५.१५। मन्त्र में इन चमकीली वस्तुओं का विशेषण 'आधीषमाण' पठित है। इस विशेषण से यह सूचित होता है कि संसार की समस्त चमकीली वस्तुएँ स्वयं स्थित नही हैं, किन्तु अपनी स्थिति के लिए परमात्मा पर निर्भर हैं।

अजा-अज का स्वामी

सायणाचार्य ने 'शुचा' के साथ बकरी (अजा) और 'शुच' के साथ बकरे (अज) को अपनी ओर से लाकर जोड़ दिया है और यह अर्थ किया है कि पूषा चमकीली बकरी तथा चमकीले बकरे का स्वामी है, क्योंकि ये उसके वाहन हैं, परन्तु मन्त्र में इन बकरी-बकरे का कहीं नाम ही नहीं है। मन्त्र में तो इतना ही कहा है कि पूषा चमकीली और चमकीले का पति है, और पूर्व-व्याख्यानुसार चमकीली-चमकीले में बकरे-बकरी ही नहीं, सभी वस्तुएँ ही आ जाती हैं। यदि यहाँ बकरी-बकरे का ही ग्रहण अभिप्रेत होता, तो मन्त्र में 'शुचा' और 'शुच' पद न रखकर स्पष्ट 'अजा' और 'अज' शब्द ही रख दिये गए होते।

किन्तु इस मन्त्र में बकरी-बकरे का नाम ही नहीं है, इतना कह देने मात्र से काम नहीं चलेगा, क्यांकि अन्यत्र वैदिक साहित्य में पूषा के साथ स्थान-स्थान पर बकरी-बकरे (अजा और अज) का सम्बन्ध मिलता है।[४] प्रस्तुत सूक्त के ही ५वें मन्त्र में कहा है, "हे पूषन्! तेरे रथकी धुरी को बकरे (अज) घुमाते है", अतः कहा जा सकता है कि यदि सायणाचार्य ने "शुचा" और "शुच" के साथ 'अजा' और 'अज' का अध्याहार कर लिया है तो कोई अक्षम्य अपराध नहीं कर दिया। इसलिए अब हम सायणाचार्य के उक्त अध्याहार को मानकर ही विचार करते हैं।

'अजा', 'अज' का अध्याहार करने पर यह अर्थ होगा कि "वह पूषा परमात्मा चमकीली अजा और चमकीले अज का स्वामी है।" किन्तु यहाँ अजा-अज का अर्थ बकरी-बकरा नहीं है। इनका अर्थ समझने के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेता० ४.५

एक लाल-सफेद-काली अजा है, जो अपने जैसी बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न करती है; एक अज है जो इसका भोग करता है, और दूसरा अज है जो पहले अज से भोगी हुई इस अजा का भोग नहीं करता, प्रत्युत त्याग किए रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र ने अजा-अज की पहेली को हल कर

दिया है। अजा या अज शब्द का अर्थ है जो कभी जन्म न ले, अतः प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज हैं। रंग-बिरंगी अजा प्रकृति है, उसे भोगने वाला अज जीवात्मा है और उसके भोग से पृथक् रहनेवाला दूसरा अज परमात्मा है, अतः स्पष्ट है कि पूषा परमात्मा जिन चमकीली अजा और चमकीले अज का स्वामी है वे बकरी-बकरे नहीं किन्तु प्रकृति और जीवात्मा हैं। ऋषि दयानन्द ने कई स्थानों पर अपने भाष्य में 'अजा' का अर्थ जन्मरहिता प्रकृति और 'अज' का अर्थ जन्मरहित जीव किया है।[५]

जुलाहा

मन्त्र में दूसरी बात यह कही है कि वह पूषा भेड़ के बालों से कपडे बुननेवाला जुलाहा है। जैसे हमने अभी देखा कि पूषा परमात्मा के बकरी-बकरे साधारण बकरी-बकरे नहीं हैं, वैसे ही उसकी भेड़ भी साधारण भेड़ नहीं समझनी चाहिए।भेड़ के लिए मन्त्र में 'अवि' शब्द है। यजु0 २३.५४ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'अवि' का अर्थ 'रक्षिका प्रकृति' किया है। अथर्ववेद १०.८.३१ में इस अवि के विषय में कहा है—

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्त्रजः॥

अर्थात् ''अवि नाम की देवी है, जो परमात्मा के सत्य नियमों से परिवृत है, उसी के रूप से ये हरे-हरे वृक्ष हरित पत्तों की मालाएँ पहने दिखाई देते हैं।'' इससे भी स्पष्ट है कि यह 'अवि' प्रकृति ही है। इस प्रकृति-रूपी भेड़ के बालों से अर्थात् पंच-भूतों से पूषा परमात्मा जगत्रूप पट को बुनता है। परमात्मा का जुलाहे के रूप में चित्रण वेद में अन्यत्र भी मिलता है-''**पुमानेतद् वयत्युद्गृणात्ति, पुमानेतद् विजभाराधि नाके**। अथर्व० १०.७.४३'' अर्थात् पुरुष परमात्मा ही बुनता है, समेटता है, आकाश में ताना तनता है।

धोबी और अलंकर्त्ता

मन्त्र में तीसरी बात यह कही गई है कि पूषा उन बुने हुए वस्त्रों को साफ भी करता रहता है—**वासांसि आ मर्मृ जत्।**'''आ मर्मृजत् मे मृजू शौचालंकारयोः' धातु है। जो पूषा परमात्मा जगत् के विविध पदार्थ-पटों को बुनकर तैयार भी करता है और उन्हें साफ तथा अलंकृत भी करता रहता है, वह स्वयं जुलाहा, धोबी, रंगरेज, चित्रकार, कढ़ाई करने वाला सब-कुछ है। नहीं तो उस विलक्षण जुलाहे से तैयार किये वस्त्रों को धोनेवाला धोबी कहाँ मिलें? उसके वस्त्रों पर चित्र बनाने वाला और बेल-बूटों की कढ़ाई करने वाला हमें कौन मिले?

देखो, जगत् के वृक्ष-वनस्पति, वन-पर्वत, भूमि-आकाश, ईंट-पत्थर आदि वस्त्रों पर जब धूल आदि की मलिनता चढ़ जाती है, तब वह पूषा प्रभू वर्षा की पावन धाराओं से उन्हें धोकर निर्मल कर देता है। जब इनमें किसी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न होने लगता है, तब वह अपनी सूर्य और वायु की मार्जनी द्वारा उन्हें शुद्ध कर देता है। वही वृक्षों की हरी-हरी पत्तियों में और रंग-बिरंगे फूलों

तथा अन्य चित्र-विचित्र पदार्थों में रंग भरकर उन्हे अंलकृत करता है। वही रात्र्याकाश की श्याम चादर पर तारों के सलमें-सितारों से सुनहरे सप्तऋषि आदि के चित्र काढ़ता है। वही पशु-पक्षियों के शरीर के त्वग्वस्त्र पर रंग-बिरंगे रोमों से चित्रकारियाँ करता है।

पूषा सूर्य

परमात्मपरक अर्थ के अतिरिक्त इस मन्त्र की अन्य व्याख्याएँ भी हो सकती हैं। ऋषि दयानन्द के अनुसार पूषा के परमात्मा, पोषक प्राण, पुष्टिकर्ता वायु, पुष्टिकर मेघ, भूमंडल, पोषक वैद्य, सूर्य, चन्द्रमा, सभासेनाध्यक्ष, परिपुष्ट सैन्य, विद्वान् पुष्टिकर्ता, शिल्पी, पुष्टिमान् वीर आदि कई अर्थ हैं। इन पक्षों में भी मन्त्र की सुसंगत व्याख्याएँ की जा सकती हैं।

एक व्याख्या के अनुसार पूषा सूर्य है।[६] वह शुचा और शुच का अधिपति हे। शुचा का अर्थ है चमकीली विद्युत्, शुच है चमकीला अग्नि। अन्तरिक्षस्थानीय विद्युत् और पृथिवीस्थानीय अग्नि दोनों का संरक्षक सूर्य है। अथवा यदि शुचा-शुच के साथ अजा-अज का ही अध्याधार करना हो तो चमकीली अजा है रंग-बिरंगी पृथिवी। पृथिवी अजा इसलिए है क्योंकि वह गतिशील है (अज गति क्षेपणयोः), १७ मील प्रति सैकण्ड अपरिमित वेग से वह सूर्य के सारो ओर दौड रही है। चमकीले अज हैं गतिशील अग्नि या पृथिवी की तरह के दूसरे मंगल, बुध आदि ग्रह। सूर्य इन सबका अधिपति है। अथवा चमकीली अजा है गतिशील रात्रि और चमकीला अज है प्रकाशमान दिन। दनका भी सूर्य अधिपति है।

'अवि' का अर्थ भी पृथिवी है।[७] उस पुथिवी के बालों अर्थात् अवयवों से सूर्य अनेक पार्थिव पदार्थरूपी वस्त्रों को बुनता है। यदि सूर्य न हो तो पृथिवी पर सब पदार्थों की उत्पत्ति रुक जाए। फिर वह सूर्य उन उत्पन्न हुए पार्थिव-पदार्थ-रूपी वस्त्रों को वर्षा, प्रकाश, ताप, वायुसंचालन आदि के द्वारा शुद्ध भी करता रहता है और अपनी सात रंगोंवाली किरणों से सब पदार्थों को विविध रूप प्रदान करता हुआ उन्हें अलंकृत भी करता है।

आइये, वेद के साथ हम भी उस विलक्षण अजपाल के, उस विलक्षण जुलाहे के, उस विलक्षण प्रक्षालक और अलंकर्ता के गुणगान करें।

पाद टिप्पणियाँ—

१. आधीषमाणायाः आत्मार्थे घीयमानायाः शुचायाश्च दीप्ताया अजायाश्च पतिः स्वामी। न केवलं स्त्रीमात्रस्य किन्तु शुचस्य दीप्तस्य पुंपशोश्च पतिरित्यर्थः। एवंभूतः पूषा देवः अवीनाम् उरणानां सम्बन्धिभी रोमभिः वासोवायः दशापवित्रादीनि वस्त्राणि प्रेरयन्, वासांसि रजकशोध्यानि तानि वस्त्राणि आ मर्मृजत्, आ समन्तात् प्रकाशोष्मभ्यां शोधयन् भवति। —सायण

२. शुचायाः सर्वस्या दीप्तेः च शुचस्य दीप्तस्य च सर्वस्य पतिः पूषा। —उद्गीथ

३. यद्यपि 'अधीमाणायाः' पद स्त्रीलिंगी होने से 'शुचायाः' का ही विशेषण हो

सकता है, किन्तु लिंग-परिवर्तन करके इसे 'शुच' का भी विशेषण मानना चाहिए। "आधीषमाणायाः शुचायाश्च, आधीषमाणस्य शुचस्य च पतिः"।

४. अजाः पूष्णः, निघं० १.१५। अजाश्वेति पूषणमाह, निरु० ४.६१। आजासः पूषणं रथे निश्रृम्भास्ते जनश्रियम्। देवं वहन्तु केतवः॥ —ऋ० ६.५५.६

५. देखो ऋग्भाष्य १.१६४.६; यजुर्भाष्य १७.३०,२३,५६ सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास।

६. अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति। निरु, १२.१७। असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति। कौ० ५.२। "पूषा सूर्यः" यजु० ३३.३४ भाष्ये दयानन्दः।

७. अविः रक्षादिकर्त्री पृथिवी—यजु० २३.१२ भाष्ये दयानन्दः। इयं (पृथिवी) वा अविः इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति—श० ६.१.२.३३। अवतीत्यविः पृथिवी —यजुः २३.१२ भाष्ये महीधरः।

❑❑

प्रभु कहाँ है ? देखो, यहाँ है!

[१]क्व स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः ।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥ —साम०पू० १४२

तुम कहते हो, संसार में कोई है, जो 'वृषभ' है, वर्षा करनेवाला है। उसी के नियमों के अनुसार समुद्र से पानी वाष्प बनकर आकाश में बादल के रूप में एकत्र होता है और बरसता है। बरसा हुआ पानी सब प्राणियों का कल्याण कर नदियों के द्वारा फिर समुद्र में पहुँच जाता है, और समुद्र से पुन: बादल बनकर बरस जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। और यह पानी की वर्षा ही क्या, वह तो अनन्त पदार्थों की वर्षा करनेवाला है। वह हमें गर्मी पहुँचाने के लिए भूमि पर सूर्य-किरणों की वर्षा करता है, हमें प्राण देने के लिए वायु की वर्षा करता है, हमारे लिए धन-धान्य की वर्षा करता है, हीरे-मोती, सोना-चाँदी की वर्षा करता है और इन सबसे बढ़कर हमारे ऊपर सदगुणों की वर्षा करता है, सब प्राणियों पर न्याय, दया, सुख आदि की वर्षा करता है, परन्तु हम पूछते हैं—वह है कहाँ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'युवा' है, सदा से युवा रहा है और आगे भी सदा युवा ही रहेगा। हम सांसारिक प्राणी एक दिन जन्म लेते हैं, फिर क्रमश: बचपन, यौवन और बुढ़ापे की अवस्थाओं को पार करते हुए एक दिन इस संसार को छोड़कर चले जाते हैं, परन्तु वह ऐसा नहीं है। वह सदा तरुण है। कोई ऐसा समय नहीं था जब वह बच्चा रहा हो, बच्चे की तरह अल्पशक्ति रहा हो ओर कभी ऐसा समय नहीं आयेगा जब वह बूढ़ा हो जाए, बूढे की तरह अशक्त हो जाए। वह अजर है, अमर है, परन्तु हम पूछते हैं—वह है कहाँ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'तुविग्रीव' है, अनन्त ग्रीवाओं वाला है, ग्रीवा के जो निगलना और उपदेश देना रूपी व्यापार हैं उन्हें अनन्त रूप से करने वाला है। जैसे हम प्राणी अपनी ग्रीवा से ग्रास को निगलते हैं, वैसे ही वह समय आने पर प्रत्येक पदार्थ को निगलता है और प्रलयकाल में सारे जगत् को ही कवलित कर लेता है। जैसे हम अपनी ग्रीवा से बोलकर दूसरे को उपदेश करते हैं, वैसे ही वह हम सबके मनों में ज्ञान का उपदेश करता है और आदि सृष्टि में भी उसी ने हमारे लिए वेद का उपदेश किया था, परन्तु हम पूछते हैं—वह है कहाँ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'अनानत' है, अपराजेय है, विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति से हार नहीं माननेवाला है। वह किसी के आगे नहीं झुकता, उसके आगे सब झुकते हैं। ये उत्तुंग पर्वतशिखर उसके आगे झुकते हैं, ये नदी-नद-समुद्र उसके आगे झुकते हैं, ये सूर्य-चाँद उसके आगे झुकते हैं, परन्तु हम पूछते हैं—वह है कहाँ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'ब्रह्मा' है, विशाल है, बृहत् शक्तिवाला है, बहुत समृद्ध है, परन्तु हम पूछते हैं—वह है कहाँ?

तुम कहते हो उस "वृषभ" की, उस "युवा" की, उस "तुविग्रीव" की, उस "अनानत" की, उस "ब्रह्मा" की पूजा करो, आराधना करो, परन्तु हम पूछते हैं कौन उसकी आराधना कर सकता है? कैसे कोई उसकी आराधना कर सकता है? आराधना तो उसकी की जाऐ जिसे देखकर आँखे तृप्त हो सकें, जिसकी अमृतवाणी से कान तृप्ति पा सकें, जिसके चरणों की धूल से मस्तक धन्य हो सके। हम पूछते है उसका कोई ठिकाना बताओ, उसका कोई रूप बताओ, उसकी कोई निशानी बताओ, जहाँ जाकर, जिस रूप को देखकर, जिस निशानी को पहचानकर हम उसके दर्शन पायें, उसकी आराधना करें।

क्या कहते हो? किसी गुरु की शरण में जाओ। मुझे तो कोई गुरु नहीं दीखता। मैं कहाँ जाऊँ, मैं किसके द्वार पर जाकर टक्कर मारूँ? अरे, सहसा यह किसका गम्भीर स्वर आकाश में गूंज रहा है?—

[2]उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ —साम०पू० १४३

क्या तुम प्रभु के दर्शन करना चाहते हो? यदि ऐसा है तो आओ। थोड़ी देर के लिए तुम्हें संसार के दूषित विषैले वातावरण से दूर हटना होगा। उसे देखने के लिए प्रारम्भ में तुम्हें ऐसे वातावरण में चलना पड़ेगा जहाँ ध्यान-भंग करने के लिए सांसारिक कलह, कटुता और अशान्ति का नर्तन न होता हो, किन्तु शान्ति का साम्राज्य हो। वहाँ दर्शन कर लेने के पश्चात् फिर वह सर्वत्र दिखायी पड़ने लगेगा। फिर तुम संसारिक कोलाहल और चीत्कार के बीच भी उसकी हँसती हुई मुखमुद्रा का, उसकी सत्ता का दर्शन कर सकोगे।

अच्छा, तो आओ, पर्वतो के एकान्त में चलो, नदियों के संगम पर चलो। पर्वत के नीचे खड़े होकर जरा उसकी गगनचुम्बी चोटियों की ओर तो निहारो। क्या ये चोटियाँ सिर उपर किये हुए तुम्हें उसी प्रभु की महिमा गान करती हुई प्रतीत नहीं होतीं? पर्वत के इन स्वच्छ झरनों की ओर तो देखो! क्या झर-झर करते हुए ये झरने तुम्हें उस प्रभु के ही गीत गाते प्रतीत नहीं होते? पर्वत के इन सुरभित वृक्षों और लता-कुंजों की ओर तो दृष्टि डालो! क्या ये तुम्हें उसी प्रभु का संकेत करते प्रतीत नहीं होते? लताकुंजों पर फुदककर चहकती हुई इन चिड़ियों को तो देखो! क्या ये तुम्हें उसी प्रभु की चर्चा करती प्रतीत नहीं होतीं? पर्वतीय उपवन के पुष्पित तरुओं पर उड़ती हुई रंग-बिरंगी तितलियों को तो देखो! क्या ये उसी प्रभु के रूप-रंग की झांकी देती हुई प्रतीत नहीं होतीं?

आओ, इन नदियों के संगम की ओर भी देखो। विपुल वेग के साथ दौड़कर एक-दूसरी के साथ मिलती हुई धाराएँ क्या उसी प्रभु के मिलन का संदेश नहीं दे रहीं? क्या ये धाराएँ अपने तरंग रूपी हाथों को उठा-उठाकर प्रभु दर्शन के लिए तुम्हें नहीं बुला रहीं?

अब थोड़ी देर के लिए इस वातावरण में आँख बन्द करके भी देखो। क्या

अन्दर किसी ज्योति के दर्शन नहीं होते ? क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता कि किसी आनन्द के स्रोत से आनन्द का प्रवाह तुम्हें अनुपम, अवर्णनीय आनन्द रस से अभिषिक्त कर रहा है ? यदि ऐसा अनुभव होता है तो तुम्हें प्रभु के दर्शन हो गए। अब तुम सर्वत्र प्रभु को देख सकोगे। अब तुम स्वयं कहोगे—प्रभु यहाँ भी है, वहाँ भी है, इधर भी है, उधर भी है, पृथिवी में भी है, सूर्य में भी है। वह पेड़-पौधों में है, बादल में है, बिजली में हैं फूल-पत्तियों में है, नदी-नीर में है, सागर में है, सूर्य में है, चाँद में है, जड़ में है, चेतन में है, कण-कण में है, सर्वत्र है।

प्रभु, क्योंकि चर्मचक्षुओं से दीखता नहीं, इसलिए है ही नहीं, तुम्हारे मन में उठी हुई यह शंका कोई नवीन नहीं है। यह तो सनातन है, वेद स्वयं कहता है—

[३]यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्, उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति, श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥

—ऋ० २.१२.५

बहुत से मनुष्य सन्देह की भावना के साथ आ-आकर पूछते हैं—यदि प्रभु है तो कहाँ है ? दूसरे कुछ लोग इससे भी आगे बढ़ जाते है और वे ताल ठोककर कहते हैं कि प्रभु नाम की वस्तु संसार में कोई नहीं है, परन्तु इन दोनों कोटि के मनुष्यों के जीवनों में अनेक ऐसे अवसर आते हैं कि उनका अपना अन्तःकरण ही कहता है कि प्रभु है, अवश्य है।

एक बार नौका में बैठकर ऐसे ही नास्तिकों की एक टोली नदी पार कर रही थी। अकस्मात् भँवर में पड़कर नौका डगमगाने लगी। मल्लाह ने सुना, सबके मुख पर एक ही शब्द थे—हे भगवन्, रक्षा करो! हे प्रभु रक्षा करो!

क़ई वर्ष की बात है, क्वेटा में भूकम्प आया। भूमि हिल उठी, दीवारें गिरने लगीं, मकान धराशायी हो गए। एक गिरी हुई दीवार के नीचे दबे हुए दो शिशु दो दिन बाद मलबा हटाने पर हँसते हुए बाहर निकल आये। वे एक गिरी हुई टीन के नीचे सुरक्षित थे। एक नास्तिक के मुख से निकल पड़ा—ईश्वर, तेरी लीला अपार है! जा को राखे साइयाँ मार सके न कोय।

एक विदेशी विद्वान् कट्टर नास्तिक थे। उन्होंने अपने भवन की दीवार पर स्थूलाक्षरों में लिखा हुआ था—ईश्वर कहीं नहीं है "God is no where." जीवन भर वे इसी मन्त्र का प्रचार करते रहे। मरणासन्न अवस्था में वे अपने भवन में शय्या पर पड़े हुए थे। दीवार पर लिखा हुआ वह वाक्य उनके नेत्रों के सम्मुख था। अकस्मात् उनके होठों ने बुदबुदाया—"God is now here—ईश्वर इस समय मेरे निकट है।" सुननेवालों ने हैरान होकर सुना।

महर्षि दयानन्द मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे। परम नास्तिक गुरुदत्त उनके समीप थे। असह्य कष्ट के समय भी महर्षि के मुख पर मुस्कुराहट व्याप्त हो रही थी। उनके मुख से शब्द निकले—"ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो, तूने अच्छी लीला की!" फिर शरीर त्याग दिया। अहो, अपार मृत्यु-कष्ट के समय भी इतना धैर्य! क्षणभर में गुरुदत्त नास्तिक से आस्तिक हो गए।

क्या ये घटनाएँ सिद्ध नहीं करतीं कि तुम्हारे मन में प्रभु के प्रति जो संदेह प्रस्फुटित हुआ है, वह एक न एक दिन अवश्य विलीन हो जाएगा? जीवन में देखी, सुनी या अनुभव की हुई कोई छोटी-सी भी घटना तुम्हें नास्तिक से आस्तिक बना देगी?

और देखो, नास्तिकता का दम भरकर संसार में उत्पात मचानेवाले बड़े-बड़े धर्मद्रोही लोगों को जो पनपते और फूलते-फलते प्रतीत होते थे, प्रभु ने ऐसे कँपा डाला, जैसे भेड़िया भेड़ को कँपा डालता है। हिरण्यकशिपु और कंस की भी अहम्मन्यता चिरस्थायी नहीं रह सकी। इसीलिए मैं तुम्हें कहता हूँ—प्रभु में श्रद्धा करो, प्रभु में विश्वास लाओ—"**श्रदस्मै धत्त**"।

आओ, वेद के शब्दों में मैं उस प्रभु की कहानी तुम्हें सुनाऊँ। सुनो—

[४]यो जात एव प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २.१२.१

"जो सदा ही विद्यमान रहता है, जो सर्वश्रेष्ठ है, जो मनस्वी है, जिस देव ने सब दिव्य पदार्थों को अपने-अपने कर्म से अलंकृत किया हुआ है, जिसके बल की महिमा से द्यावापृथिवी काँपते हैं, हे मनुष्यो, वह 'प्रभु' है।"

[५]यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो, यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २.१२.२

"सृष्टि के प्रारम्भ में जिसने गारे के समान हिलती-डुलती पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने आग उगलनेवाले प्रकुपित ज्वालामुखी पर्वतों को रमणीय बनाया, जिसने विशाल अन्तरिक्ष को रचा, जिसने द्युलोक को स्थिर किया, हे मनुष्यो, वह 'प्रभु' है।"

[६]यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो, यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान, यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥

— ऋ० २.१२.७

"घोड़े जिसके शासन में हैं, गौएँ जिसके शासन में हैं, ग्राम जिसके शासन में हैं, रथ जिसके शासन में हैं। जिसने सूर्य को रचा, जिसने उषा को रचा, जिसने नदियों को प्रवाहित किया, हे मनुष्यो वह 'प्रभु' है।"

प्रभु की गुणगाथा मैं तुम्हें कहाँ तक सुनाऊँ? वेद और शास्त्र इससे भरे पड़े हैं। बहुत कुछ सुना सकता हूँ, परन्तु देखता हूँ उसका कुछ अधिक फल होनेवाला नहीं है। तुम्हारा मन थका हुआ-सा, कुछ अजीब दुविधा में पड़ा हुआ-सा पा रहा हूँ। तुम कुछ ऐसी स्थिति में पड़ गए हो कि प्रभु की सत्ता के विषय में 'हाँ' भी नहीं कर सकते हो और 'ना' भी नहीं। मैं तुम्हारे अन्दर्द्वन्द्व को समझ रहा हूँ। ठीक है, तर्क से, युक्ति से प्रभु को हृदयंगम करा सकना कठिन है। तो भी मैं

समझ रहा हूँ, तुम्हें मेरा यह सब कहना व्यर्थ नहीं गया है। मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि तुम्हारे हृदय-द्वार के कपाटों के बीच में एक पतली-सी रेखा उत्पन्न हो गयी है और उसमें से प्रभु-प्रकाश की एक सूक्ष्म किरण तुम्हारे हृदय में प्रविष्ट हो रही है। बस, इतना ही पर्याप्त है। कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए इतना ही कर सकता है। अगला कार्य प्रभु स्वयं करेंगे।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (क्व स्यः) कहाँ है वह (वृषभः) वर्षक, (युवा) तरुण, (तुविग्रीवः) बहुत ग्रीवाओंवाला, (अनानतः) अपराजेय (ब्रह्मा) परमेश्वर। वह कहीं दीखता तो है नहीं, अतः (कः तम्) कौन उसे (सपर्यति) पूज सकता है ?

२. (गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) एकान्त में (नदीनां च) ओर नदियों के (संगमे) संगम पर (धिया) ध्यान के द्वारा (विप्रः) विप्र प्रभु (अजायत) हृदय में प्रकट होता है।

३. (यं स्म पृच्छन्ति) जिसके विषय में लोग पूछते हैं कि (कुह सः इति) वह कहाँ हैं, (उत ईम् एनम् आहुः) तथा कुछ लोग इसके विषय में कहते हैं (न एषः अस्ति इति) वह तो है ही नहीं, किन्तु (सः) वह तो (अर्यः) नास्तिक शत्रु की (पुष्टीः) पुष्टियों को, समृद्धियों को (आमिनाति) नष्ट कर देता हैं। (जनासः) हे मनुष्यो, (सः इन्द्रः) वह प्रभु है। (अस्मै श्रद्धत्त) इसमें श्रद्धा करो।

४. (यः) जो (जातःएव) विद्यमान ही रहता है, (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ है, (मनस्वान्) मनस्वी है, (देवः) जिस देव ने (देवान्) दिव्य पदार्थों को (क्रतुना) कर्म से (पर्यभूषत्) अलंकृत किया है, (यस्य) जिसके (शुष्मात्) बल से (रोदसी) भूमि-आकाश (अभ्यसेताम्) काँपते हैं, (जनासः) हे लोगो (नृम्णस्य) बल की (मह्ना) महिमा से (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

५. (यः) जिसने (व्यथमानाम्) हिलती-डुलती द्रवरूप (पृथिवीम्) भूमि को (अदृंहत्) दृढ़ किया, (यः) जिसने (प्रकुपितान् पर्वतान्) प्रकुपित ज्वालामुख पहाड़ों को (अरम्णात्) रमणीक बनाया, (यः) जिसने (वरीयः) विशालतर (अन्तरिक्षम्) आकाश को (विममे) रचा, (यः) जिसने (द्याम्) द्यौ लोक को (अस्तभ्नात्) थामा, (जनासः) हे मनुष्यो, (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

६. (यस्य प्रदिशि) जिसके शासन में (अश्वासः) घोड़े हैं, (यस्य प्रदिशि) जिसके शासन में (गावः) गौएँ हैं, (यस्य प्रदिशि) जिसके शासन में (विश्वे रथासः) सब रथ हैं; (यः सूर्यम्) जिसने सूर्य को, (यः उषसम्) जिसने उषा को (जजान) पैदा किया है, (यः) जो (अपां नेता) नदियों को आगे-आगे ले जानेवाला है, (जनासः) हे-मनुष्यो, (सः इन्द्रः) वह परमेश्वर है।

□□

प्राणदायिनी वर्षा की फुहार

ग्रीष्म प्रचण्ड हो रहा था। भूमि तवा सी तप रही थी। ताल-सरोवर सूख गये थे। वृक्ष-वनस्पति कुम्हला रहे थे। किसान भूमि को खाली छोड़े हाथ पर हाथ धरे बैठे थे। तापतप्त देश-वासियों के मुखों से पुकार उठ रही थी —

[१]समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।
मह ऋषभस्य नदतो नभस्वतो, वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥

—अथर्व० ४.१५.१

'दिशाएँ उमड़े पड़ें, मानसून से लायी हुई मेघघटायें आकाश में छा जाएँ। गडगड़ाते बादलों की रिमझिम करती हुई वर्षाएँ पृथिवी को तृप्त करें।'

[२]समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवो अपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः॥

—वहीं, मन्त्र २

'दानी बादल अपनी बहार दिखायें। ओषधियाँ रसों से भर जाएँ। वर्षा की धाराओं से भूमि लहलहा उठे। चारों और रंगबिरंगी ओषधियाँ दृष्टिगोचर होने लगें।'

[३]आशामाशां विद्योततां, वाता वान्तु दिशो दिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः, सं यन्तु पृथिवीमनु॥ —वही, मन्त्र ८

'दिशा-दिशा में बिजलियाँ चमकें, दिशा-दिशा में शीतल हवाएँ चलें। वायुओं से प्रच्युत मेघ आ-आकर भूमि पर बरसें।'

कोटि-कोटि कण्ठों से निकली हुई पुकारें सफल हुईं। जल-भरी मानसून पवनें प्रवाहित हो पड़ीं। गगन में घटाएँ उमड़ने लगीं। मानवों की आशाभरी दृष्टि ऊपर उठी। प्रथम वर्षा की फुहार ने भूमि का आलिंगन किया। किसानों ने हल उठाये। बैलों के कन्धों पर जुए सज गये। ट्रैक्टर भूमि में खिलवाड़ करने लगे। खेतों में जुताई आरम्भ हो गई। मक्ई, ज्वार, बाजरा आदि के बीजों ने भूमि की शरण ली। शनैः-शनैः फसलें अंकुरित होकर बढ़ चलीं। एक बार फिर मानवकण्ठ की पुकार सुनायी दी—

[४] महान्तं कोषमुदचा निषिञ्च, स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।
घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि, सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः॥ —ऋ० ५.८३.८

'हे पर्जन्य, अपने विशाल कोश को उठाये-उठाये फिर। उससे भूमि को सिंचित कर दे। चारों ओर नहरें निर्बन्ध होकर प्रवाहित होने लगें। जल से द्यावापृथिवी को आर्द्र कर दे। गाय आदि पशुओं के पीने के लिए चारों ओर पानी ही पानी हो जाए।

देखते-ही-देखते वर्षा की झड़ी लग गयी। प्यासी धरती की तृषा शान्त हुई। खेत पानी से भर गये। वन, उपवन, तरु-गुल्म, गिरि पर्वत सब वर्षा से स्नात हो गये। भूमि पर घास का मखमली गलीचा बिछ गया। सब ओर हरियाली ही हरियाली दिखाई देने लगी। पत्ती-पत्ती प्राण से पुलकित हो उठी। पुष्पित वनस्पतियों से भीनी-भीनी गन्ध उठने लगी। वृष्टि से स्नात हुई ओषधियाँ प्राण से संवाद करने लगीं—'हे वृष्टिजन्य प्राण, तूने हमारी आयु को बढ़ा दिया है, तूने हम सबको सुरभित कर दिया है'—

[५]अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥

—अथर्व० ११.४.६

'जब वर्षा की एक-एक धार के साथ भूमि पर प्राण की वृष्टि होने लगी तब पशुजगत् भी प्रमुदित हो उठा। अहा, अब तो हमारी मौज हो जाएगी, अब तो हम उत्सव मनायेंगे'—

[६]यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत् प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥ —वही, मन्त्र ५

'मेढ़क भी प्रसन्नता को अपने अन्दर सीमित न रख सके। मौनव्रतधारी ब्राह्मणों के समान जो अब तक चुपचाप भूमि के अन्दर सोये पड़े थे, वे अपने आनन्द को टर्र-टर्र की ध्वनि द्वारा व्यक्त करने लगे'—

[७]संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ —ऋ० ७.१०३.१

अब तो किसानों की भी प्रसन्नता का पार नहीं। उनके खेत लहलहाने लगे हैं। वे खेतों में पहुँचकर उनका निरीक्षण कर रहे हैं, और फसल से होनेवाली उत्पत्ति का अनुमान लगाकर मन-ही-मन आनन्दमग्न हो रहे हैं। उनके बालक नग्नवदन हो वर्षा-स्नान का आनन्द लेते हुए उत्सव मना रहे हैं।

हे प्राणदायिनी वर्षा, हम भी तेरा अभिनन्दन करते हैं। तू आ, जैसे तू बाह्य जगत् को जल-धारा से तृप्त कर रही है, वैसे ही हमारे आत्म-जगत् को ब्रह्मानन्द की रसधार से तृप्त कर।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (नभस्वतीः) मानसून हवाओं से युक्त (प्रदिशः) प्रमुख दिशाएँ (समुत्पतन्तु) उमड़ पड़ें। (वाताजूतानि) वायुओं से प्रेरित (अभ्राणि) बादल (सं यन्तु) छा जाएँ। (नदतः) गड़गड़ाते हुए, (नभस्वतः) वायु युक्त (महःऋषभस्य) विशाल बादल की (वाश्राः) रिमझिम शब्द करती हुई (आपः) वर्षाएँ (पृथिवीम्) भूमि को (तर्पयन्तु) तृप्त करें।

२. (सुदानवः) श्रेष्ठ दानी, (तविषाः) बलवान् बादल (समीक्षयन्तु) बहार दिखाएँ।

(अपां रसाः) वर्षाओं के रस (ओषधीभिः) ओषधियों से (सचन्ताम्) समवेत हों। (वर्षस्य) वर्षा की (सर्गाः) फुहारें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) लहलहा दें। (विश्वरूपाः) सब रूपोंवाली (ओषधयः) ओषधियाँ (पृथक्) अलग-अलग (जायन्ताम्) पैदा हो जाएँ।

३. (आशाम्-आशाम्) दिशा-दिशा में (विद्योतताम्) बिजली चमके, (दिश-दिशः) दिशा-दिशा में (वाताः) हवाएँ (वान्तु) चलें। (मरुद्भिः) वायुओं द्वारा (प्रच्युताः) गिरे हुए (मेघाः) बादल (पृथिवीम् अनु) भूमि के साथ (संयन्तु) सम्पर्क करें।

४. हे बादल, तू अपने (महान्तं कोशम्) विशाल कोश को (उदच) उठाए-उठाए फिर, भूमि को (निषिञ्च) सींच दे। (कुल्याः) नहरें (विषिताः) निर्बन्ध होकर (पुरस्तात्) आगे-आगे (स्यन्दन्ताम्) बहें। (घृतेन) वर्षाजल से (द्यावापृथिवी) आकाश-भूमि को (व्युन्धि) गीला कर दे। (अघ्न्याभ्यः) गायों के लिए (सुप्रपाणम्) बहुत पानी (भवतु) हो जाए।

५. (अभिवृष्टाः) वर्षा से नहायी हुई (ओषधयः) ओषधियाँ (प्राणेन) प्राण के साथ (समवादिरन्) मानों संवाद करने लगीं कि हे प्राण, तूने (नः आयुः) हमारी आयु को (प्रातीतरः) बढ़ा दिया है, (सर्वाः नः) हम सबको (सुरभीः) सुरभित (अकः) कर दिया है।

६. (व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) मौनव्रतधारी ब्राह्मणों के समान (संवत्सरम्) वर्षभर (शशयानाः) सोये पड़े हुए (मण्डूकाः) मेढ़क (पर्जन्यजिन्विताम्) बादल से तृप्त की हुई (वाचम्) वाणी को (प्र अवादिषुः) बोलने लगे हैं।

□□

दिव्यता की उड़ान

[१]प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो
निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ — यजु० १.७

एक दिन मेरे मन में विचार आया कि मैं आकाश में उड़ूँ। भूमि पर जन्म लिया, भूमि पर ही समस्त जीवन व्यतीत कर दिया, और अन्त में भमि में ही लीन हो गये, इसमें क्या आनन्द है ? मुझे तो अन्तरिक्ष में उड़ना चाहिए, आकाश-विहार करना चाहिए। फिर अन्तरिक्ष से द्युलोक में और द्युलोक से स्वर्लोक में पहुँचना चाहिए। यह सोच मैंने उड़ने के लिए अपने पंखों को फड़फड़ाया, परन्तु मैंने देखा कि मैं इतना भारी हूँ कि उड़ नहीं सकता। मैं 'रक्षः' और 'अरातयः' के भार से दबा हुआ था।

आप जानना चाहेगें कि ये 'रक्षः' और 'अरातयः' क्या वस्तुएँ है। रक्षः का अर्थ है राक्षस, जिन्हें गीता (१६.४) में आसुरी सम्पत् कहा गया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥

"पाखंड, दर्प, अहंकार, क्रोध, अज्ञान, ये सब आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुष के लक्षण हैं।" एवं ये तथा इसी प्रकार की अन्य राक्षसी वृत्तियाँ 'रक्षः' शब्द से सूचित होती हैं।

'अराति' शब्द 'न' और 'राति' के योग से बना है। राति में दानार्थक 'रा' धातु है, अतः राति का अर्थ दान और अराति का अर्थ अदान होता है। दूसरों को न देने की, लोभ की, कृपणता की, स्वार्थ की प्रवृत्ति ही 'अराति' है।

जब मैंने देखा कि इन 'रक्षः' और 'अरातयः' के व्यर्थ भार से आक्रान्त हुआ मैं उड़ नहीं सकता, तब मैंने इन्हें अपने ऊपर से उतार फेंका, परन्तु कुछ समय मुझसे पृथक् रहने के बाद पुनः ये मेरे पास आ गये। बारम्बार मैं इन्हें उतारकर फेंकता था और बारम्बार ये आकर मुझसे संसक्त हो जाते थे। अन्त में मैंने इन्हें जला डालने का ही उपाय सोचा। और अब प्रसन्नता का विषय है कि मैंने इन्हें दग्ध कर दिया है, पूर्णतः दग्ध कर दिया है। जैसे एक बार समूल दग्ध कर देने के पश्चात् कोई पौधा हरा नहीं हो सकता, वैसे ही ये मेरे अन्दर पनप नहीं सकते।

अब तो मैं अपने-आपको बड़ा हलका अनुभव कर रहा हूँ। अब मैं अपने आत्मा के ज्ञान-कर्मरूप पंखों को खोलकर नितान्त सरलता से उन्नति के आकाश की ओर उड़ान भर सकता हूँ। देखो, मैं विस्तृत आकाश की ओर उड़ चला हूँ— **उर्वन्तरिक्षमन्वेमि, उर्वन्तरिक्षमन्वेमि।**

[2]सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ, हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य, सम्पश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥

—अथर्व० १०.८.१८

मैं हंस बनकर स्वर्गलोक की ओर उड़ा जा रहा हूँ, मेरे पंख खुले हुए हैं। राक्षसों और अरातियों के भार को मैं अपने ऊपर से पहले ही उतार चुका हूँ और अब हलका होने के लिए मैंने दैवी सम्पत् रूपी गुब्बारों को भी छाती से बाँध लिया हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं देवीमभिजातस्य भारत॥

—गीता १६.१-३

निर्भयता, आत्मशुद्धि, ज्ञानयोग की स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरहंकारता, ये गीताप्रोक्त समस्त दिव्य गुण उड़ने में मेरे सहायक हो रहे हैं। अहा, बड़ी प्रसन्नता का विषय है—

[3]पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहम् अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

—यजु० १७.६७

एक दिन था, जब मैं नीचे भूमि पर खड़ा हुआ था। तब निस्सन्देह राक्षसों के आघात-प्रतिघात से मैं विचलित हो सकता था, किन्तु आज मेरी वह अवस्था नहीं है; मैं ऊँचा उठ गया हूँ— "भूमि से अन्तरिक्ष में, और अन्तरिक्ष से भी उठकर द्युलोक में पहुँच चुका हूँ। इन उन्नति की सीढ़ियों को क्रमशः पार कर मैं उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो गया हूँ। मैंने स्वर्गिक ज्योति के दर्शन कर लिए हैं, स्वर्गिक ज्योति के दर्शन कर लिये हैं।"

पाद टिप्पणियाँ—

१. (रक्षः) राक्षसों को (प्रत्युष्टम्) दग्ध कर दिया गया है, (अरातयः) अराति (प्रत्युष्टाः) दग्ध कर दिये गये हैं। (रक्षः) राक्षसों को (निष्टप्तम्) पूर्णतः दग्ध कर दिया है। (अरातयः) अरातियों को (निष्टप्ताः) पूर्णतः दग्ध कर दिया गया

है। अब तो मैं (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल आकाश की ओर (अन्वेमि) उड़ रहा हूँ।

२. (स्वर्गं पततः) स्वर्ग की ओर उड़ते हुए (हरेः हंसस्य) इस उड़ाकू हंस के (पक्षौ) दोनों पंख (सहस्राह्ण्यं) सहस्र दिनों के लिए (वियतौ) फैल गये हैं। (सः) वह (सर्वान् देवान्) सब देवों को (उरसि उपदद्य) छाती से बाँधकर (विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्) सब भुवनों को देखता हुआ (याति) उड़ रहा है।

३. (पृथिव्याः) पृथिवी से (अहम्) मैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (आरुहम्) चढ़ गया हूँ। (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (दिवम्) द्युलोक में (आरुहम्) चढ़ गया हूँ। (नाकस्य पृष्ठात् दिवः) नाक-पृष्ठ द्युलोक से उठकर (अहम्) मैंने (स्वर्ज्योतिः अगाम्) स्वर्ज्योति को पा लिया है।

❑❑

शकुनि के प्रति

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के दो सूक्त (४२ और ४३) शकुनि को सम्बोधित किये गये हैं। इनमें पाँच बार सम्बोधन में 'शकुने' शब्द आया है। दो बार 'शकुनि' के स्थान पर 'शकुन्ति' शब्द आया है। 'शकुनि' और 'शकुन्ति' शब्द सामान्यत: पक्षी के वाचक होते हैं। पक्षी को 'शकुनि' वा 'शकुन्ति' इस कारण कहते हैं कि वह स्वयं को आकाश में उड़ाने में समर्थ होता है—**शक्नोति उन्नेतुम् आत्मानम्**।[1] कात्यायन कृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' में लिखा है कि इन दोनों सूक्तों द्वारा ऋषि ने मार्ग में बोलते हुए पक्षी की स्तुति की है।[2] यह पक्षी कौन सा है? भाष्यकारों ने इसे कपिञ्जल पक्षी बताया है। ऋग्वेद के परिशिष्ट में उपर्युक्त सूक्तों के पश्चात् एक अन्य सूक्त पठित है, जिसमें 'कपिञ्जल' शब्द भी आता है।[3] सायण ने आश्वलायन गृह्यसूत्र के प्रमाण से इन सूक्तों का विनियोग लिखा है कि पक्षियों की अरमणीय वाणी सुनायी दे तो इन सूक्तों का जप करे।[4] सायण-भाष्य में इन सूक्तों का देवता 'कपिञ्जलरूपी इन्द्र' कहा गया है। अन्यों ने भी प्राय: यही देवता माना है। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुत: यहाँ किसी पक्षी वा कपिञ्जल की स्तुति नहीं है, अपितु पक्षी के बहाने से इन्द्र की स्तुति है। अलंकारशास्त्र की दृष्टि से यहाँ अन्योक्ति या अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है। इसी को दयानन्द ने वाचकलुप्तोपमा अलंकार कहा है। उन्होंने 'कपिञ्जल: इव इन्द्र:' (अर्थात् कपिञ्जलसमान इन्द्र) देवता लिखकर उक्त तथ्य को और स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार यहाँ 'इन्द्र' विद्वान् उपदेशक है और इन सूक्तों में पक्षी के उपमान से विद्वान् उपदेशक के गुणों का वर्णन है, उसे उद्बोधन दिया गया है। मन्त्रागत 'शकुनि' का अर्थ भी वे 'पक्षिवत् विद्यमान शक्तिशाली विद्वान्' करते हैं। जैसे पक्षी उड़ने आदि क्रियाएँ करने में समर्थ होता है वैसे विद्वान् उपदेशक लोगों को श्रेष्ठ ज्ञान देने एवं सदाचार में प्रवृत्त करने में समर्थ होता है। इस प्रकार, वे ज्ञानी, सदाचारी महापुरुष यहाँ शकुनि, शकुन्ति, कपिञ्जल वा इन्द्र हैं जो अपनी प्रभावमयी सत्यवाणी से ज्ञान-विज्ञान के मधुर स्वर का निनाद करते हुए जगत् को सन्मार्ग दर्शाते हैं।

इतनी भूमिका के पश्चात् आगे ऋग्वेद के एक शकुनि-सूक्त २.४२ के मन्त्रों की क्रमशः व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है, जिसमें केवल तीन मन्त्र हैं। प्रथम पक्षीपरक भाव देकर तदनन्तर उपदेशक के पक्ष में घटाया गया है-

[5]कनिक्रदज्जनुषं प्र-ब्रुवाण, इयर्ति वाचम् अरितेव नावम्।
सु-मङ्गलश्च शकुने भवासि,
मा त्वा काचिद् अभिभा विश्व्या विदत्॥ १॥

हे शकुनि, हे पक्षी, तू अपनी जिह्वा को प्रेरित करके मधुरवाणी में कूजन करता हुआ, मानो, जन्मधारी मनुष्यों को मधुर भाषण दे रहा है। हे प्यारे पक्षी, अपने

सुरीले कंठ से हमारे लिए सदा ही मंगलप्रद हो। तू आनन्द से वृक्ष की शाखा पर बैठा हुआ कल-कूजन करता रह, कहीं से भी कोई संकट तुझे प्राप्त न हो।

हे गुरु, हे आचार्य, हे उपदेशक, हे संन्यासिन्, आप शकुनि हैं। आप सत् शास्त्रों के उपदेश में अपनी जिह्वा को वैसे ही प्रेरित करते हैं जैसे नाविक चप्पुओं से चलायीजाने वाली नाव को प्रेरित करता है। नाविक के चप्पुओं से चलाई जानेवाली नाव यात्रियों को नदी के पार पहुँचा देती है। उसी प्रकार आपकी जिह्वा से उच्चारण किए जानेवाले शब्द श्रोता का कायापलट कर देते हैं। हे शकुनि, हे सशक्त-वाणी वाले, अपनी सशक्त वाणी से उपदेश करते हुए आप सदा ही हमारे लिए कल्याण बरसाते रहें। आपकी सत्य वाणी से जिनके कुचक्रों का भण्डाफोड़ होगा वे दुर्जन आपको सत्य कहने से विचलित करना चाहेंगे, आपके मार्ग में काँटे बिछायेंगे, आपको तरह-तरह के कष्ट देना चाहेंगे, किन्तु आप उनसे किंचिन्मात्र भयाक्रान्त न हों। विश्वव्यापी बड़े-से-बड़ा अभिभव भी आपको भय से उद्वेलित न कर सके। आप अपने सत्य के व्रत से कभी प्रच्युत न हों। आप नास्तिकों के कुतर्कों का खण्डन करने से भी कभी विरत न हों। आप धर्मकार्यों के प्रचार से कभी विमुख न हों।

[६]मा त्वा श्येन उद् वधीन् मा सुपर्णो, मा त्वा विददिषुमान् वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्, सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह॥ २॥

हे शकुनि, हे तरु की डाल पर बैठे हुए सुन्दर पक्षी, सावधान रह, तुझे कहीं बाज झपटकर न ले जाये, कहीं गरुड़ तेरा सफाया न कर दे, कहीं बाणधारी कोई वीर धनुर्धर व्याध अपने बाण से घायल करके तुझे अपनी झोली के हवाले न कर ले। तू अपने माता-पिता से प्राप्त बोली के अनुरूप कूजन करता हुआ, सुमंगलदायी और भद्रवादी होता हुआ बोलता रह और हमें तृप्ति प्रदान करता रह।

हे गुरुवर, हे वन्दनीय आचार्य, हे उपदेशक, हे संन्यासिप्रवर, आप 'शकुनि' हैं, वेदादि सच्छास्त्रों के उपदेश में समर्थ हैं, सदाचार के शिक्षण में शक्त हैं। जैसे मनोहर शब्द करते हुए पक्षी की ताक में बाज और गरुड़ बैठे रहते हैं और धनुर्धर व्याध उन्हें अपने तीर का निशाना बनाने का अवसर देखते रहते हैं, वैसे ही मर्यादाओं का उपदेश करते हुए आपको भी बाज और गरुड़ के समान अधिक बलशाली राक्षस-वृत्ति लोग, अपने शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित शत्रुजन हानि पहुँचाने की ताक लगाए रहते हैं। आप अपने सुलझे हुए तर्कों से शत्रु के कुतर्कों को खण्डित कीजिए। आप अपने ब्रह्मतेज से शत्रु के अपवित्र इरादों को पवित्र इरादों में परिवर्तित कीजिए। आप अपने सत्य के प्रभाव से असत्यमार्गगामी विरोधियों को परास्त कीजिए। आपके पितृजनों ने, आपके ज्ञानवृद्धों और वयोवृद्धों ने, आपके गुरुजनों ने जो दिशा निर्दिष्ट की है, तदनुसार आप संसार में असत्य, अन्याय, अत्याचार, अज्ञान आदि के विरोध में आवाज उठाते हुए बोलते रहें; भद्र भाषण करते रहें।

[७]अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां, सु मङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते!
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो, बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥ ३॥

हे शकुनि, हे पक्षी, तू हम सब गृहवासियों के लिए सुमंगलकारी है, क्योंकि तू भद्रबोलनेवाला हे। तेरी भद्र ध्वनि हमारे अन्त:करण में शान्ति का संचार करती है। तेरा मधुर कूजन हमारे मानस में जागरण का संदेश देता है। तेरे स्वर में हमें ओंकार का गीत सुनाई देता है। तेरे स्वरों में हमें प्रभुभक्ति की स्वरलहरी सुनाई देती है। तेरे स्वर में हमें उद्‌गाता का सामगान सुनाई देता है, अत: तू हमारे अनुकूल होकर हमें अपने मनोहर गान सुनाए चला जा।

हे विद्वन्, हे विद्याप्रचारक, हे उपदेशकप्रवर, आप 'शकुन्ति' हैं। ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में आप उड़ान भरनेवाले हैं। अपने सदुपदेश से आप दानव को देव बनाने में समर्थ हैं। अशान्ति के सन्ताप में दग्ध होते हुए जनों को दिव्य शान्ति की छाया प्रदान करने में समर्थ हैं। अपने उपदेशामृत का पान कराकर अमंगल से त्रस्त मानव को सुमंगल का अनुपम वर प्रदान करने में आप समर्थ हैं। आप 'भद्रवादी' हैं। आपके वचनों में कल्याण का झरना बहता है। आपके वचन संसार में अभद्रता का विनाश कर भद्रता का सन्देश मुखरित करनेवाले हैं, अत: हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि अपने दिव्य वचनों का स्वर सदा ही आप गुँजाते रहें, परिव्राट् बनकर राष्ट्र के कोने-कोने में अपना जागृति का सन्देश आप प्रसारित करते रहें।

हे राष्ट्रकोविद, अपनी अनुपम वाणी के द्वारा राष्ट्र के वातावरण को आप ऐसा बना दें कि राष्ट्र में चोरों का बोलबाला न हो, तस्कर-व्यापारी, घूसखोर, डकैत, लुटेरे आदि राष्ट्र में न पनपें। साथ ही 'अघशंसों' के चंगुल से भी आप हमें बचाएँ। जो लोग पाप की कमाई का चित्र खींच-खींचकर हमें पाप-कर्मों की ओर प्रलोभित करते हैं, उनके पापमय परामर्श से आप हमारी रक्षा कीजिए। हमें आप अपनी वाणी से ऐसा चरित्र-बल का पाठ पढाइए कि हम पाप-प्रशंसकों की लुभावनी बातों की ओर आकृष्ट न होकर निष्पाप जीवन को ही आदर्श मानते रहें।

हे विद्वत्प्रवर, आप हमारे अन्दर जागरण का ऐसा मन्त्र फूँक दीजिए कि अपने वीर पुत्र-पुत्रियों सहित हम जीवन-यज्ञ में और संसार के समरांगण में सदा महान् वचनों को ही बोलें, महत्त्वाकांक्षाओं को ही प्रकट करें, महत्ता के नाद को ही गुँजाएँ। आपके सदुपदेश से सब क्षुद्रताएँ हमारे बीच से सदा के लिए विलुप्त हो जाएँ।

हे शकुनि, हे ज्ञान और कर्म के पंखों से ऊँची उड़ान भरनेवाले सुधी विद्वन्, आप हमें भी उच्च उड़ानों में समर्थ बनाइए।

पाद टिप्पणियाँ—

१. उणादि ३.४९ द्वारा शक्लृ शक्तौ धातु से उन और उन्ति प्रत्यय। इसी सूत्र से उन्त प्रत्यय करने पर 'शकुन्त' शब्द बनता है।

२. एताभ्याम् ऋषिरध्वनि वाश्यमानं शकुन्तं तुष्टाव।

३. भद्रं पुरस्तान्नो वद, भद्रं पश्चात् कपिञ्जल।

४. वयसाम् अमनोज्ञा वाचः श्रुत्वा 'कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण' इति सूक्तं जपेत्। ३.१०.९

५ (कनिक्रदत्) अत्यधिक बोलता हुआ, (जनुषम् प्र-ब्रुवाणः) जन्मधारी को उपदेश देता हुआ यह शकुनि (वाचम्) वाणी को (इयर्ति) प्रेरित कर रहा है, (अरिता-इव) जैसे नाविक (नावम्) नौका को प्रेरित करता है। (त्वा) तुझे (का चित्) कोई (विश्व्या) विश्वव्यापी (अभि-भा) अभि-भव (मा) मत (विदत्) प्राप्त हो।

६. हे शकुनि, (त्वा) तुझे (श्येनः) श्येन (मा) मत (उद् वधीत्) झपट ले, (मा) न (सु-पर्णः) सुपर्ण। (मा) न (त्वा) तुझे (इषुमान्) बाणधारी (वीरः) वीर (अस्ता) धनुर्धर (विदत्) पकड़े। (पित्र्याम् प्र-दिशम् अनु) माता-पिता से प्राप्त बोली के अनुसार अथवा पितृजनों से निर्दिष्ट दिशा में (इह) यहाँ (कनिक्रदत्) कूजन करता हुआ, उपदेश देता हुआ (सु-मंगलः) सु-मंगलकारी होता हुआ (भद्रवादी) भद्र बोलनेवाला (वद) तू बोल।

७. (शुकन्ते) हे शकुन्ति, (गृहाणाम्) गृहवासियों का (सु-मंगलः) सुःमंगलकारी और (भद्र-वादी) भद्र बोलने वाला (दक्षिणतः) अनुकूल रूप से (अव क्रन्द) तू बोल। (मा) न (नः) हमें (स्तेनः) चोर (ईशत) वश में करे, (मा) न (अघशंसः) पाप-प्रशंसक। (विदथे) यज्ञ वा संग्राम में (बृहत्) महान् वचन को (सु-वीराः) श्रेष्ठवीरोंवाले (वदेम) हम बोलें।

□□

वैश्वानर

वेदों में 'वैश्वानर' शब्द अग्नि के साथ सम्बद्ध होकर ही आया है। वैश्वानर वेदों में लगभग साठ वार प्रयुक्त हुआ है। कहीं यह पूरे सूक्त के देवता के रूप में है, कहीं सम्पूर्ण सूक्त का देवता न होकर कतिपय फुटकर मन्त्रों का देवता है। इस का वर्णन १५ सूक्तों में मिलता है। वैश्वानर सबका नेता, सदा जागरूक, जागृति देनेवाला, द्यावापृथिवी एवं बाह्य तथा शरीरस्थ देवों को नियन्त्रित करनेवाला, सबको एक सूत्र में बाँधनेवाला, क्षात्रबल और ब्राह्मबल का जनक एवं यज्ञ की नाभि है।

उपनिषद् का एक प्रसंग

छान्दोग्य उपनिषद् (५.११-१८) की कथा है कि एक बार पाँच जिज्ञासु वैश्वानर आत्मा का स्वरूप जानने के लिए उद्दालक आरुणि के पास पहुँचे। उद्दालक ने उन्हें राजा अश्वपति कैकेय का परिचय देते हुए कहा कि उन्होंने वैश्वानर का अध्ययन किया हुआ है, चलो मैं भी तुम्हारे साथ जिज्ञासु बनकर चलता हूँ, उनके सम्मुख हम अपनी जिज्ञासा रखेंगे। जब वे अश्वपति कैकेय के पास पहुँचे तब उसने पहले उन्हीं से बारी-बारी पूछा कि अब तक तुम किसे वैश्वानर समझते रहे हो ? उनमें से ओपमन्वय बोला कि हे राजन्! मैं द्यु-लोक को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासता हूँ। अश्वपति ने कहा कि—ठीक है, परन्तु द्युलोक तो वैश्वानर आत्मा का एक अंग है, इसका नाम सुतेजा वैश्वानर हैं, यह वैश्वानर आत्मा का मूर्धा है। दूसरे जिज्ञासु सत्ययज्ञ पौलुषि ने कहा कि मैं आदित्य को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासता हूँ। अश्वपति बोले—ठीक है, परन्तु आदित्य भी वैश्वानर आत्मा का एक अंग हैं, इसका नाम विश्वरूप वैश्वानर है, यह वैश्वानर आत्मा का चक्षु है। तीसरे जिज्ञासु इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय ने कहा कि मैं वायु को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासता हूँ। अश्वपति बोले—ठीक है, परन्तु वायु भी वैश्वानर आत्मा का एक अंग है, इसका नाम पृथग्वर्त्मा वैश्वानर है, यह वैश्वानर आत्मा का प्राण है। चौथे जिज्ञासु 'जन शार्कराक्ष्य' ने कहा कि मैं आकाश को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासता हूँ। अश्वपति बोले—ठीक है, परन्तु आकाश भी वैश्वानर आत्मा का एक अंग है, इसका नाम 'बहुल' वैश्वानर है, यह वैश्वानर आत्मा का धड़ है। पाँचवें जिज्ञासु वुडिल ने कहा कि मैं जलों को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासता हूँ। अश्वपति बोले-ठीक है, परन्तु जल भी वैश्वानर आत्मा के अंग हैं, इनका नाम 'रयि' वैश्वानर है, ये वैश्वानर आत्मा की बस्ती हैं। छठे उद्दालक ने, जो उन पाँचों जिज्ञासुओं के साथ स्वयं भी जिज्ञासु बन गया था, कहा कि मैं पृथिवी को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासता हूँ। अश्वपति बोले ठीक है, परन्तु पृथिवी भी वैश्वानर आत्मा कका एक अंग है, इसका नाम 'प्रतिष्ठा' है, यह वैश्वानर

आत्मा के पैर हैं।

अन्त में अष्वपति कैकेय ने उन्हें समझाया कि तुम जिन पृथक्-पृथक् वस्तुओं को वैश्वानर आत्मा के रूप में उपासते रहे हो वे वैश्वानर आत्मा के अभिन्न अंग है, जो मिलकर वैश्वानर आत्मा का शरीर बनाते हैं, जिस शरीर में शरीरी होकर वह व्याप्त है। बड़ा वैश्वानर परब्रह्म है, छोटा वैश्वानर जीवात्मा है। छोटे वैश्वानर को स्वयं को तथा अपने शरीरस्थ अंगों को बड़े वैश्वानर तथा उसके अंगों से एकाकार करना होता हैं।

निरुक्त में वैश्वानर-विचार

यास्कीय निरुक्त में वैश्वानर का निर्वचन करते हुए लिखा है—''**विश्वान् नरान् नयति, विश्वे एनं नरा नयन्तीति वा। अपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः** निरू ७.२१। अर्थात् जो सब नरों को ले जाता है, उनका नायक बनता है, या सब नर जिसे यज्ञादि में या अपने हृदय में ले-जाते हैं, वह वैश्वानर है। यहाँ विश्व-नर से अण् प्रत्यय होगा। अथवा जो सबके प्रति गया हुआ है, सबमें व्याप्त है विश्वान्-अरः वह वैश्वानर हे। इस निर्वचन मं 'अरः' ऋ गतौ धातु से अच् प्रत्यय करके बनेगा।

उक्त निर्वचन देने के पश्चात् निरुक्तकार यह प्रश्न उठाते है कि वेद में वैश्वानर कौन है? प्रथम पक्ष उन्होंने यह दिया है कि कुछ आचार्य मध्यम-स्थानीय अग्नि (विद्युत्) को वैश्वानर मानते है। प्रमाणस्वरूप उन आचार्यों का कथन है कि ऋग्वेद में यह कहा है कि वैश्वानर अग्नि अन्तरिक्षस्थ जलों को कँपाकर बरसाता है—**वैश्वानारो दस्युमग्निर्जघन्वान् अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्** (ऋ० १.५९.६)। द्वितीय पक्ष प्राचीन याज्ञिकों का है, जो आदित्य को वैनाश्वर मानते हैं। ये लोग **दिवि पृष्टो अरोचत** (यजु० ३३.९२), **वैश्वानरं केतुमह्नाम् अकृण्वन्** (ऋ० १०.८७.१२) आदि वैदिक प्रमाण उद्घृत करते हैं। तृतीय मत शाकपूणि आचार्य का है, जो पार्थिव अग्नि को वैश्वानर मानते हैं। उनकी युक्ति है कि वैश्वानर का अर्थ है विश्वानर की सन्तान और विश्वानर सुर्य या विद्युत् का नाम है, एवं पार्थिव अग्नि ही सूर्य या विद्युत् से उत्पाद्य होने के कारण वैश्वानर होना चाहिए। वैश्वानर सूर्य से मिलने का यत्न करता है—**वैश्वानरो यतते सूर्येण** (ऋ० १.९८.१)—यह कथन भी पार्थिव अग्नि को ही वैश्वानर सिद्ध करता है। पृथिवी से अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठती हैं, ऊपर से सूर्य की किरणें नीचे की ओर आती हैं, बीच में दोनों का संगम होता देख वैदिक कवि ने उक्त वर्णन किया है।

निरुक्तकार ने अन्त में स्वमत यह दिया है कि वस्तुतः तीनों ही अग्नियों को वैश्वानर कहते है, परन्तु वेद में सूक्तभाक् के रूप में जिस वैश्वानर का वर्णन है तथा जिस वैश्वानर को यज्ञ में हवि दी जाती है, वह यह पार्थिव अग्नि ही है। तीनों ही अग्नियाँ वैश्वानर हैं इसकी पुष्टि में हविष्पान्तीय सूक्त का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है, जिसमें कहा गया है कि वैश्वानर रात्रि में भू-लोक का मूर्धा अर्थात् पार्थिव अग्नि हो जाता है, प्रातः वह सूर्यरूप में उदित होता है और वही अन्तरिक्षस्थ

जलों में भी विचरण करता है—

[१]मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निः, ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेताम्, अपो यत् तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥

—ऋ० १०.८८.६

वैश्वानर ब्रह्म

वेद में विराट् परमात्मा का भी नाम वैश्वानर है। सब नरों का नेता होने से और सब नरों का हितकारी (विश्वेभ्यो नृभ्यो हितः) होने से वह वैश्वानर कहाता है। उसका वर्णन करते हुए वेद कहता है कि उस सुकर्तृत्ववाले वैश्वानर ने विभिन्न लोकों का निर्माण किया है, आकाश में चमकीले पिंडों का निर्माण किया है, समस्त भुवनों को विस्तीर्ण और यश से प्रख्यात किया है, वह अपराजेय, गोप्ता और अमृतत्व का रक्षक है—

[२]वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्, वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे, अदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता॥

—ऋ० ६.७.७

वैश्वानर आत्मा

शरीर में जीवात्मा वैश्वानर है। ऋग्वेद ६.९ में स्तोता यह उद्‌गार प्रकट कर रहा है कि वैश्वानर राजा के अन्धकार-निमग्न हो जाने से मेरे सम्मुख काला दिन छा गया है। न मेरे कान साथ दे रहे हैं, न आँखें साथ दे रही हैं, मन चिंता ग्रस्त हो रहा है, हृदय में निहित ज्योति बुझ गई है। इस स्थिति में भला क्या बोलूँ, क्या मनन करूँ?

[३]वि में कर्णा पतयतो वि चक्षुर्, वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि में मनश्चरति दूर आधीः, किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

—मन्त्र ६

अन्त में वह वैश्वानर ज्योति को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि हे देव, तुम्हारे तमसाच्छन्न हो जाने पर शरीर के मन, बुद्धि, इन्द्रियादि सब देव भयभीत होकर तुम्हें नमन कर रहे है और बार-बार यह प्रार्थना कर रहे हैं कि वैश्वानर आत्मा हमारी रक्षा करे, हमारी रक्षा करे—

[४]विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्, त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम्।
वैश्वानरोऽवतूतये नो, अमर्त्योऽवतूतये नः। —मन्त्र ७

राष्ट्र का राजा वैश्वानर

वैदिक साहित्य में राष्ट्र एवं राष्ट्र के राजा को भी वैश्वानर कहा गया हैं यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में लिखा है—**राष्ट्रं वै वैश्वानरः** (५.४.७.७)। ऋग्वेद के एक वर्णन के अनुसार वैश्वानर मनुष्यों का राजा है, जो असुरों को

संग्राम में पराजित कर देवजनों को सत्कार देता है—

[५]राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां।
युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥

—ऋ० १.५९.५

अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में राष्ट्रीय भावना को वैश्वानर अग्नि नाम देते हुए लिखा है कि वैश्वानर अग्नि को धारण करती हुई राज-श्रेष्ठा राष्ट्रभूमि हमें धन, बल प्रदान करती रहे—

[६]वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्।
इन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥

—अथर्व १२.१.६

उपसंहार

उपर्युक्त वाच्यार्थों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में प्राण, संवत्सर आदि को भी वैश्वानर कहा गया है। जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है कि प्राण पूर्व-वैश्वानर है, अपान उत्तर-वैश्वानर है—**प्राणो वै पूर्वो वैश्वानरोऽपान उत्तरः** (जै० ३.८)। संवत्सर ही अग्नि वैश्वानर है—**अग्निर्वा एष वैश्वानरो यत् संवत्सरः** (जै० २.३७९)। ऋग्वेद (३.२६.२) में इसे मातरिश्वा नाम से भी स्मरण किया है।

साररूप में कहें तो वैश्बानर वह सूत्र है जो सबके अन्दर गया हुआ है, सबको अपने में ओत-प्रोत करके स्थित है। वैश्वानर वह है जो सबका नेतृत्व करता है, सबको अपने पीछे चलाता है। चाहे प्राण हो, चाहे परमात्मा या जीवात्मा हो, चाहे अग्नि, विद्युत् या सूर्य हो, सबमें ये लक्षण घटित होते हैं। प्रत्येक क्षेत्र का जो अग्रणी है, वह उस क्षेत्र का वैश्वानर है, जिसके अभाव में हमारी स्थिति सूत्र-विहीन मणकों के समान और नायक-विहीन प्रजा के समान हो जाती है।

वैश्वानर से सूचित होनेवाले नेतृत्व, अग्रगामिता, तेजस्विता, जागृति आदि के गुणों की आज सर्वत्र आवश्यकता है। आज का युग पुकार रहा है कि हम अपने अन्दर वैश्वानर ज्योति को जागृत करें, राष्ट्र की वैश्वानर ज्योति को भी सजग करें। स्वयं भी हम वैश्वानर बनकर अन्यों का नेतृत्व करें। वैश्वानर बनकर दिव्यता का शंखनाद करते हुए, हृदयों में वैश्वानर ज्योति को धारण करते हुए हाथों में वैश्वानर 'ओ३म्' की पताका लिये हुए आगे बढ़ते चलें।

पाद टिप्पणियाँ—

१. (नक्तम्) रात्रि में (अग्निः) अग्नि (भुवः) भूमि का (मूर्धा) मस्तक (भवति) होता है, (ततः) उसके बाद (प्रातः) प्रातःकाल में (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (जायते) हो जाता है। (यज्ञियानाम्) संगति करने योग्य देवों की

(एताम् उ) इस (मायाम् तु) माया को जानो (यत्) कि वही अग्नि (प्रजानन्) मानो ज्ञानवान् होता हुआ (अपः चरति) [विद्युत् के रूप में] मेघजलों में भी विचरता है।

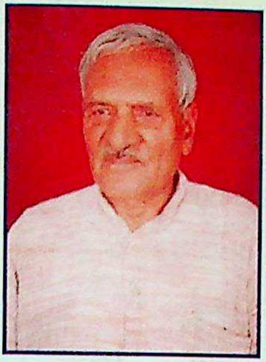
२. (यः सुक्रतुः) जिस सुकर्मा (वैश्वानरः) वैश्वानर प्रभु ने (रजांसि) लोकों को (वि अमिमीत) बनाया है, (कविः) जिस कवि परमात्मा ने (दिवः) द्यौ-लोक के (रोचना) सूर्य, नक्षत्र आदि चमकीले पिंडों को (वि अमिमीत) बनाया है, और (यः) जिस (अदब्धः) अपराजित, (गोपाः) पालनकर्ता, (अमृतस्य रक्षिता) अमरता के रक्षक परमात्मा ने (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (परि पप्रथे) चारों ओर फैलाया है।

३-४. इन दोनों मन्त्रों का अर्थ द्रष्टव्य—निबन्ध-संख्या ४ में।

५ हे वैश्वानर, तू (मानुषीणां कृष्टीनाम्) मानव-प्रजाओं का (राजा) राजा है, (युधा) युद्ध द्वारा (देवेभ्यः) विद्वानों के लिए (वरिवः) विजय-सत्कार (चकर्थ) करता है।

६. (इन्द्रऋषभा भूमिः) राजा है श्रेष्ठ जिसमें ऐसी राष्ट्रभूमि (वैश्वानरम् अग्निम्) राष्ट्रीयतारूप वैश्वानर अग्नि को (बिभ्रती) धारण करती हुई (नः) हमें (द्रविणे) धन और बल में (दधातु) स्थापित करे।

□□□



डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार वैदिक साहित्य के ख्याति-प्राप्त मर्मज्ञ विद्वान् हैं । आपका जन्म ७ जुलाई १९१४ को फरीदपुर, बरेली, (उ०प्र०) में माता श्रीमती भगवती देवी एवं पिता श्री गोपालराम के घर हुआ । शिक्षा गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में हुई । इसी संस्था में ३८ वर्ष वेद-वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्य आदि विषयों के शिक्षक एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष रहते हुए समय-समय पर आप कुलसचिव तथा आचार्य एवं उपकुलपति का कार्य भी करते रहे । इस संस्था ने आपको विद्यामार्तण्ड की मानद् उपाधि से भी सम्मानित किया । आपने आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० तथा पी-एच०डी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं । आपका पी-एच०डी० का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' है, जो प्रकाशित है। १९७६ में आप गुरुकुल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर तीन वर्ष के लिए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में **'महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ'** के **प्रथम आचार्य एवं अध्यक्ष नियुक्त हुए** । वहाँ से आपके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार, वैदिक शब्दार्थ विचारः। आप द्वारा लिखित अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—**वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, वैदिक मधुवृष्टि, आर्ष ज्योति, ऋग्वेद-ज्योति तथा सामवेद का संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य** । वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में आप कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं, जिनमें आर्यसमाज सान्ताक्रूज मुम्बई का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान का विशिष्ट संस्कृत पुरस्कार, महामहिम राष्ट्पति द्वारा सम्मान तथा भारतीय विद्याभवन बैंगलूर का गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुस्कार प्रमुख हैं।

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी ०११-६५८४५५११, ९३१३७८४२७२